श्री ज्ञानेश्वर-चरित्र

और

ग्रन्थाविवेचन
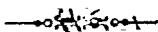
ज्ञानेशो भगवान्विष्णुर्निवृत्तिर्भगवान्हरः ।
सोपानो भगवान्ब्रह्मा मुक्ताख्या ब्रह्मचित्कला ॥

लेखक

लक्ष्मण रामचन्द्र पांगारकर बी० ए०

'मुमुक्षु'-सम्पादक

भाषान्तरकार

लक्ष्मण नारायण गर्दे

मुद्रक तथा प्रकाशक
घनश्यामदास
गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० १९९० प्रथम संस्करण ३२५०

मूल्य-
॥।-) तेरह आना

मिलनेका पत
गीताप्रेस,

श्रीहरिः

विषय-सूची

विषय पृष्ठ-संख्या

प्रस्तावना

श्रीज्ञानेश्वर महाराजका यह चरित्र और ग्रन्थविवेचन श्रीएकनाथ-चरित्रके पन्द्रह महीने बाद आज पाठकोंके सामने प्रेम और आदरके साथ उपस्थित कर रहा हूँ। ज्ञानेश्वर महाराज महाराष्ट्रके भक्तिमार्गके आद्य प्रवर्तक हैं, अद्वैत और भक्ति अथवा निर्गुण और सगुणका ऐक्य प्रतिपादन करनेवाले भागवत धर्मके प्रमुख संस्थापक हैं। एकनाथ, तुकाराम आदि पश्चात्कालीन सब भक्तोंके ही नहीं, अखिल महाराष्ट्रके वह धर्म-गुरु हैं। महाराष्ट्र तथा मराठी भाषापर उनके सबसे अधिक शाश्वत और अनगिनत उपकार हैं। उनका दिव्य चरित्र अनेक कवियोंने गाया है। सहस्रों भक्तोंने उनका गुण-कीर्तन किया है। उनके उपदेशसे सहस्रों जीव कृतार्थ हुए हैं। उनके ग्रन्थ और उनका नाम ही भवार्णव पार करानेवाली अभङ्ग नौका है। महाराजके उपलब्ध और अनुपलब्ध अनेक चरित्र हैं। छपे हुए चरित्रोंमें हरि-भक्ति-परायण श्रीभिङ्गारकर बोवाका लिखा हुआ एक चरित्र तथा केसरीमें प्रकाशित काल-निर्णय-सम्बन्धी उनका उत्तम निबन्ध, तत्त्व-विवेचक छापखानेसे प्रकाशित निबन्ध, नासिकके श्रीपारखकृत अल्प चरित्र आदि ग्रन्थ लोगोंके परिचित ही हैं। मुख्यतः नामदेवरायके 'आदि, समाधि और तीर्थावलि' वाले अभङ्ग, महीपतिबाबाके सन्त-चरित्र, निरञ्जनमाधवकृत 'ज्ञानेश्वरविजय', भिङ्गारकर बोवाके उपर्युक्त दोनों ग्रन्थ, स्वयं ज्ञानेश्वर महाराजके ग्रन्थ तथा महाराजके सम्बन्धमें साधु-

सन्तोंकी उक्तियाँ इत्यादिसे सहायता लेकर मैंने यह ग्रन्थ तैयार किया है। चरित्र और ग्रन्थविवेचन दोनों एक साथ होनेसे, मुझे यह आशा है कि, यह ग्रन्थ सब सन्त-सज्जनोंको स्वीकार होगा। प्रार्थना यह है कि, इसमें जो 'कमी रह गयी हो वह पूरी' कर लें।

मेरी इस सन्त-चरित्र-मालाका क्या रुख रहेगा? इसका विवेचन मैं श्रीएकनाथ-चरित्रकी प्रस्तावनामें कर चुका हूँ। 'सन्तों-का चरित्रकार साम्प्रदायिक भक्त, काव्य-मर्मज्ञ, रसिक और इति-हासज्ञ चिकित्सक होना चाहिये।' इस बातको ध्यानमें रखते हुए 'हरि, हरिभक्त और हरिनामके प्रति अपना और अपने पाठकोंका प्रेम और आदर बढ़े, सन्त चरित्रोंके दर्पणमें हम अपने निज रूप निहार सकें और तुकाराम महाराजके शब्दोंमें एक दूसरेकी सहायता कर सभी सुपन्थ धरें और श्रीहरि-प्रेमके पात्र हों', इसी मुख्य हेतुसे यह सन्त-चरित्र-माला तैयार की जा रही है। इस चरित्रके पश्चात् श्रीतुकाराम, श्रीनामदेव, श्रीरामदास, श्रीकृष्ण, श्रीराम-के चरित्र क्रमसे महाराष्ट्रकी सेवामें सादर उपस्थित किये जायँगे

अब इस ग्रन्थमें कहाँ, कैसे किस विषयका निरूपण किया गया है, इसका संक्षेपमें दिग्दर्शन कराता हूँ। पहला अध्याय 'श्रीज्ञाने-श्वरकालीन महाराष्ट्र है। इसमें महाराजके समयमें महाराष्ट्रकी राजनीतिक, साहित्यिक और धार्मिक परिस्थिति क्या थी, इसका इतिहासकी दृष्टिसे विवेचन किया है। देवगिरिके जाधव-राजा, भास्कराचार्य, हेमाद्रि, वोपदेव, भागवत ग्रन्थका

प्राचीनत्व और पण्ढरीके भागवत धर्मका उदय, इन विषयोंका विवेचन किया है; अर्थात् राजकाज, विद्या और धर्मविषयक तत्कालीन महाराष्ट्रका संक्षिप्त इतिहास ही इस अध्यायमें आ गया है। यह पहला ऐतिहासिक अध्याय समाप्त होनेपर आगे ग्रन्थके आधे भागमें श्रीज्ञानेश्वर महाराजका साग्र चरित्र दिया है, और फिर शेष ग्रन्थके आधे भागमें उनके ग्रन्थोंका विवेचन किया है, और अन्तमें उनके ग्रन्थोंमेंसे चुने हुए अवतरणोंका सविवरण एक अध्याय देकर उसके बाद नामदेवसे लेकर मोरोपन्ततक अनेक सन्त-कवियोंने महाराजकी स्तुतिमें जो अभङ्ग, श्लोक, पद, आरती आदि रचनाएँ की हैं, उनका स्वल्प संग्रह किया है। इस प्रकार संक्षेपमें इस ग्रन्थका स्वरूप ऐतिहासिक, चारित्रिक विवेचनात्मक तथा स्तवनात्मक है। दूसरा अध्याय कुल-वृत्तान्त है। इसमें महाराजके पूर्वज, उनके माता-पिता रुक्मिणीबाई और विट्ठलपन्त, विट्ठलपन्तकी यात्रा, उनका विवाह, उनका संन्यास, रामानन्दस्वामीका अनुग्रह, रुक्मिणीबाईका तप, पुनः गृहस्थाश्रम, अत्याचार और निवृत्ति-ज्ञानेश्वरका जन्मकाल, ये विषय हैं और अन्तमें इस बातका विवेचन है कि संन्यासीसे ज्ञानेश्वरका अवतार क्यों हुआ। तीसरा अध्याय गुरुसम्प्रदाय है। इसमें गैनीनाथसे निवृत्तिनाथको और उनसे ज्ञानेश्वरको कैसे बोध प्राप्त हुआ इसका वर्णन है और जालन्धरनाथ, मैनावती, गोपीचन्द, मत्स्येन्द्रनाथ और गोरक्षनाथकी कथाएँ दी हैं और अन्तमें निवृत्तिनाथ और ज्ञानेश्वरके स्वसम्प्रदाय-सम्बन्धी

उद्गार विवरणके साथ दिये हैं। चौथा अध्याय 'उपनयन और वेद-शास्त्र-मर्यादा' है। इसमें ब्राह्मणोंद्वारा विट्ठलपन्तके लिये देहान्तप्रायश्चित्तकी व्यवस्था, प्रयागतीर्थमें विट्ठलपन्तका देह-विसर्जन और ज्ञानेश्वरका बचपन वर्णित करके, विट्ठलपन्तके प्रायश्चित्तके सम्बन्धमें समाजशास्त्रकी दृष्टिसे ब्राह्मणोंकी दी हुई व्यवस्थाके औचित्य-अनौचित्यका विचार किया है और फिर वर्णाश्रम-धर्मका पालन आवश्यक है या नहीं इस विषयमें निवृत्ति, ज्ञानेश्वर और सोपानका संवाद दिया है। समाज-सुधार करनेकी इच्छा करनेवाले लोग इस अध्यायको अच्छी तरह पढ़कर मनन करें। इसमें विट्ठलपन्तका स्वधर्म-प्रेम, ब्रह्मनिष्ठा और मनोधैर्य स्पष्ट करके दिखाया गया है। पाँचवाँ अध्याय 'पैठणके चमत्कार' है। इसमें उपनयन-विषयक वादका निर्णय, ज्ञानेश्वर महाराजकी समबुद्धि, भैंसेसे वेद कहलवाना इत्यादि चमत्कारोंसे उनके दिव्यत्वपर ब्राह्मणोंका विश्वास, शुद्धिपत्र, महाराजका ग्रन्थावलोकन और सिद्धप्रज्ञा—ये विषय हैं। छठा अध्याय 'तीर्थयात्राप्रकरण' है। इसमें नेवासें क्षेत्र, सच्चिदानन्दबाबा, विसोबाचाटी और ज्ञानेश्वरीकी रचनाका विवरण है और पीछे महाराज नामदेवके साथ तीर्थ-यात्रा करते हुए कहाँ-कहाँ गये, रास्तेमें अनेक चमत्कार करके किस प्रकार उन्होंने अनेकोंका उद्धार किया, यह बताया है। सातवाँ अध्याय 'चाङ्गदेव और ज्ञानदेव' है। इसमें वटेश्वर चाङ्गदेवका सम्पूर्ण चरित्र दिया है, चाङ्गदेवकी विद्वत्ता और सिद्धि, कोरे कागजकी बात, ज्ञानेश्वर महाराजका उनके पास भेजा 'चाङ्गदेव पासष्टी'

पत्र, 'पासष्टी (पैंसठी)' का विवरण, ज्ञानदेव-चाङ्गदेवके मिलन-का अपूर्व प्रसंग, चाङ्गदेवकी शरणागति और मुक्ताबाईका उपदेश, ये विषय हैं। आठवाँ अध्याय 'समाधि-प्रकरण' है। यह अत्यन्त गम्भीर और प्रेमरससे ओत-प्रोत है और इसका वर्णन नामदेवकी वाणीसे ही हुआ है। ज्ञानेश्वर महाराजकी समाधिका निश्चित समय, महाराजकी लोकप्रियता, पण्ढरीकी यात्रा करके सब सन्तोंका आलन्दीमें आगमन, समाधि-प्रसंगका वर्णन, सोपानदेव, चाङ्गदेव, मुक्ताबाई और निवृत्तिनाथके समाधि-प्रसंग, अन्य समकालीन सन्तोंकी तिथियाँ आदि विषय हैं और अन्तमें ज्ञानेश्वर-दर्शनका नामदेवका हठ भगवानने कैसे पूरा किया इसका अत्यन्त प्रेममय वर्णन नामदेवकी ही वाणीसे हुआ है। चरित्रभाग यहाँ समाप्त हुआ। नवाँ अध्याय 'उपासना और गुरुभक्ति' है। नाथ-परम्पराकी योगनिष्ठा और ज्ञानेश्वर महाराजकी कृष्णोपासनाका वर्णन करके अनन्तर ज्ञानेश्वरी, अमृतानुभव और अभंगोंमेंसे महाराजके गुरु-भक्ति-विषयक उद्गार क्रमसे दिये हैं और उनका यथावश्यक विवरण भी दिया है। गुरुभक्तोंको यह अध्याय बहुत ही प्रिय होगा। इस अध्यायसे महाराजकी तथा सभी सच्चे गुरुभक्तोंकी गुरु-भक्तिका मर्म और प्रेम प्रेमियोंके अनायास ध्यानमें आ जायगा। दसवाँ अध्याय 'ग्रन्थविवेचन' है। यह अध्याय बढ़ते-बढ़ते बहुत बढ़ गया है। पर महाराजकी वाणीका माधुर्य, उनका दृष्टान्त-कौशल, उनकी सगुण भक्ति, उनके असन्दिग्ध ज्ञान-दान-का रहस्य, उनका अद्भुत प्रेम इत्यादि गुण उन्हींकी वाणीसे अपने

पाठकोंके हृदयमें साक्षात् करानेको जोमें कुछ ऐसी समायी कि वहाँ मेरी वृत्ति और लेखनी मेरे काबूमें न रही! यहाँ ज्ञानेश्वरी, अमृतानुभव और हरिपाठादि अभंगोंसे उत्कृष्ट अवतरण देते हुए उनकी माधुरी चखते-चखते, प्रेमामृतके घूँट लेते-लेते, उनकी वागर्थ-सम्पत्तिका यथेष्ट उपभोग करते-करते यह अध्याय लिखा है। पर यह फैलाव भक्ति, ज्ञान, वैराग्यसे भरा हुआ है, इतनी बात तो पाठक अवश्य स्वीकार करेंगे। अस्तु। पहले महाराजके ग्रन्थोंका 'आबालसुबोधत्व', उनका स्वभाषाभिमान और मनोहर आत्मप्रत्यय, उनकी ग्रन्थसम्पत्ति, ज्ञानेश्वरी और उसका संशोधन आदि विषय इसमें आये हैं और फिर ज्ञानेश्वरीके अन्तरङ्गका अवलोकन हुआ है। महाभारत, वेदव्यास और गीताशास्त्रके सम्बन्धमें स्थान-स्थानमें महाराजके जो उद्गार हैं उन्हें एकत्र करके देखनेसे क्या भाव निकलता है, यह इसमें देखा है। उसी प्रकार श्रुति और गीता, श्रीकृष्णार्जुनके अन्योन्य प्रेम और श्रोताओंसे महाराजकी विनयके उद्गारोंको भी एकत्र करके उनका भी प्रेमरंग दिखाया है। ग्यारहवाँ अध्याय 'उत्कृष्ट अवतरण' (अनुवादमें 'बोध-वचन') है। इसमें ज्ञानेश्वरीमेंसे चुने हुए अवतरण देकर अमृतानुभवका विवेचन किया है। महाराजके बोध और उपासनामें कहाँ किन सिद्धान्तोंका कैसे प्रतिपादन किया गया है, इसका भी उद्घाटन स्थान-स्थानमें किया है। अन्तमें उनके अभंगोंमें सगुण प्रेम और नाममाहात्म्य कैसे भरा हुआ है, यह बतलाया है। बारहवाँ अध्याय 'स्तुतिसुमनाञ्जलि' है। नामदेव, जनाबाई, सेनाबाई,

एकनाथ, तुकाराम, निलोबाराय, काह्नूपात्रा, शिवदिनकेसरी, भोलानाथ, निरञ्जनमाधव, रंगनाथ, मोरोपन्त, श्रीधर, मुक्तेश्वर प्रभृति सन्तों और कवियोंने श्रीज्ञानेश्वर महाराजकी स्तुतिमें उद्गार निकाले हैं उन्हें यहाँ एकत्र किया है। श्रीज्ञानेश्वर महाराजका यह चरित्र उन्हींके कृपा-प्रसादका फल है और यह उन्हींके चरणोंमें समर्पित है।

॥ श्रीज्ञानेश्वर महाराजकी जय ॥

पूना 'मुमुक्षु'-कार्यालय
श्रीरामनवमी शाके १८३४

श्रीज्ञानेश्वर-चरण-रज
लक्ष्मण रामचन्द्र पांगारकर

इस प्रस्तावनासे ग्रन्थका स्वरूप पूर्णतया ध्यानमें आ जाता है। अनुवादके विषयमें केवल एक ही बात कहनी है। वह यह कि कहीं-कहीं मैंने मराठीके अवतरण भी दिये हैं। जो अवतरण इतने मूल्यवान् मालूम हुए कि केवल हिन्दी अनुवाद देनेसे मुझे सन्तोष नहीं हुआ और मूलका आनन्द हिन्दी-पाठकोंको भी प्राप्त हो यह इच्छा जिनके विषयमें अदम्य हो उठी वे ही मराठी अवतरण ज्यों-के-त्यों दिये हैं। कुछ अवतरण ऐसे भी दिये हैं जिनकी मराठी हिन्दीसे बहुत मिलती-जुलती है।

भगवद्भक्त-सेवक—

लक्ष्मण नारायण गर्दे
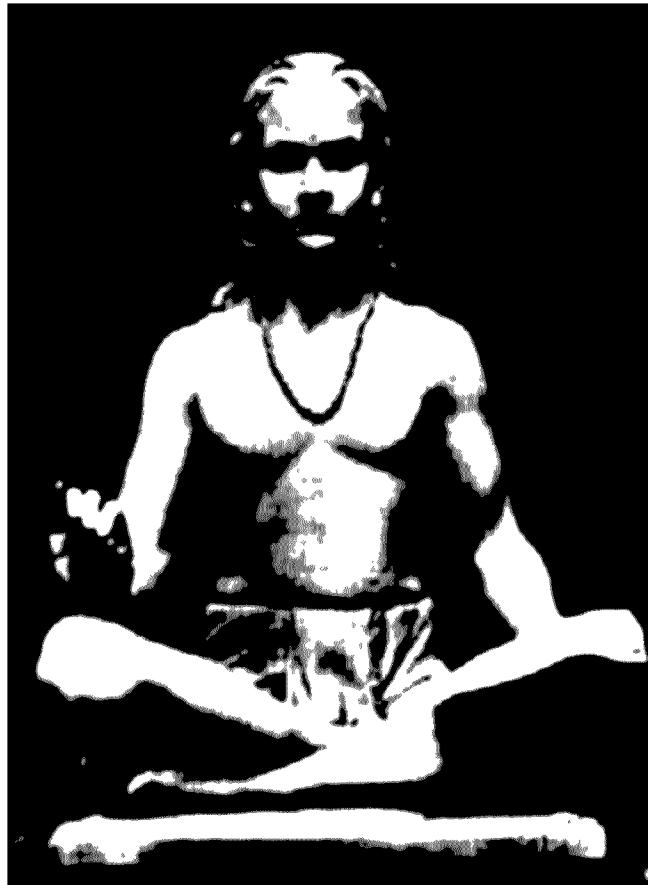
श्रीज्ञानेश्वर महाराज

॥ श्रीहरिः ॥

श्री ज्ञानेश्वर-चरित्र

श्रीज्ञानेश्वरकालीन महाराष्ट्र

यत्र योगेश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः ।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥

—श्रीमद्भगवद्गीता

श्रीज्ञानेश्वर महाराजका चरित्रावलोकन करनेके पूर्व इस प्रथम अध्यायमें हमलोग एक बार तत्कालीन महाराष्ट्रकी परिस्थितिका अवलोकन करें । हमारे इस परमार्थ-प्रवण भारतवर्ष-देशमें इतिहासादि विषयोंकी ओर लोगोंका ध्यान सामान्यतः कम ही रहा है । इस कारण ज्ञानेश्वरकालीन महाराष्ट्रका कोई सर्वाङ्गपूर्ण इतिहास अथवा उसके साधन बहुत ही कम उपलब्ध हैं । तथापि गत पचास वर्षके अन्दर जो ऐतिहासिक सामग्री सामने उपस्थित हो गयी है उसका यथामति उपयोग करके हम इस अध्यायमें ज्ञानेश्वरकालीन महाराष्ट्रका चित्र खींचनेका प्रयत्न करेंगे । किसी भी कालका सामान्य स्वरूप सामने ले आनेके लिये उस कालके राजनीतिक, साहित्यिक तथा धार्मिक उद्योगोंका इतिहास देखना होता है और इसीलिये हम यहाँ यह देखेंगे कि ज्ञानेश्वर महाराजके समयमें अर्थात् उनके पूर्व और पश्चात् सौ-पचास वर्षतक राजनीति, विद्या तथा धर्मकी दृष्टिसे महाराष्ट्रकी क्या अवस्था थी । महाराष्ट्रके इतिहासमें यह काल बड़े महत्त्वका है । जैत्रपाल,

सिंघणदेव और रामदेवराव-जैसे राजा, भास्कराचार्य और बोपदेव-जैसे पण्डित, हेमाडपन्त-जैसे विद्वान् राजकार्यकर्ता और ज्ञानेश्वर-नामदेव-जैसे महात्मा जिस कालमें हुए वह काल निःसन्देह महाराष्ट्रके इतिहासमें चिरस्मरणीय है। लक्ष्मी, सरस्वती और आत्मविद्या—तीनोंका उत्कर्ष महाराष्ट्रमें ज्ञानेश्वरके समय हुआ। देवगिरि, आपेगाँव, नेवासें, आलन्दी और पण्ढरपुर आदि स्थानोंकी चर्चा ज्ञानेश्वरके चरित्रमें वार-बार आती है और ये स्थान उस समय यादव-राजाओंकी राजसत्ताके अधीन थे; इसलिये इस प्रसङ्गसे उन यादव-राजघरानोंका इतिहास यहाँ संक्षेपमें कहना अप्रासङ्गिक न होगा। ज्ञानेश्वरके पूर्वज दो-चार पुश्ततक इन यादव-घरानोंकी सेवा भी करते रहे हैं। इसके अतिरिक्त पण्ढरपुर-के भागवतधर्म-सम्प्रदायका उदय भी राजा रामदेवरावके ही समयमें हुआ और उन्हींकी सहानुभूतिसे हुआ; यहाँतक कि स्वयं ज्ञानेश्वर महाराजने भी प्रेमसे उन्हें गौरवान्वित किया है। इन सब बातोंको देखते हुए सबसे पहले देवगिरिके यादव-राजाओंके इतिहासका निरीक्षण करना आवश्यक माल्रम होता है। इन यादवोंके राज्यकालमें जिन विद्वानोंने वैद्यक, ज्योतिष और धर्मशास्त्रका उत्कर्ष साधन किया, उन विद्वानोंका भी किञ्चित् परिचय देना आवश्यक होगा और फिर स्वयं भगवान् विष्णुके प्रत्यक्ष अवतार हमारे चरित्र-नायक ज्ञानेश्वर महाराज तथा भक्तिसुखकी वर्षा करनेके लिये आये हुए नामदेवरायकी कृपासे पण्ढरपुरके जिस भागवतधर्म-

सम्प्रदायका जयजयकार सम्पूर्ण महाराष्ट्रमें होने लगा उस भागवत-धर्म-सम्प्रदायका किञ्चित् अवलोकन करना भी उचित ही होगा। इस प्रकार ज्ञानेश्वर महाराजके समय राजनीति, विद्या और धर्ममें महाराष्ट्र कितना उन्नत हो रहा था यह एक बार विहङ्गम-दृष्टिसे देख लें। ज्ञानेश्वरका समय महाराष्ट्रके इतिहासका सुवर्ण-युग है।

(१) राजा और राज्यविस्तार

(देवगिरिके यादव-राजा)

१—भिल्लम (संवत् १२४४—१२४८)

|

२—जैतुगी उर्फ जैत्रपाल (संवत् १२४८—१२६७)

|

३—सिंघण (संवत् १२६७—१३०४)

|

४—जैतुगी उर्फ जैत्रपाल

|

५—कृष्णदेव उर्फ कन्हर (संवत् १३०४—१३१७) | ६—महादेव (संवत् १३१७—१३२८)

|

७—रामचन्द्र उर्फ रामदेवराव (संवत् १३२८—१३६६)

|

८—शङ्करदेव (संवत् १३६६—१३६९)

|

९—हरपाल (जामाता)
संवत् १३७५ में मारे गये।

इस राजवंशके दूसरे राजा जैतुगी और तीसरे राजा सिंघणके राज्यकालमें श्रीज्ञानेश्वर महाराजके परदादा त्र्यम्बकपन्त और रामदेवरावके राज्यकालमें स्वयं ज्ञानेश्वर महाराज थे। डा० भाण्डारकरने अंगरेजीमें 'दक्षिणका इतिहास' नामक जो उत्तम ग्रन्थ बड़े परिश्रमसे लिखा है उसके तथा हेमाद्रिकृत राजप्रशस्तीके आधारपर आगे कुछ विवरण देते हैं। देवगिरिके यादव (मराठी 'जाधव') राजा द्वारकाधीश श्रीकृष्णभगवान्के ही विश्व-विख्यात वंशमें हुए। ऊपर दी हुई वंशावलीमें जो पहले राजा भिल्लम हैं उन्होंने देवगिरिराज्यको बढ़ाकर उसे साम्राज्यपदारूढ़ किया। इनके अठारहवें पूर्वज दृढप्रहारी नामक राजा थे। यही देवगिरिके यादवराज-कुलके प्रथम पुरुष हुए। दृढप्रहारीके बेटे सेउणचन्द्र थे। इन्हींके पराक्रमसे नासिकसे लेकर देवगिरितकके प्रदेशका नाम सेउणदेश पड़ा। इसी सेउणदेशका अधिकांश भाग मुसलमानोंके राज्यकालमें खानदेश कहलाने लगा।

दृढप्रहारीसे भिल्लम तक (संवत् १२४४) जो अठारह राजा हुए वे सार्वभौम नहीं थे। भिल्लमने चालुक्यवंशके सोमेश्वर नामक सार्वभौम राजाको जीतकर तथा उसका राज्य अपने राज्यमें जोड़कर सार्वभौम-पद प्राप्त किया। हेमाद्रिने अपनी राज-प्रशस्तीमें कहा है—'भिल्लमने श्रीवर्धनके अन्तल राजा, प्रत्यण्डकके एक दुष्ट राजा, मंगलवेष्टक (१मंगलवेढे) के वज्री राजा, कल्याणके चालुक्य राजा और होयसल यादवोंके नृसिंह राजाको जीतकर अपना राज्य और यश विस्तृत किया।' भिल्लमने इस प्रकार अपने पराक्रमसे

अनेक देश जीतकर कृष्णानदीके उत्तर अपना विस्तृत राज्य सुस्थिर किया, पर उसे वह बहुत कालतक भोग न सके। भिल्लम-के समयके शिलालेखों और दानपत्रोंमें देखते हैं कि उन्होंने अपने नामके साथ 'प्रताप चक्रवर्ती, समस्त भुवनाश्रय, पृथ्वीवल्लभ, महाराजाधिराज' इत्यादि विरुदावली जोड़ी है। भिल्लमने संवत् १२४४ के लगभग देवगिरिमें अपनी राजधानी स्थापित की। इसके पूर्व दृढप्रहारीके समयसे यादवोंकी राजधानी श्रीनगरमें थी। डा० भाण्डारकरके मतानुसार यह श्रीनगर वर्तमान चन्द्रादित्यपुर उर्फ चान्दूर है जो नासिक जिलेमें है। भिल्लमने देवगिरिमें अपने साम्राज्यकी प्राण-प्रतिष्ठा की। हेमाद्रि कहते हैं—

स दण्डकामण्डलमण्डयित्री-
मकम्पसम्पत्प्रभवैर्विलासैः।
चक्रे पुरं देवगिरिं गिरीश-
प्रसादसंसादितदिव्यशक्तिः॥

अर्थात् शंकरके प्रसादसे दिव्य शक्ति पाये हुए भिल्लमने अचल सम्पत्ति, अपार वैभव और नानाविध विलाससे युक्त और दण्डकामण्डल अर्थात् महाराष्ट्रके लिये भूषणभूत होनेवाली देव-गिरि नामक नगरी स्थापित की। इसके बादसे यादव-राजा देव-गिरिमें रहने लगे। इसी देवगिरिका नाम मुसलमानोंने दौलताबाद रखा। भिल्लम रामेश्वरसे नर्मदातकका सम्पूर्ण प्रदेश जीत लेना चाहते थे, परन्तु यादवोंकी दूसरी शाखा—जो इतिहासमें होय-सल यादवके नामसे प्रसिद्ध है—मैसूरकी ओर उसी दृढ़ता और

पराक्रमके साथ राज्य कर रही थी। इस शाखामें उस समय वीर-बल्लाल राजा थे। यह भी भिल्लम-जैसे ही पराक्रमी थे। संवत् १२४८में धारवाडमें इन दोनोंका युद्ध हुआ और लोकुण्डी नामक स्थानमें भिल्लमकी फौज परास्त हो गयी और भिल्लमको लौटना पड़ा। इसके पश्चात् भिल्लम बहुत दिन नहीं जीये।

भिल्लमके पश्चात् देवगिरिके सिंहासनपर जैत्रपाल उर्फ जैतुगी बैठे। इनके समयके तीन शिलालेख मिले हैं। उनसे यह मालूम होता है कि भास्कराचार्यके पुत्र लक्ष्मीधर जैत्रपालके दरबारमें प्रधान पण्डित थे, जैत्रपालके सेनापति शंकर एक हजार गाँवोंपर हुकूमत करते थे, इनके महामण्डलेश्वर याने माण्डलिक राजा अनेक थे और इन्होंने अपने नामके साथ 'पृथ्वीवल्लभ, प्रताप चक्रवर्ती' आदि विरुदावली जोड़ी थी। मराठीके 'आद्य कवि' जिन्हें अबतक भी कहते हैं वह मुकुन्दराज इन्हीं जैत्रपालके गुरु थे और अनेक विद्वानोंका यह मत है कि जैत्रपालके लिये उन्होंने अपना 'विवेकसिन्धु' नामक ग्रन्थ लिखा। जैत्रपाल मुकुन्दराज-के शिष्य थे और द्वारसमुद्रके राजा नृसिंह भी इसी समय हुए। मुकुन्दराजका समय अभी निश्चित नहीं हुआ है। अस्तु, राजा जैत्रपाल विद्वानोंके प्रेमी थे, इसमें कोई सन्देह नहीं। हेमाद्रिने कहा है—'तिलङ्गाधिपति अर्थात् तैलङ्गदेशका राजा बड़ा ही दुष्ट था। जैत्रपालने रणयज्ञमें उस रौद्राकृति पशुकी पूर्णाहुति दी।'

जैत्रपालके बेटे सिंघणदेवके सैंतीस वर्षके शासनकालमें देवगिरिका साम्राज्य वैभवके शिखरको प्राप्त हुआ। सिंघणदेव

उर्फ सिंहल्देव सचमुच ही सिंह-जैसा महान् पराक्रमी था। हेमाद्रिने इनकी लड़ाइयोंका और इनकी वीरताका बहुत ही उत्तम वर्णन किया है और उस वर्णनका समर्थन करनेवाले कोई पचास-साठ प्राचीन लेख अब मिले हैं। सिंघणका रूप मदनका-सा सुन्दर था और प्रताप और यशकी तो वह मूर्ति ही थे। छत्तीस-गढ़के राजा जज्जल, मालवाके अधिपति अर्जुन और धारानगरीके तत्कालीन राजाको जीतकर इन्होंने प्रभूत सम्पत्ति पायी। इनके ब्राह्मण सेनापति मुद्गलगोत्री खोलेश्वर और उसके पुत्र रामने गुर्जरदेशके राजा लावण्यप्रसादकी सेनाका संहार किया। उससे समूची गुर्जर-भूमि काँप गयी। सिंघणकी फौजसे लोग ऐसे भयभीत हुए कि किसीको घर उठाने या गल्ला गाड़नेका साहस न होता था! लावण्यप्रसाद भी बड़ी वीरतासे लड़े, पर 'महाराजा-धिराज और सम्राट्' सिंघणदेवके सामने उन्हें सिर झुकाकर सन्धिके लिये प्रार्थना करनी पड़ी। सिंघणने अनेक राजाओंको अपने माण्डलिक बनाया। उन्होंने कोल्हापुर दखल किया। एक शिलालेखमें सिंघणको 'पन्नगनिलयप्रबलभोज--भूपाल व्याल विद्रावण विहंगमराज' 'अर्थात् पन्हालेके प्रबल भोजराजरूपी साँप-को मारनेवाला गरुड' कहा है! उसी लेखमें यह भी लिखा है कि गुर्जरोंको वह हाथीके अंकुशके समान असह्य मालूम हुए। एक लेखमें लिखा है कि अंग, बंग और कलिंग यानी बंगाल, पंजाब, सिन्ध, केरल (मलाबार), मालवा, चेर, चोल (कर्णाटक), मगध (बिहार), गुर्जर, पाण्ड्य (रामेश्वरसमीप), लाट और नेपालदेशके राजा सब सिंघणका हुक्म मानते थे और तुरुष्क,

बर्बर और पल्हव भी उनका समादर करते थे। सिंघणका राज्य-विस्तार जब बहुत बढ़ा तब उनके शूर सेनापतियोंका प्रभाव भी बढ़ा। भिन्न-भिन्न प्रदेशोंपर उन्होंने अपने प्रतिनिधि नियुक्त किये। इन प्रतिनिधियोंको महाप्रधान, मण्डलेश्वर, दण्डनायक अथवा बहत्तरनियोगाधिप कहते थे। इनमें उत्तर ओरके सेनापति खोलेश्वर और दक्षिण ओरके सेनापति बीचण मुख्य थे। बीचण अथवा बीचीदेव बड़े शूर थे। कन्हाड़ कोल्हापुर प्रान्तके यह महाप्रधान थे। इन्होंने पश्चिमके चालुक्य, गोवाके कदम्ब, मद्रासकी ओरके पाण्ड्यको मारकर सीधा किया था। इन्होंने यादवोंका झण्डा 'सुवर्ण गरुडध्वज' कावेरी-तटपर फहराया और यहाँ अपना जयस्तम्भ खड़ा किया। संवत् १२७२ में मायीदेव पण्डितके हाथमें राज्यका सर्वाधिकार था और हेमनायक उन्हींका एक सहकारी था जो संवत् १२८३ में १२००० गाँवोंका शासन करता था। सिंघणदेवके राज्यमें चौरासी दुर्ग थे जिनमें देवगिरिका दुर्ग प्रधान था। सिंघणदेव नामके साथ 'प्रौढ़प्रतापचक्रवर्ती, यादवचक्रवर्ती, द्वारकापुरवराधीश्वर' इत्यादि विरुद हैं।

सिंघणदेवके पीछे उनके पुत्र जैतुगी बहुत थोड़े समयतक राजसिंहासनपर रहे। कुछ ही महीनोंमें उनकी मृत्यु हो गयी। उनके पुत्र अर्थात् सिंघणके पौत्र कृष्ण और महादेवने यथाक्रम तेरह और ग्यारह वर्ष राज्य किया। ये दोनों भाई करीब-करीब समवयस्क थे और इनका परस्पर बड़ा ही शुद्ध प्रेम था। इनके सम्बन्धमें हेमाद्रि बड़े प्रेमसे कहते हैं—

धर्मार्थाविव तौ साक्षात्पालयन्तौ वसुन्धराम्।
विलोक्य लोकः सस्मार राजानौ रामलक्ष्मणौ॥

कृष्ण और महादेव बहुत ही लोकप्रिय थे। उनका शुद्धाचरण देखकर लोग यह कहा करते थे कि लोककल्याणके लिये मानो राम और लक्ष्मण स्वयं ही अवतरित हुए हैं। कृष्णदेव जैसे धर्मशील थे, वैसे ही शूर भी थे। सिंघणदेवके प्रतापसे अधिकांश राजा झुलस-से गये थे और किसीमें वह सामर्थ्य नहीं थी जो देवगिरिकी ओर वक्रदृष्टिसे देखता। कोई यदि सिर उठाता भी तो बड़े भाई कृष्णदेव और उनसे भी अधिक शूर छोटे भाई महादेव तुरन्त उससे नाक रगड़वाते थे। कृष्णदेवने गुर्जर राजाको पूरे तौरपर परास्त किया और कोंकणके राजाओंको जीत लिया। परन्तु इतनेसे सारा कोंकण-प्रदेश उनके शासनकालमें यादवोंके अधीन नहीं हुआ। कृष्णदेवके सम्बन्धमें हेमाद्रि कहते हैं—

येनाकारि विशालवीसलचमूसंहार कालानले
हेलोन्मूलित मूलराजसमरे निर्वीरमुर्वीतलम्।
येनानेक महाफलक्रतुकृता संवर्ध्यमानोऽनिशं
क्षीणः कालवशात् पुनस्तरुणतां धर्मोऽपि सम्प्रापितः॥

अर्थात् कृष्णदेवने गुजरातके वीसलदेव राजाकी प्रचण्ड सेनाका संहार किया, रणभूमिपर अनेक राजाओंका निर्मूलन करके वीरतामें अपना कोई सानी न रहने दिया और अपने राज्यमें महाफल देनेवाले यज्ञयागादि पुण्यकर्म करके कालवशात् क्षीण हुए धर्ममें भी यौवन उत्पन्न कर दिया! इस श्लोकका अन्तिम

चरण *'क्षीणः कालवशात् पुनस्तरुणतां धर्मोऽपि सम्प्रापितः'* बड़े ही महत्त्वका है। हेमाद्रि, बोपदेव आदि पण्डित इसी समयमें हुए और उन्होंने अपने पवित्र आचरणसे तथा अपने ग्रन्थोंसे धर्मके पुनरुज्जीवनमें बड़ी सहायता की और उन सबके उद्योगसे भागवतधर्मका तेज चमकने लगा और इसके बाद थोड़े ही समय-के अन्दर श्रीज्ञानेश्वर प्रभृति महाभागवतोंने धर्मोदयका मध्याह्न भी उपस्थित कर दिया। वह मधुर विवरण आगे आने ही वाला है। तथापि यज्ञयाग और व्रतनियमादिको यादव-राजाओंने प्रोत्साहित किया, इससे कर्मनिष्ठा तथा उसके पीछे-पीछे ज्ञान और भक्तिका उदय हुआ और महाराष्ट्रमें भागवतधर्मकी विजय-पताका फहरानेका सुअवसर उपस्थित हो गया। कर्मठतामें चाहे दोष ही हो, पर कर्मनष्टता तो महान् पाप है। धर्मग्लानिके समय लोग कर्मनष्ट होते हैं और धर्मोद्धारके समय कर्मसे आरम्भ होता है और भक्ति और ज्ञानमें उसकी पूर्णता होती है। भगवान्‌ने गीतामें भी कहा है कि *'यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्'* (१८।५)। यादवोंके समयमें कर्मठताकी बड़ी प्रतिष्ठा हुई, इस कारण, कुछ विद्वान् यादवोंको कोसते हैं परन्तु हमारे विचारमें यादवोंके शासनकालकी सबसे अधिक आदरणीय बात यही थी कि राजासे रंकतक सब धर्म-कर्मका आदर करने लगे—लोगोंमें स्वधर्म-प्रीति उत्पन्न हो गयी। इस सत्कर्माचरणका ही यह फल हुआ कि भागवतधर्म पुनरुज्जीवित हुआ। अस्तु, सिंघणदेव, कृष्णदेव, महादेव और उनके बाद रामदेवके समयमें संस्कृत-विद्या-

को राजाश्रय प्राप्त हुआ और भास्कराचार्य, हेमाद्रि, वोपदेव, शार्ङ्गधर-जैसे विद्वद्रत्न प्रकट हुए। परन्तु इस ओर आगे वढ़नेके पूर्व यादवोंका इतिहास पहले पूरा कर लें।

कृष्णदेवने वीचणदेवके भाई मल्लको कुहुण्डी प्रान्तका दण्ड-नायक नियुक्त किया था। इन मल्लीसेट्टीने वागेवाडी-प्रान्तके कुछ ब्राह्मणोंको एक दानपत्रके द्वारा भूमि दान की थी। मल्लकी मृत्युके पश्चात् उनके वेटे चौन्दराजको कृष्णदेवने अपना मुख्य प्रधान नियुक्त किया। ऐसे ही अन्य अनेक उदाहरणोंसे यह मालूम होता है कि यादव राजा अपने गुणी आश्रितोंके पुत्र-पौत्रों-की सुध लेते और उनका पालन करते थे। कृष्णदेवके पश्चात् वीर महादेव राजा हुए। इन्होंने कोंकणके राजा शिलाहारवंशीय सोमेश्वरको जीतकर सारा कोंकण-प्रदेश अपने राज्यमें मिला लिया। महादेवने शत्रुके जहाज समुद्रमें डुवा दिये। उसके साथ कोंकणके राजा सोमेश्वरको भी जलसमाधि मिली। महादेवके मन्त्रियोंमें प्रधान मन्त्री पण्डित हेमाद्रि ही थे। इनका पद था 'करणाधिप'। वड़े अभिमानसे हेमाद्रि कहते हैं—

> सा सम्पत्तदिदं यशोवलमिदं सोऽयं प्रतापो महा-
> नेकैकं पृथिवीभृतो भुवि महादेवस्य लोकोत्तरम्।
> यस्य श्रीकरणाधिपः स्वयमयं हेमाद्रिसूरिः पुरः
> प्रौढप्रातिभवर्ण्यमानविलसद्वंशो भृशं शोभते॥

'पृथ्वीके राजाओंमें जो सम्पत्ति, जो यश, जो वल, जो प्रताप ऐसा हो कि उसे लोकोत्तर कहा जा सके वह सम्पत्ति,

वह यश, वह बल, वह प्रताप और ये सब गुण एक साथ महा-देव राजामें हैं। इस प्रौढ़प्रतापचक्रवर्ती राजाके दरबारमें श्रेष्ठ बुद्धि और विद्यासे विभूषित वंशमें उत्पन्न हुआ मैं हेमाद्रि 'श्रीकरणाधिप' के पदपर सुशोभित हूँ। इन राजा महादेवकी रणनीतिका एक बहुत ही अच्छा नियम यह था कि स्त्रियों, बच्चों और शरणागतोंको कोई मार नहीं सकता था। इसीलिये महादेवके पराक्रमसे भीत आन्ध्रोंने एक स्त्रीको और मालवेश्वरने एक बच्चेको राजसिंहासनपर बैठाया था जिसमें राज्यकी रक्षा हो।'
'अयं शिशुस्त्रीशरणागतानां हन्ता महादेव नृपो न जातु।'
महादेवके इस व्रतसे उनके हृदयकी उदारता प्रकट होती है। इन्हीं जाधवोंके (यादवोंके) कुलमें सत्रहवीं विक्रम-शताब्दिमें जीजाबाई उत्पन्न हुई जिनके उदरसे जन्म ग्रहण करके महाराष्ट्रमें स्वराज्यकी पुनः स्थापना करनेवाले महात्मा शिवाजीने भी इस प्रकारके औदार्यमें अपने पूर्वजोंका जैसा अनुकरण किया वह इतिहाससे प्रसिद्ध ही है। फौजके लिये शिवाजी महाराजका यह बड़ा कड़ा हुक्म था कि 'शत्रु-देशमें स्त्रियों और बच्चोंको कोई न पकड़े। गौ भी न पकड़े। बैल केवल बोझा ढोनेके कामके लिये पकड़ सकते हैं। किसी प्रकारका कहीं कोई अत्याचार न करे।' (सभासदकी बखर पृ० २४) अस्तु। यादव-राजधानी देवगिरि इस समय अतुल ऐश्वर्य भोग कर रही थी। त्रैलोक्यकी सम्पत्ति मानो यहीं एकत्र हुई थी। वहाँकी बड़ी-बड़ी हवेलियाँ देवावास शैल-शिखरोंसे ऊँचाईमें स्पर्धा कर रही थीं; वहाँके लोग,

उनके वस्त्रालंकार और उनके भाषण परम मधुर और चित्ताकर्षक थे। इस ऐश्वर्यको स्वयं भोगते हुए पण्डित हेमाद्रि कहते हैं—

आस्ते मण्डितदण्डकापरिसरः श्रीसेउणाख्यः परः
देशः पेशलवेशभूषणवचोमाधुर्यधुर्याकृतिः।
तस्मिन्देवगिरिः पुरी विजयते त्रैलोक्यसारश्रियां
विश्रान्तिः सुरशालिशैलशिखरस्पर्धिष्णुसौधावलिः॥

अस्तु। हेमाद्रिकी 'राजप्रशस्ति' यहाँ समाप्त होती है और इस कारण इसके आगेके राजाओंका हाल ठीक-ठीक नहीं मिलता।

महादेवके पश्चात् उनके पुत्र आमणदेवको हटाकर कृष्णदेवके पुत्र रामदेवराव देवगिरिके राजसिंहासनपर बैठे। इन्होंने सैंतीस वर्ष राज्य किया। इनके महाप्रधान अच्युत नायक संवत् १३२९ में साष्टी-प्रान्तके महाप्रधान थे। साल्लुवदेव संवत् १३३४—१३३७ तक इनके मुख्य सेनापति थे। संवत् १३४७ में भारद्वाज-गोत्री यजुर्वेदी ब्राह्मण कृष्णदेव कोंकणके महाप्रधान थे। रामदेव-रावके समयके चौबीस लेख इस समय मिलते हैं। संवत् १३५४ में ताडपत्रपर लिखी अमरकोशकी एक प्रति पूनेकी डेकन-कालेज-लाइब्रेरीमें है। इनके समयमें लड़ाई-भिड़ाई बहुत नहीं हुई, पर महाराष्ट्रमें भागवतधर्मका उदय हुआ और ज्ञानेश्वर, नामदेव आदि सन्तरत्नोंने महाराष्ट्रको भक्तिसुखमें निमज्जित किया। ज्ञानेश्वर महाराजने ज्ञानेश्वरीके अन्तमें राजा रामदेवरावका इस प्रकार उल्लेख किया है—

'....इस कलियुगमें और महाराष्ट्र-मण्डलमें श्रीगोदावरीके दक्षिण प्रान्तमें ~~जलसूत्रधार~~ ब्रह्माण्ड-सूत्रधार श्रीमहालया (उर्फ महालसा, म्हालसा

अथवा मोहिनीराज) नामक अत्यन्त पवित्र, अनादि पञ्चक्रोशक्षेत्र है। इस देशपर इस समय यदुवंशविलास सकलकलानिवास श्रीरामचन्द्र न्यायपूर्वक प्रजापालन कर रहा है। उसीके राज्यमें यह महालसाक्षेत्र है जहाँ अर्थात् मोहिनीका रूप धारण करके विराजनेवाले श्रीविष्णुभगवान्‌के (नेवासें नामक) इस क्षेत्रमें महेश अर्थात् आदिनाथशंकरकी परम्परावाले श्रीनिवृत्तिनाथके शिष्य ज्ञानदेव अर्थात् मैंने गीताको यह (ज्ञानेश्वरीरूपी) मराठी अलंकार पहनाया है।' यह ग्रन्थ संवत् १३४७ में सम्पूर्ण हुआ। इस अलौकिक ग्रन्थके कर्ता श्रीज्ञानेश्वर महाराजका चरित्र विस्तारके साथ आगे आने ही वाला है। रामदेवरावके सम्बन्धमें दो-एक बातें और कहकर यह प्रकरण समाप्त करें।

संवत् १३५१ से देवगिरिके राज्यका प्रताप घटने लगा और संवत् १३७५ में राज्यान्त ही हो गया। उत्तर-हिन्दुस्थानमें दिल्लीके मुगलराज्यको स्थापित हुए सौ वर्ष बीत चुके थे। दिल्लीके बादशाहका भांजा अलाउद्दीन खिलजी संवत् १३५१ में आठ हजार घुड़सवारोंके साथ बरारके एलिचपुर नगरपर चढ़ आया। उस समय यह प्रदेश देवगिरि-राज्यके ही अधीन था। मैसूरकी सीमातक यादवोंका राज्य-विस्तार था अर्थात् रामदेवरावके समयमें राज्यका बड़ा विस्तार था। परन्तु इस मौकेपर फौजकी वह तैयारी न रही होगी और रामदेवराव तथा उनके मन्त्रियोंके ध्यानमें यह बात भी न आयी होगी कि नर्मदाके उत्तर ओर जो प्रबल मुसलमान-राज्य स्थापित हुआ है वह आज नहीं तो कल हमारे लिये भी संकटका कारण होगा। उनका जमाना था, वे चमके;

उनका जमाना बिगड़ा, वे भी बिगड़े। महाराष्ट्र-मण्डलके बुरे दिन आये। अलाउद्दीन तेजीके साथ देवगढ़पर चढ़ आया। उसने यह बात भी उड़ा दी कि मेरे पीछे दिल्लीके बादशाहकी बड़ी भारी फौज चली आ रही है। यह सुनकर रामदेवरावके देवता कूच कर गये। मामूली-सी मुठभेड़ हुई और रामदेवरावने अपार सम्पत्ति देकर सन्धि की। यशस्वी अलाउद्दीन दिल्ली लौट गया। अलाउद्दीन जब बादशाह हुआ तब संवत् १३६३ में उसने तीस हजार घुड़सवारोंके साथ मलिक काफ़रको देवगढ़पर चढ़ाई करनेके लिये भेजा। उसने रामदेवरावका राज्य लूटा और रामदेवरावको कैद करके दिल्ली ले गया। वहाँ छः महीने कारावास भोगकर रामदेवराव लौटे। पर इसके तीन वर्ष बाद संवत् १३६६ में रामदेवरावकी मृत्यु हुई। उनके बाद उनके बेटे शंकर-देव राजसिंहासनपर बैठे। इन्होंने दिल्लीपतिके पास तीन वर्ष लगातार राज्यकर नहीं भेजा। तब फिर मलिक काफ़रने संवत् १३६९ में देवगढ़पर चढ़ाई की, सम्पत्ति लूटी, जहाँ-तहाँ आग लगायी; और शंकरदेव मारे गये। रामदेवरावके जामाता हरपाल-देवने पुनः राज्य प्राप्त करनेका उद्योग किया। पर संवत् १३७५ में दिल्लीके बादशाह मुबारकने हरपालदेवको पकड़ा और बड़ी क्रूरतासे उनकी खाल खिंचवाकर मार डाला। इस प्रकार देवगढ़के यादव-राज्यका अन्त हुआ।

(२) विद्या

देवगिरिके यादवोंके राज्यकालमें ज्योतिष, वैद्यक, धर्मशास्त्र और व्याकरणका अध्ययन और प्रचार खूब हुआ। इसी समय भास्कराचार्य

प्रभृति कई सुप्रसिद्ध ज्योतिषी हुए और कुछको तो राज्यकी ओरसे आश्रय भी था। भास्कराचार्यका कुल ही विद्वानोंका कुल था। इनकी वंशावली बायें किनारे दी है। इस वंशके प्रथम पुरुष त्रिविक्रम 'दमयन्ती कथा' नामक ग्रन्थ लिख गये। इनके पुत्र भास्कर भट्टका जन्म संवत् १०७१ में हुआ, यह भोजराजाके विद्यापति थे। इनके बाद पाँचवीं पीढ़ीमें महेश्वर हुए जिन्होंने संवत् ११६५ में चार ज्योतिष-ग्रन्थ लिखे। इनके पुत्र जगद्विख्यात भास्कराचार्य हुए। भास्कराचार्यका जन्म संवत् ११७१ में हुआ। इनके ग्रन्थ सिद्धान्तशिरोमणि, करणकुतूहल और लीलावती सर्वमान्य हैं। सिद्धान्त-शिरोमणि उन्होंने अपनी वयस्के छत्तीसवें वर्ष संवत् १२०७ में लिखा और करणकुतूहलकी रचना उन्होंने अपनी वयस्के उनहत्तरवें वर्ष अर्थात् संवत् १२४० में आरम्भ की। इनका समग्र जीवन ज्योतिषके अध्ययनमें बीता और पूर्वकालीन आर्यभट्ट, वराहमिहिर प्रभृति आचार्यों-का-सा अमर यश इन्होंने ज्योतिष-विद्यामें प्राप्त किया। भास्कराचार्यके पुत्र लक्ष्मीधर जैत्रपाल राजाके आश्रित थे। राजा स्वयं उन्हें दरबारमें सम्मानके साथ बुला ले गये और उन्हें सभापण्डितके पदपर बैठाया। लक्ष्मीधरके पुत्र चंगदेव राजा सिंघणदेवके

त्रिविक्रम
|
भास्कर भट्ट
|
गोविन्द
|
प्रभाकर
|
मनोरथ
|
महेश्वर
|
भास्कराचार्य
|
लक्ष्मीधर
|
चंगदेव

ज्योतिषी थे। चंगदेवने खानदेशमें नैऋत्य ओर दश मीलपर पाटण नामक गाँवमें भास्कराचार्य तथा उनके वंशके अन्य विद्वानोंके बनाये ग्रन्थोंके अध्ययन-अध्यापनके लिये एक मठ बनवाया। अब वहाँ वह मठ नहीं है, पर उसके चिह्न अब भी मौजूद हैं। पाटणगाँवके भवानीके मन्दिरमें एक शिलापर चंगदेवका एक लेख है। उस लेखमें यह सारा विवरण दिया हुआ है। इस लेखके संस्कृत-श्लोकोंको पहले-पहल डा० भाऊ दाजीने खोजके साथ पढ़ा। *'शाण्डिल्यवंशे कविचक्रवर्ती'* त्रिविक्रम हुए, उनके भास्कर भट्ट नामक पुत्रको भोज राजाने 'विद्यापति' बनाया, उनके गोविन्द, गोविन्दके प्रभाकर, प्रभाकरके मनोरथ, उनके कवीश्वर महेश्वर और महेश्वरके भास्कराचार्य हुए। यह विवरण इस शिला-लेखमें है और फिर आगे कहा है—

> तत्सूनुः कविवृन्दवन्दितपदः सद्वेदविद्यालता-
> कन्दः कंसरिपुप्रसादितपदः सर्वज्ञविद्यासदः।
> यच्छिष्यैः सह कोऽपि नो विवदितुं दक्षो विवादी क्वचि-
> च्छ्रीमान् भास्करकोविदः समभवत्सत्कीर्तिपुण्यान्वितः॥

भास्कराचार्य अपने जीवन-कालमें ही कितने मान्य हुए, यह इससे विदित होता है। कविवृन्द उनके चरणोंमें लीन रहते थे। बड़े-बड़े विद्वान् उनके शिष्योंसे भी शास्त्रार्थ करनेमें डरते थे। इस लेखके अनुसार भास्कराचार्य वेदविद्यापारंगत थे, साथ ही श्रीकृष्णके बड़े भक्त थे और सत्कीर्ति-पुण्यान्वित थे। उनके पुत्र लक्ष्मीधर भी उन्हींके सदृश सम्मान्य हुए—

लक्ष्मीधराख्योऽखिलसूरिमुख्यो
वेदार्थवित् तार्किकचक्रवर्ती ।
क्रतुक्रियाकाण्डविचारसार-
विशारदो भास्करनन्दनोऽभूत् ॥ २१ ॥
सर्वशास्त्रार्थदक्षोऽयमिति मत्वा पुरादृतः ।
जैत्रपालेन यो नीतः कृतश्च विबुधाग्रणीः ॥ २२ ॥

लक्ष्मीधरके पुत्र चंगदेव राजा सिंघणदेवके आश्रित थे—

तस्मात्सुतः सिङ्घणचक्रवर्ती
दैवज्ञवर्योऽजनि चङ्गदेवः ।
श्रीभास्कराचार्यनिबद्धशास्त्र-
विस्तारहेतोः कुरुते मठं यः ॥ २३ ॥

चंगदेवने उस मठमें भास्कराचार्यके ग्रन्थ तथा उनके वंशके अन्य विद्वानोंके ग्रन्थ रखे और यह 'ग्रन्थसंग्रहालय' स्थापित किया । सिंघणदेवके माण्डलिक निकुम्भवंशके साईदेवने संवत् १२६४में इस ग्रन्थ-संग्रहालयके लिये वार्षिक दानकी एक रकम बाँध दी । भास्कराचार्यको भी किसी राजाका आश्रय था या नहीं, इसका पता अभी नहीं लगा है, पर उनके पुत्र-पौत्रोंको यादव-राजाओंने आश्रय दिया था, यह स्पष्ट है । भास्कराचार्यने अपने पितृदेवके सम्बन्धमें अपने सिद्धान्तशिरोमणि ग्रन्थमें कहा है—

आसीत् सह्यकुलाचलाश्रितपुरे त्रैविद्यविद्वज्जने
नानासज्जनधाम्नि विज्जडविडे शाण्डिल्यगोत्रो द्विजः ।
श्रौतस्मार्तविचारसारचतुरो निःशेषविद्यानिधिः
साधूनामवधिर्महेश्वरकृती दैवज्ञचूडामणिः ॥६२॥

तज्ज्ञस्तच्चरणारविन्दयुगलप्राप्तप्रसादः सुधी-
र्मुग्धोद्बोधकरं विदग्धगणकप्रीतिप्रदं प्रस्फुटम्।
एतद्व्यक्तसदुक्तियुक्तिबहुलं हेलावगम्यं विदां
सिद्धान्तग्रथनं कुबुद्धिमथनं चक्रे कविर्भास्करः ॥६३॥
—गोले प्रश्नाध्यायः

इससे यह स्पष्ट है कि भास्कराचार्यने अपने पितासे विद्या प्राप्त की। भास्कराचार्यका घर सह्याद्रिपर्वतके समीप विज्जडविड नामक स्थानमें था। शिलालेखमेंसे जो बाईसवाँ श्लोक पहले उद्धृत कर आये हैं, उसमें लक्ष्मीधरको *'पुरादानीतः'* कहा है। पुरसे अभिप्राय है पाटणगाँवका जो सह्याद्रिके समीप सह्याद्रिके ही शाखा-पर्वत चाँदवडसे लगा हुआ अर्थात् भास्कराचार्यके कथनानुसार *'सह्याचलाश्रित'* है। इससे यह मालूम होता है कि विज्जडविड और पाटण दोनों स्थान या तो एक ही हैं या पाटणके समीप उस समय विज्जडविड नामका कोई गाँव भी रहा होगा। उपर्युक्त दो श्लोकोंमें भास्कराचार्यने अपना कुलाभिमान और पितृभक्ति उत्तम प्रकारसे व्यक्त की है। *'श्रौतस्मार्तविचार-सारचतुरः'* अर्थात् श्रुति और स्मृतिके वचनोंमेंसे विचारोंका सार निकालनेमें चतुर, अनेक विद्याओंके आगर और साधुओंके मुकुट-मणि इत्यादि विशेषण उन्होंने अपने पूज्य पिताके सम्बन्धमें प्रयुक्त किये हैं। अपने विद्वान् और सदाचारी पिता ही पुत्रको शिक्षा देनेवाले गुरु भी हों और फिर पितासे प्राप्त विद्याका पुत्र यशोविस्तार करे, ऐसा परम शुभ संयोग बहुत ही कम देखनेमें आता

है । भास्कराचार्यका कुल विद्वान्, विशेषतः ज्योतिष-विद्यामें पारंगत था । भास्कराचार्यके भाई श्रीपतिके पुत्र गणपति और उनके पुत्र अनन्तदेव सिंघण-राजाके आश्रयमें थे । उनका खुदवाया हुआ एक शिलालेख खानदेशमें चालीसगाँवसे दस मील उत्तर वहाल नामक ग्रामके सारजादेवीके मन्दिरमें है । इन अनन्तदेवने भी ज्योतिषके कुछ ग्रन्थ लिखे हैं । भास्कराचार्यके कुलके अतिरिक्त ज्योतिषियोंका और एक कुल ज्योतिष-विद्यामें प्रसिद्ध हुआ है । भारद्वाजगोत्री राम नामक ज्योतिषी अन्तिम यादव-राजा रामदेवरावके दरबारमें थे । यह पैठणसे सत्तर मील पूर्व गोदावरीके उत्तर-तटपर पार्थपुर (पाथरी) के रहनेवाले थे । यह स्थान देवगिरिसे आग्नेय दिशामें पचासी मीलपर है । इस राम ज्योतिषीके वंशमें संवत् १५६५–१६०५ के बीच ज्ञानराज, सूर्य, घुण्डिराज आदि अनेक ज्योतिषी हुए और इन्होंने ज्योतिषके अनेक ग्रन्थ भी लिखे । यह भी एक विशेष बात है कि राजा रामदेवरावके दरबारके इन राम ज्योतिषीकी ग्यारहवीं पीढ़ीमें जो विज्ञानेश्वर हुए वे बाजीराव पेशवाके दरबारमें ज्योतिषी थे । कहते हैं, इनके वंशज अभी बीड-स्थानमें हैं ।

सिंघण-राजाके 'श्रीकरणाधिप' सोढल नामक कोई काश्मीरी ब्राह्मण थे । उनके पुत्र शार्ङ्गधरने 'सङ्गीतरत्नाकर' नामका बहुत ही अच्छा ग्रन्थ लिखा । कृष्णदेवके शूर और विद्वान् गजसेनाधिपने 'सूक्तिमुक्तावली' ग्रन्थ लिखा । इन्हीं कृष्णदेवके आश्रित अमलानन्दने श्रीमच्छङ्कराचार्यके वेदान्तसूत्र-भाष्यपर 'वेदान्तकल्पतरु' नामक ग्रन्थ लिखा ।

वीर महादेव और रामदेवरावके राज्यकालमें उनके मुख्य मन्त्री हेमाद्रिका नाम विशेषरूपसे ध्यानमें रखनेयोग्य है। महाराष्ट्रमें हेमाद्रि हेमाडपन्तके नामसे प्रसिद्ध हैं। उनके बनवाये देवालय हेमाडपन्ती देवालय कहलाते हैं। यह माध्यन्दिन-शाखाध्यायी, पञ्चप्रवरान्वित वत्सगोत्री यजुर्वेदी ब्राह्मण बड़े विद्वान् और बड़े राजनीतिज्ञ थे। इनके पिताका नाम कामदेव, दादाका नाम वासुदेव और परदादाका नाम वामन था। इनके कुलस्वामी महालसा अर्थात् मोहिनीराज हैं। यह राजकार्य-धुरन्धर*, विद्वान् ब्राह्मण धर्मशास्त्रके भी बड़े ज्ञाता थे। इन्होंने धर्मशास्त्रके अनेक ग्रन्थ लिखे, जिनमें 'चतुर्वर्गचिन्तामणि' ग्रन्थ मुख्य है। इस ग्रन्थके चार भाग हैं—व्रतखण्ड, दानखण्ड, तीर्थखण्ड और मोक्षखण्ड। इन नामोंसे ही यह मालूम हो जाता है कि किस भागमें किस विषयका विवरण है। परिशेषखण्ड-नामसे एक पाँचवाँ खण्ड और है, जिसमें देवपूजा, श्राद्धविधि, मुहूर्त-निर्णय, प्रायश्चित्त आदि विषयोंका विस्तृत विवरण है। ये ग्रन्थ हालमें छपे हैं। ये ग्रन्थ सात सौ वर्षसे विद्वन्मान्य हैं। धर्मशास्त्रकी चर्चामें हेमाद्रि-का नाम और उनके ग्रन्थोंके अवतरण सदा सुननेमें आते हैं। आयुर्वेदरसायन, मुक्ताफल इत्यादि अन्य अनेक ग्रन्थ भी उन्होंने

---

* शाके ११९४ (संवत् १३२९) के ताम्रपत्रमें पण्डित हेमाद्रिको 'श्रीकरणाधिप' की पदवी दी हुई है। इस पदवीके सम्बन्धमें डा० भाण्डारकर कहते हैं—

'This office seems to have been that of chief secretary or one who wrote and issued all orders on behalf of his master and kept the record.'

लिखे। कई ग्रन्थ तो उन्होंने अपने आश्रित वोपदेवसे लिखवाये और स्वयं वोपदेवके ग्रन्थोंपर टीकाएँ कीं। 'राजप्रशस्ति' नामक सुन्दर श्लोकबद्ध ग्रन्थमें उन्होंने 'देवगिरिके यादवोंका संक्षिप्त इतिहास' ही लिख डाला है। महाराष्ट्रमें प्रचलित मोडी लिपि हेमाद्रि ही लङ्कासे ले आये और कहते हैं कि लङ्कासे एक विशेष प्रकारका अन्न लाकर उससे उन्होंने रामदेवरावका दृष्टिदोष दूर किया। हेमाद्रि राजकाजी, विद्वान्, धर्मशास्त्रज्ञ, ग्रन्थकार और कलावान् थे। जिस राजनीतिज्ञतामें महाराष्ट्रके ब्राह्मणोंका इतना नाम है उसके सबसे पुरातन और प्रथम आदर्श हेमाद्रि हुए।

हेमाद्रिके आश्रित और समशील परम मित्र वोपदेव थे। यह श्रीकृष्णके उपासक थे। इनके पूर्वज वैद्य थे। इनके दादाका नाम महादेव और पिताका नाम केशव था। ये दोनों प्रसिद्ध वैद्य थे। केशवने 'सिद्धमन्त्र' नामक 'निघण्टु' लिखा, जो अब प्रकाशित हुआ है। इस ग्रन्थपर 'सिद्धमन्त्रप्रकाश' नामसे वोपदेवने टीका भी लिखी है। केशवने अपने 'सिद्धमन्त्र' में लिखा है—

लेभे जन्म महादेवादायुर्वेदं च भास्करात्।
सम्मानं सिंहराजाच्च केशवः कारकोऽस्य सः॥

अर्थात् इस सिद्धमन्त्रके कर्ता केशवके पिता महादेव थे, वैद्यकमें इनके गुरु भास्कर थे और इनके आदर करनेवाले आश्रयदाता सिंहराज अथवा सिंघण थे। इस श्लोकपर टीका करते हुए वोपदेवने लिखा है—*'महादेवो वेदपदाभिधानमहाराष्ट्रनिवासी विप्रः'* अर्थात् महादेव वेदपद नामक ग्राममें रहनेवाले 'महाराष्ट्र-

ब्राह्मण' थे । बोपदेवने अपने 'शतश्लोकी' नामक ग्रन्थमें वेदपद-का पुनः उल्लेख किया है और यह कहा है कि विदर्भ (वरार) देशमें वरदा नदीके तटपर वेदपद गाँवमें केशव और धनेश दो प्रसिद्ध वैद्य थे और बोपदेव धनेशका शिष्य और केशवका पुत्र है । मतलब यह कि केशवसुत बोपदेवने धनेशसे वैद्यककी शिक्षा प्राप्त की थी । हेमाद्रिने बोपदेवको आश्रय देकर अपने साथ रखा । दोनों पण्डित एक दूसरेके अनुपम मित्र हुए । बोपदेवका जन्म-संवत् १३१७ है । हेमाद्रि बोपदेवसे बड़े थे । बोपदेवके 'मुक्ताफल' पर हेमाद्रिने जो टीका लिखी,उसमें बड़े प्रेमसे कहा है—

यस्य व्याकरणे वरेण्यघटनास्फीताः प्रबन्धा दश
प्रख्याता नव वैद्यकेऽथ तिथिनिर्धारार्थमेकोऽद्भुतः ।
साहित्ये त्रय एव भागवततत्त्वोक्तौ त्रयस्तस्य भू-
म्यन्तर्वाणिशिरोमणेरिह गुणाः के के न लोकोत्तराः ॥

इस श्लोकसे यह मालूम होता है कि बोपदेवने व्याकरणके दस प्रबन्ध, वैद्यकके नौ, तिथिनिर्णय अर्थात् ज्योतिषका एक, साहित्यशास्त्रके तीन और भागवततत्त्वके तीन—सब मिलाकर छब्बीस प्रबन्ध लिखे । बोपदेवकी बुद्धिमत्ता और हेमाद्रिकी गुणज्ञता दोनों ही अलौकिक थीं, दोनोंकी विद्वत्ता और मित्रता भी असा-मान्य थी । हेमाद्रिने अनेक ग्रन्थ बोपदेवसे लिखवाये और बोप-देवने भी *'मन्त्रिहेमाद्रितुष्टये'* अर्थात् हेमाद्रिके सन्तोषके लिये बड़े आनन्द और उत्साहसे उन ग्रन्थोंको लिखा । 'मुक्ताफल' में बोपदेव कहते हैं—

विद्वद्धनेशशिष्येण भिषक्केशवसूनुना ।
हेमाद्रिर्वोपदेवेन मुक्ताफलमचीकरत् ॥

इसी प्रकार 'हरिलीला' में कहते हैं—

श्रीमद्भागवतस्कन्धोऽध्यायार्थादि निरूप्यते ।
विदुषा वोपदेवेन मन्त्रिहेमाद्रितुष्टये ॥

हेमाद्रि धर्म-शास्त्रमें पारंगत थे और वोपदेव व्याकरण और वैद्यकके ज्ञाता थे । दोनों ही श्रीकृष्णके भक्त थे और श्रीमद्भागवत-पर दोनोंकी ही बड़ी श्रद्धा थी । फिर भी प्रेमरस हेमाद्रिकी अपेक्षा वोपदेवमें अधिक दिखायी देता है ।

वोपदेवने श्रीमद्भागवतपर तीन बड़े ही सुन्दर ग्रन्थ लिखे । (१) हरिलीला—इस ग्रन्थमें वोपदेवने स्कन्धशः सम्पूर्ण भागवतका सार दिया है । (२) मुक्ताफल—इसमें भी भागवतका तात्पर्य बतलाया है । (३) परमहंसप्रिया—श्रीमद्भागवतपर वोपदेव-की यह टीका है । प्रथम दो ग्रन्थोंपर हेमाद्रिने वृद्धावस्थामें हरि-लीलाभाष्य और कैवल्यदीपिकाके नामसे टीकाएँ लिखीं । इन ग्रन्थोंके द्वारा हेमाद्रि और वोपदेवने भागवत-धर्मके प्रचारके उद्योग-में बड़ी भारी सहायता की । भागवत-ग्रन्थ वोपदेवको अत्यन्त प्रिय था । उन्होंने अपना यह भागवत-प्रेम एक सुन्दर श्लोकमें इस प्रकार व्यक्त किया है—

वेदः पुराणं काव्यं च प्रभुर्मित्रं प्रियावचः ।
बोधयन्तीति ह प्राहुस्त्रिवद्भागवतं पुनः ॥

अर्थात् 'वेद, पुराण और काव्य यथाक्रम प्रभु, मित्र और प्रियाके वचनके समान बोध करानेवाले हैं। परन्तु भागवतकी यह श्रेष्ठता है कि वेदोंके समान इसका प्रभुत्व है अर्थात् अधिकार-युक्त वाणीसे यह आदेश देता है, पुराणोंके समान मनोरञ्जक कथाएँ कहकर मित्रके नाते परामर्श देता है और काव्यके समान प्रियाके वचनोंकी मधुरताके साथ प्रेमसे सद्बोध कराता है।

अस्तु, हेमाद्रि और बोपदेवने अपनी विद्या और अधिकार-के बलपर भागवत-धर्मके प्रेमांकुरको सींचा तो सही, पर धर्म-प्रचारका असली काम विद्वानोंद्वारा और धार्मिक पण्डितोंद्वारा विशेष नहीं हुआ करता, इसके लिये ईश्वरी विभूतिकी ही आवश्य-कता होती है और ऐसी विभूतिके ऊपरसे नीचे उतर आनेके लिये पहले धर्मप्रेमकी शुभेच्छाका सञ्चार सामान्य जनोंमें होना आवश्यक होता है। यह बात श्रीज्ञानेश्वर महाराजके अवतारकालमें महाराष्ट्रमें कैसे हुई और महाराष्ट्र-धर्मके केन्द्रस्थान श्रीपण्ढरपुर-क्षेत्रमें भक्तोंने क्या-क्या उद्योग किये, यही अब देखना चाहिये।

वोपदेवने श्रीमद्भागवतपर तीन स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखे और अन्तमें उनपर मुकुट चढ़ानेके लिये 'मुकुट' नामक एक भागवत-साररूप ग्रन्थ और लिखा जिससे भागवतकी लोकप्रियताकी वृद्धि करानेमें बड़ी सहायता हुई। यह सब उन्होंने किया, पर भागवत-ग्रन्थ उन्होंने नहीं रचा। भागवत बोपदेवके बहुत काल पहलेसे प्रसिद्ध है। अठारह पुराणोंमें सर्वोत्तम पुराण श्रीमद्भागवत ही है और पहलेसे यह बात प्रसिद्ध है कि उसके कर्ता व्यास हैं। कुछ

विरुद्ध मतवादियोंका यह कहना है और इस कहनेमें आजकलके कुछ पण्डित भी उनके साथ हो लिये हैं कि भागवत कोई प्राचीन ग्रन्थ नहीं, यह वोपदेवकी रचना है। इसका सप्रमाण खण्डन हमारे मित्र त्र्यम्बक गुरुनाथ कालेने 'समालोचक' नामक मासिक पत्रके पचीसवें और उनतीसवें अंकमें तथा केसरीके ता० २८ फरवरी सन् १९११ और ता० ९ मई सन् १९११ के अङ्कोंमें बहुत ही अच्छी तरहसे किया है और यह प्रमाणित करके दिखा दिया है कि श्रीमद्भागवत व्यासकृत ही है। भागवतके टीकाकार श्रीधर-स्वामी संवत् ११५७ के लगभग जीवित थे; दूसरे टीकाकार चित्सुख और हनुमान् इनसे भी प्राचीन यानी आठवीं शताब्दीमें हो गये हैं; आचार्यके गुरु गौडपादाचार्यने अपनी उत्तरगीताकी टीकामें श्रीमद्भागवतका स्पष्ट उल्लेख किया है; शौनकके ऋग्विधान-में (जिसका समय ४०० या ५०० ई० है) भागवतका उल्लेख है; इन सब प्रमाणोंके द्वारा काले महोदयने यह सिद्ध किया है कि भागवत-ग्रन्थ बहुत प्राचीन है। ज्ञानेश्वरीमें भी भागवतके अनेक प्रसंग आये हैं और यह स्पष्ट उल्लेख है कि 'यह कल्पादि भक्ति जो भागवतमें ब्रह्मासे कही गयी, उत्तम जानकर मैंने धनंजयसे कही है।' (अ० १८ । ११३२)

(३) धर्म

पण्ढरपुरका भागवत-धर्म

श्रीज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ और तुकाराम ही महाराष्ट्रमें भागवत-धर्म-सम्प्रदायके मुख्य प्रवर्तक हुए। तथा पण्ढरपुरका यह

भक्ति-पन्थ इन सबके पूर्वसे चला आता है। पाण्डुरंग-कथा मूलतः पद्मपुराणमें है और ज्ञानेश्वर, नामदेवादिके पहले पण्ढरिनाथके अनेक भक्त महाराष्ट्रमें हुए। आलन्दीमें ज्ञानेश्वरके समाधि-मन्दिरके नीचे नदी-तटपर हरिहरेन्द्रस्वामीका मठ है। वहाँ दश-बारह वर्ष-पूर्व खोदकर निकाले एक मन्दिरपर संवत् १२६६ वैशाख-कृष्ण १० भौमवारका खुदा हुआ एक शिलालेख है। कोई कृष्णस्वामी थे जिनकी समाधिपर यह लेख है और इसकी पीठपर विट्ठल-रखुमाईकी मूर्तियाँ हैं। पण्ढरपुरमें श्रीविट्ठलभगवान्‌के मन्दिरमें गरुडपारका बड़ा आँगन पार करके—'सोलखांबी' (सोलह खम्भे-वाले स्थान) की ओर जानेके लिये तीन-चार पैडियाँ हैं। इन्हें चढ़ जानेपर जिस मण्डपमें आते हैं उसमें ऊपरकी ओर साढ़े सात फुट लम्बी और एक फुट दो इञ्च चौड़ी पुरानी शिला है। उस शिलाके तीन ओर देवनागरी-लिपिमें शाके ११५९ (संवत् १२९४) का एक संस्कृत-शिलालेख है। यह स्पष्ट नहीं पढ़ा जाता, पर जो अक्षर पढ़े गये हैं उनसे यह मालूम होता है कि सोमेश्वर नामक यादव-राजाने यह शिलालेख खुदवाया। राजाके नामके साथ 'पृथ्वीवल्लभ, महाराजाधिराज, सर्वराजचूडामणि' ये विरुद लगे हुए हैं। यह नाम द्वारपालका राज्य दखल करनेवाले और पन्हालके भोज राजाको जीतकर दक्षिणके अधिपति बननेवाले सिंघणदेव राजाका दूसरा नाम होगा अथवा उनके जीवितकालमें कुछ वर्ष देवगिरिका राज्यशासन करनेवाले 'दूसरे जैतुगी' का दूसरा नाम होगा। यह जो हो, इतना तो स्पष्ट ही है कि संवत् १२९४ में यादव-राजघरानेका सोमेश्वर नामक कोई बल-

शाली महाराष्ट्रीय राजा पण्ढरपुरमें आया था। इस शिलालेखसे इस बातमें कोई सन्देह नहीं रह जाता कि, 'सोमेश्वरने आस-पासके अन्य राजाओंको जीतकर संवत् १२९४ में भीमरथीके तटपर पण्डरिगे नामक महाग्राममें छावनी डाली थी। वहाँके लोग पुण्डलीक 'मुनि' का वड़े प्रेमसे चिन्तन करते थे और वहाँसे पन्द्रह मील दूर हिरियगरंज (पुलुञ्ज ?) नामक ग्रामके लोग प्रतिवर्ष भगवान्‌को कुछ भेंट चढ़ाते थे।' सोलापुर-गजेटियरमें यह विवरण लिखकर भगवानलाल आगे कहते हैं कि 'भगवान् विट्ठलकी उपासना इससे वहुत काल पहलेसे होती चली आती है, यही प्रमाणित होता है।' संवत् १२९४के शिलालेखमें 'पुण्डलीक मुनि' 'पण्डरिगे (पण्ढरपुर) महाग्राम' शव्द स्पष्ट पढ़े जाते हैं। 'गे' कानडी-भाषाका प्रत्यय है।

पण्ढरपुरमें शाके ११९२ (सं० १३२७) प्रमोद नाम संवत्सरका एक शिलालेख है। उसमें यह लिखा है कि देवगिरि-राज 'प्रौढप्रतापचक्रवर्ती महादेव यादव' के राज्य-कालमें एक काश्यपगोत्री ब्राह्मणने आप्तोर्याम नामक यज्ञ किया।

श्रीपण्ढरपुरक्षेत्र कम-से-कम एक हजार वर्षसे महाक्षेत्र माना जा रहा है। ज्ञानेश्वर, नामदेव, एकनाथ, तुकाराम आदि भक्तोंने पण्ढरीकी महिमा गायी, इससे वहुत पहलेसे ही पण्ढरी 'विट्ठलदेवराय' की नगरीके नामसे दक्षिणमें सर्वत्र प्रसिद्ध थी। पुण्डलीक*के पुण्य-प्रतापसे यह ईंटपर खड़ी सुन्दर मूर्ति कम-से-

---

* पुण्डलीक (या पुण्डरीक) परम भागवत थे। महाराष्ट्रके भागवत-धर्म-सम्प्रदायके यह आदिपुरुष हुए। इतिहासवेत्ता इनका

कम एक हजार वर्षसे प्रेमी भक्तोंको मोक्ष-दान कर रही है। पुण्डलीकका समय निश्चित करनेका कोई साधन उपलब्ध नहीं हुआ है। यह समय निश्चित हो जाय तो यह मालूम हो जायगा कि पण्ढरीके भक्ति-पन्थका कब आरम्भ हुआ। अभी तो जिस श्रद्धासे घर-घर लोग कहते हैं कि 'अट्ठाईस युगसे भगवान् ईंटपर खड़े हैं' वही श्रद्धा ठीक है। तेरहवीं शालिवाहन-शताब्दीमें ज्ञानेश्वर-नामदेव प्रभृति सन्तोंने पण्ढरीकी महिमा दिगन्तमें फैलायी, परन्तु इससे पहलेसे ही विट्ठलभगवान्के सम-

---

समय निश्चित नहीं कर सके हैं। यह अति प्राचीन-कालमें हुए। इन्हींके तपसे प्रसन्न होकर भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र महाराष्ट्रमें पधारे। जिस स्थानमें यह तप कर रहे थे वहीं भगवान् अवतीर्ण हुए। उनके आसनके लिये पुण्डलीकने पास पड़ी हुई एक ईंट दे दी। उसी ईंटपर भगवान् खड़े हुए। तबसे भगवान्की वह श्यामसुन्दर समचरण मूर्ति उसी रूपमें वहाँ खड़ी है। इसी स्थानका नाम पण्ढरी या पण्ढरपुर है जो पुण्डरीक-नामसे ही बना हुआ मालूम होता है। कहते हैं, अट्ठाईस युगोंसे पण्ढरिनाथ (पुण्डरीकके नाथ) भगवान् श्रीविट्ठलभगवान् (श्रीविष्णुभगवान्) यहाँ विराज रहे हैं। पाण्डव-गीतामें पूर्व-युगोंके कुछ परम भागवतोंका नमन है—

> प्रह्लादनारदपराशरपुण्डरीक-
> व्यासाम्बरीषशुकशौनकभीष्मदाल्भ्यान्।
> रुक्माङ्गदोद्धवविभीषणफाल्गुनादीन्
> पुण्यानिमान्परमभागवतान्नतोऽस्मि॥

सम्भव है यही पुण्डरीक पण्ढरपुर बसानेवाले परम भागवत हों, जिनका नाम आज भी महाराष्ट्रमें 'पुण्डलीक वरदे हरी विट्ठल' कहकर भगवान्के साथ ही लिया जाता और जय-जयकार किया जाता है।

—भाषान्तरकार

चरण भक्त-भ्रमरोंके चित्त आकर्षित किया करते थे। पण्ढरीमें विट्ठलभगवान्‌के देवालयमें 'चौरासी' का शिलालेख प्रसिद्ध है। उससे यह मालूम होता है कि संवत् १३३०में भक्तोंने मन्दिरके जीर्णोद्धारका काम आरम्भ किया और इस कामके लिये संवत् १३३४ तक श्रद्धालु लोगोंसे चन्दा लेनेका काम होता रहा। यह शिलालेख जिस शिलापर खुदा है उसपर पीठ रगड़नेको यात्रियोंसे पण्डे कहा करते हैं। यह शिला चार फुट दस इञ्च लम्बी और दो फुट नौ इञ्च चौड़ी है। इसपर पहली तीन पंक्तियाँ शिलाकी लम्बाईभरमें खुदी हैं और फिर आठ स्तम्भोंमें चन्देकी नामवार और खातेवार फिहरिस्त है। प्रथम तीन पंक्तियों-मेंसे दूसरी पंक्तिमें यह संस्कृत-श्लोक है—

स्तुत्यं नित्यमशेषसिद्धविबुधैर्भूत्यां विपृष्टं परं
श्रीकान्तं कमलेक्षणं सुरगणैर्गेयं मुदा कोमलम्।
कीर्त्यं भक्तजनैर्भृशं पुलकितानन्दाम्बुपूर्णेक्षणै-
र्वन्दे नन्दसुतं सुदावनमिलं भक्तानुगं(श्री)विट्ठलम्॥

तीसरी पंक्तिमें तत्कालीन मराठीका एक वाक्य है जिसमें यह लिखा है—

'स्वस्ति श्रीशाके ११९५ श्रीमुखनाम-संवत्सरमें फागनिपुर (फाल्गुनी पूर्णिमाको ?) श्रीविट्ठलदेवरायके लिये फूल-पत्ती यावच्चन्द्र-दिवाकर बराबर चढ़ती रहे इसलिये अनेक भक्तमण्डलोंने जो द्रव्य दान किया उसका ब्यौरा।'

इसके आगे आठ स्तम्भोंमें उन लोगोंके नाम हैं जिन्होंने पन्द्रह रुपये क़ीमतकी गद्यान-नामक सुवर्ण-मुद्राएँ दीं। इन नामोंमें कुछ पुरुषोंके नाम हैं, कुछ स्त्रियोंके नाम हैं, कुछ नाम महाराष्ट्रीय स्त्री-पुरुषोंके हैं और कुछ नाम कर्णाटक तथा तैलंग स्त्री-पुरुषोंके हैं। प्रत्येक स्तम्भमें जिसके द्वारा जो रकम वसूल हुई उसका भी नाम दिया हुआ है। इससे यह मालूम होता है कि चन्दा वसूल करनेके लिये कुछ खास आदमियोंका एक मण्डल नियुक्त किया गया था। चन्दा देनेवालोंकी इस नामावलीसे यह भी मालूम होता है कि कर्णाटक, तैलङ्गण, पैठण, कोंकण नगर इत्यादि सब भागोंसे भक्त भावुक लोग 'विट्ठलदेवरायके' दर्शनोंके लिये शाके ११९५ (संवत् १३३०) के पहलेसे ही आया करते थे। इस चौरासीके शिलालेखसे दो-चार बातें और भी ध्यानमें आती हैं। संवत् १३३० में इस शिलापर लेखकी खुदाई आरम्भ हुई और संवत् १३३४ में समाप्त हुई। इसके बादकी शिलाएँ कदाचित् पण्ढरीमें कहीं पुरानी इमारतोंमें लगी हुई या अभीतक भूमिमें ही गड़ी हुई हो सकती हैं! भक्तोंने आपसमें चन्दा करके श्रीविट्ठलदेवरायके मन्दिरका जीर्णोद्धार इस प्रकार आरम्भ किया और उसके लिये उन्होंने एक व्यवस्थापक-मण्डल भी नियुक्त किया। यह तो ठीक ही हुआ पर इससे भी अधिक आनन्दकी बात यह है कि इन राष्ट्रदेव श्रीविट्ठलभगवान्के मन्दिरके जीर्णोद्धारके कार्यमें तत्कालीन महाराष्ट्र-नृपतिने भी हृदयसे सहायता की थी। उपर्युक्त नामावलीमें दो नाम बहुत बड़े हैं। महाराष्ट्रके तत्कालीन राजा 'रामदेवराव जाधव' और उनके

सुप्रसिद्ध करणाधिप हेमाद्रि पण्डित उर्फ हेमाडपन्त भी इस राष्ट्रीय देवकार्यमें सहायक हुए थे। 'शाके ११९८ (संवत् १३३३) धाता-नाम संवत्सरमें फाल्गुन वदी २ सोमवार (?) को सोडवी-गाँवके हेमाड पण्डित' पण्ढरपुर गये थे और इसके दस मास अनन्तर 'स्वस्ति श्रीशाके ११९८ ईश्वर-नाम संवत्सरमें मार्गशीर्ष-शुक्ल १५ शुक्रवारके दिन श्रीविट्ठलदेवरायको पण्ढरी-सभाके अध्यक्ष श्रीजादवनारायग प्रौढ़प्रतापचक्रवर्ति श्रीरामचन्द्रदेवरायने' आचन्द्रार्क स्थिर रहनेवाली भेंट चढ़ायी। पर यह भेंट क्या थी या रकम कितनी थी, यह नहीं मालूम होता। अवश्य ही यह कोई बड़ी चीज या रकम होगी। राजाके सर्वाधिकारीने भी कुछ भेंट चढ़ायी। राजघरानेकी किसी स्त्रीने कुँआ खनवानेके लिये बहुत बड़ी रकम दान की। शिलालेखमें इन बातोंका उल्लेख करनेवाले अक्षर अन्य अक्षरोंकी अपेक्षा बड़े हैं और राजाके प्रति अपना पूज्य भाव व्यक्त करनेके लिये इस व्यवस्थापक-मण्डलने उनका नामोल्लेख 'स्वस्ति श्री' के साथ आरम्भ करके अन्त 'श्री-मंगलमहाश्री' के साथ किया है। लोग जिस कार्यको आरम्भ करते हैं, उसमें राजा भी सानन्द सम्मिलित हों, यह बात राजा और प्रजा दोनोंके लिये गौरवजनक है। ऐसे लोकाराधनतत्पर देव-प्रिय राजाकी जो प्रशंसा ज्ञानेश्वर-जैसे विरक्त महात्माने की है, वह यथार्थ ही है।

श्रीविट्ठलदेवरायके भक्तोंने बड़े कष्टसे जीर्णोद्धारके लिये यह धन संग्रह किया था। भगवान्‌के भोगके लिये सत्तू, गेहूँ, घी

इत्यादि जो पदार्थ भण्डारमें जमा किये जाते उनके विषयमें शिलालेखमें भण्डारीको यह कसम खिलायी गयी है कि उनमेंसे कोई भी चीज कोई उठा न ले जाय। इस प्रकार संवत् १३३० के लगभग श्रीविट्ठलभगवान्‌की भक्ति सम्पूर्ण महाराष्ट्रमें स्थापित थी। इसी शिलालेखमें आषाढ़ शुक्ल और कृष्ण एकादशी, आश्विन-शुक्ल प्रतिपदा, पूर्णिमा इत्यादि तिथियोंपर ही भगवान्‌को भेंट चढ़नेके उल्लेख हैं। इससे यह मालूम होता है कि आषाढ़ी-एकादशी तथा अन्य पूर्णिमाके दिन यहाँ यात्री अधिक आते थे। और आश्विनके नवरात्रका भी उत्सव पीछे होने लगा था। सम्पूर्ण शिलालेखमें रुक्मिणीका कहीं नाम नहीं है! श्रीविट्ठलका स्मरण अवश्य ही स्थान-स्थानमें 'श्रीविट्ठलदेवराय' कहकर बड़े प्रेमसे किया गया है। इस शिलालेखके चौंतीस वर्ष बाद खुदा हुआ एक शिलालेख पण्ढरीमें ही एक मकानमें लगा हुआ चोखामेला-की समाधिके समीप है। उसमें श्रीविट्ठलदेवरायको 'पण्ढरीपुर-वराधीश्वर पुण्डरिकवरद पाण्डवप्रजापालक भक्तजनसेवित सदा-प्रसन्न समुज्जीवलोकैकनाथ वैकुण्ठाधिपति देवराय' इत्यादि विशेषणोंसे विभूषित करके स्मरण किया है और 'पण्ढरिपुर' को 'श्रीमद्दक्षिणद्वारावति' कहा है।

उपर्युक्त विवरणसे यह बात स्पष्ट होती है कि दक्षिणके भागवत-भक्तोंने श्रीविट्ठलदेवरायकी पूजा-अर्चाको यह सार्वजनिक स्वरूप संवत् १३३०—३४ में प्रदान किया और उसे हेमाडपन्त या हेमाद्रि-जैसे विद्वान् और समर्थ राजकार्यधुरन्धरने तथा राम-

देवराय-जैसे तत्कालीन महाराष्ट्र भूपालने हृदयसे सहायता करके प्रोत्साहित किया। इसके आगेका विवरण इससे भी अधिक चित्ताकर्षक है। भक्तलोग और राजन्यवर्ग या शासकगण कोई संस्था स्थापित कर सकते हैं और द्रव्यबलसे उसे कुछ काल चला भी सकते हैं। पर उस संस्थाके लिये अन्दरसे जिस ईश्वरीय तेजकी आवश्यकता होती है वह सन्तोंसे ही प्राप्त हो सकता है। किसी भी संस्थामें प्राण डालनेके लिये ईश्वरीय विभूतियोंकी ही आवश्यकता होती है। भावुक जनोंके अत्युत्कट प्रेमसे गद्गद होकर भगवान् पण्ढरिनाथ अपने भक्तोंको वैकुण्ठसे महाराष्ट्रमें ले आये। स्वयं पण्ढरिनाथ श्रीज्ञानेश्वरके रूपमें प्रकट हुए और विसोबा खेचर, नामदेव, गोरा कुम्हार, साँवता माली, नरहरि सोनार, बंका महार, चोखामेला, जनमित्र, कूर्मदास, जनाबाई, चांगदेव* इत्यादि सन्तरत्नोंकी सहायतासे उन्होंने महाराष्ट्रपर

---

* विसोबा खेचर ब्राह्मण थे। पहले ज्ञानेश्वर महाराजकी निन्दा किया करते थे, पीछे उनके परम भक्त हुए। इन्होंने नामदेव-जैसे भक्तराजको गुरुमन्त्र दिया। इनकी कथा आगे आनेवाली है। नामदेव जातिके दर्जी थे, इनकी भक्ति और अधिकारका वर्णन प्रसंगसे पाठक आगे पढ़ेंगे। गोरा कुम्हार कुम्हार थे। इनका प्रसंग भी आनेवाला है। सांवता माली माली जातिके थे; यह भी परम भगवद्भक्त हुए। नरहरि सोनार सोनार थे, पहले बड़े कट्टर शैव थे यहाँतक कि श्रीविष्णुके दर्शन करना भी पाप समझते थे, पीछे परम वैष्णव हुए। उन्हें शिव-विष्णु-ऐक्यका बोध हुआ और परम भक्त हुए। बंका महार-जातिके थे, भक्तिके

भक्ति-ज्ञानानन्दकी वर्षा की। इन सन्तोंने महाराष्ट्रको सनाथ किया। इन्होंने भागवत-धर्मके अत्युच्च तत्त्वोंका परिचय समाजको करा दिया और सबमें भगवद्भावकी वृद्धि की। पण्ढरपुरको भक्तिपन्थका केन्द्र बनाया। भैंसेसे वेदमन्त्र कहलाना, चांगदेवका गर्व हरण करनेके लिये जड दीवारको चलाना, स्वर्गस्थ पितरोंको प्रत्यक्ष

बलसे इन्होंने भगवान्‌के दर्शन किये। चोखामेला चमार थे, श्रीविट्ठलके परम भक्त थे। चमार होनेके कारण इन्हें श्रीविट्ठलके मन्दिरमें कोई प्रवेश नहीं करने देता था; पर इसका इन्हें कोई विषाद नहीं था। यह परमात्माको सर्वत्र देखते थे और श्रीविट्ठलभगवान् इनके घर विराजते और इनके साथ भोजन करते थे। यह सगुण भक्तिकी मूर्ति थे। इनकी भक्तिके चमत्कार देखकर लोग इन्हें मानने लगे और इनका नाम अमर हुआ। जनमित्र और कूर्मदास भी परम भक्त हुए। जनाबाई शूद्र-कन्या थीं, अपने माता-पिताके साथ पण्ढरपुर-यात्रामें गयीं सो माता-पिताको छोड़ वहीं रह गयीं। भक्तराज नामदेवने इन्हें अनाथ जान अपने घर रखा। इनकी भक्तिका यह प्रताप था कि श्रीविट्ठल इनके घर जाकर इन्हें दर्शन दिया करते थे। एक बार भगवान् इनके घर अपने गलेका हार भूल आये। मन्दिरमें पूजाके समय हार ढूँढ़ा गया, कहीं न मिला; पता लगाते-लगाते जनाबाईके यहाँ मिला। चोरीका अभियोग लगा, सूलीपर चढ़ानेका हुक्म हुआ। जनाबाई जब सूलीपर चढ़ायी गयीं तब सूली गलकर पानी हो गयी। तब लोगोंने जाना कि जनाबाई कौन हैं? चांगदेव योगकी अनेक सिद्धियाँ पाये हुए थे। उनका बड़ा भारी अखाड़ा था, पीछे ज्ञानदेवकी शरणमें आये, मुक्ताबाईने उन्हें गुरूपदेश दिया। यह कथा 'चांगदेव और ज्ञानदेव' अध्यायमें पाठक आगे पढ़ेंगे। —भाषान्तरकार

भोजन कराना इत्यादि चमत्कारोंसे पैठणके ब्राह्मणोंका गर्व परिहार करके उनसे, अपनी वयस्के बारहवें वर्ष, शुद्धिपत्र प्राप्त करके ज्ञानदेव पण्ढरपुर गये और वहाँ भावुकोंको विट्ठलभक्तिका रहस्य बताकर उन्होंने सगुण-निर्गुण तथा भक्ति-ज्ञानका ऐक्य उनके हृदयोंमें जमा दिया। विट्ठल और श्रीकृष्ण एक ही हैं, इसलिये श्रीकृष्ण-मुखसे जो गीता संस्कृत-भाषामें प्रकट हुई थी उसका प्रचार महाराष्ट्र-मण्डलमें करनेके लिये ज्ञानदेवने शाके १२१२ (संवत् १३४७) में अपनी 'भावार्थदीपिका' प्रकट की। नामदेवकी विट्ठलभक्तिकी कथाएँ महाराष्ट्रमें बहुत प्रसिद्ध हैं। परमभक्त नामदेव पहले सगुण-भक्त ही थे। परन्तु सगुण-निर्गुण एक ही है और पण्ढरीके विट्ठल ही विश्वात्मक भगवान् या क्षराक्षरातीत पुरुषोत्तम हैं, यह ज्ञान उन्हें विसोबा खेचरसे प्राप्त हुआ।
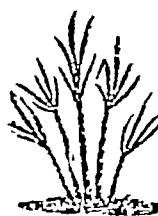
कुल-वृत्तान्त

वह कुल पवित्र है, वह देश पावन है जहाँ हरिके दास जन्म लेते हैं।

—तुकाराम

वंशावली

हरिहरपंत (आपेगाँवके कुलकर्णी)

- रामचन्द्रपन्त
  - गोपालपन्त
    - त्र्यम्बकपन्त
      - गोविन्दपन्त × निरावाई
        - विट्ठलपन्त × रुक्मिणीवाई
          - निवृत्तिनाथ (जन्म-संवत् १३३०)
          - ज्ञानेश्वर महाराज (सं० १३३२)
          - सोपानदेव (सं० १३३४)
          - मुक्तावाई (सं० १३३६)
      - हरिपन्त
- केशवपन्त
- मोहनावाई × नरहरपन्त माचवे (देवगडकर)
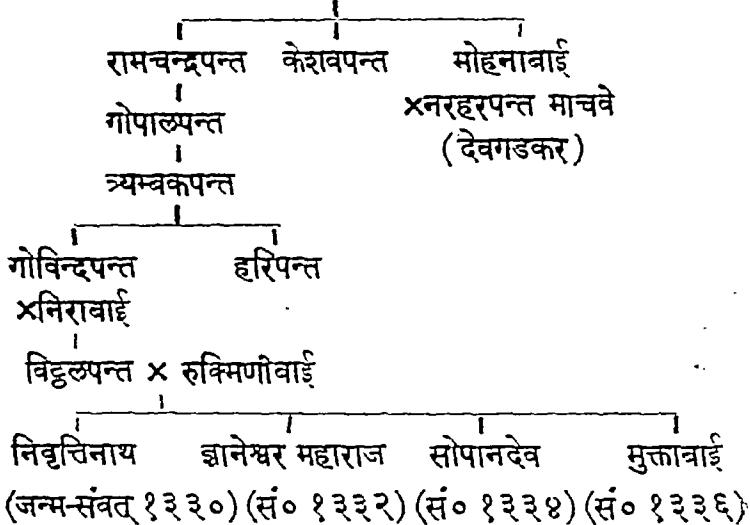
श्रीज्ञानेश्वर महाराजके पूर्वज पैठणसे चार कोसपर गोदावरी-के उत्तर-किनारे आपेगाँवके कुलकर्णी (पटवारी) थे। यह वृत्ति उनके यहाँ पूर्व-परम्परासे चली आयी थी। ये माध्यन्दिन-शाखाके यजुर्वेदी ब्राह्मण थे। इनका गोत्र पञ्चप्रवरान्वित वत्स था। ज्ञानेश्वर

महाराजके परदादाके परदादा हरिहरपन्त कुलकर्णी संवत् ११९५ के लगभग आपेगाँवका कुलकर्णका काम देखते थे। हरिहरपन्तके तीन सन्तान हुए, बड़े बेटेका नाम रामचन्द्रपन्त, छोटेका केशवपन्त और बेटीका नाम मोहनाबाई था। केशवपन्त यज्ञोपवीत होनेके एक वर्ष बाद जाते रहे। मोहनाबाई देवगढ़में नरहरपन्त माचवेके बेटेको ब्याही गयी थीं। रामचन्द्रपन्तने पिताके पश्चात् कुलकर्ण-का काम सँभाला। इनके पुत्र गोपालपन्त हुए। यह पिताके आज्ञाकारी और उन्हींके मार्गपर चलनेवाले थे। गोपालपन्तके एक ही पुत्र हुआ। इन्हींका नाम त्र्यम्बकपन्त था जो ज्ञानेश्वर महाराजके परदादा थे। यह बड़े पराक्रमी पुरुष थे और पीछे भगवद्भक्तोंमें विशेष प्रसिद्ध हुए। इनका चरित्र संक्षेपमें अव-लोकन करें।

त्र्यम्बकपन्तने यज्ञोपवीत होनेके पश्चात् देवगढ़ जाकर वेद-शास्त्रका अध्ययन किया। इनकी पूर्व-वयस् देवगढ़के यादव-राजाओं-की सेवामें व्यतीत हुई और उत्तर-वयस्में इन्होंने श्रीगोरक्षनाथकी कृपासे भगवच्चिन्तनका आनन्द लिया। इन्होंने पाँच वर्षतक बीड-देशके देशाधिकारीका काम किया। शाके ११२९ (संवत् १२६४) प्रभव-नाम संवत्सर, चैत्र-शुक्ल ५ इन्दुवासर प्रातःकाल घटि ११का एक राजाज्ञापत्र भिङ्गारकर महोदयने प्रकाशित किया है। उससे यह मालूम होता है कि जैत्रपाल महाराजने 'दशसहस्र यादव-मुद्रिका' पर उन्हें बीडदेशका अधिकारी नियुक्त किया और आज्ञा दी कि 'प्रान्त बीडमें प्रतिवर्ष जो आय हो वह

आप लें। नौकर-चाकर, हाथी-घोड़े, ऊँट—इन सबका यथा-उचित निर्वाह करें। श्रीराजाधिराजने दयालु होकर जिन अग्नि-होत्री और गुणीजनोंको अग्रहार दिया हो उनके साथ ऐसा बर्ताव करें कि उन्हें कोई दुःख न हो। प्रजाका पुत्रवत् पालन करें। राजाज्ञाके अनुसार बड़ोंका अनुसरण करें। राजाज्ञामें सदा तत्पर रहें, किसी प्रकार विरोध न करें।' इ० इस प्रकार राजाज्ञाके अनुसार त्र्यम्बकपन्तने पाँच वर्ष बीड-प्रान्तके देशाधिकारी-का काम किया। इन पाँच वर्षमेंसे तीन वर्ष दुर्भिक्षके बीते, जिससे उनकी बड़ी हानि हुई। अपने पाससे खर्च करके उन्होंने अनेक दुर्भिक्ष-पीड़ितोंकी प्राणरक्षा की और सबके धन्य आशीर्वाद-भाजन हुए।

इनके गोविन्दपन्त और हरिपन्त दो पुत्र थे। गोविन्दपन्त घर ही रहकर कुलकर्णका काम देखते थे। हरिपन्तमें पराक्रम करके पिताकी कीर्ति बढ़ानेकी धुन समायी। शाके ११३५ (संवत १२७०) श्रीमुखनाम-संवत्सर मार्गशीर्ष शु० ७ गुरुवारका एक राजाज्ञापत्र है जो देवगिरिवराधिप सिंघणराज महाराजका लिखा हुआ है और जिससे यह माल्रम होता है कि देवगिरिसे दस योजन दक्षिण पार्वत्य-प्रदेशमें करंजे उपनामके देशमुख (परगना-हाकिम) ने बगावत की, 'राजसभाका द्रोह किया' और तीन हजार आदमी नौकर रखकर राहचलतोंको लूटना आरम्भ किया; तब उसे दण्ड देनेके कामपर सिंघणराजाने जसवन्तसिंह और हरिपन्त 'सेनानायक' को पाँच हजार पैदल, दो हजार अश्वा-

रोही, सौ हाथी, पाँच सौ ऊँट, एक हजार 'लुण्ठकजेठी', चार सौ रण-वाद्य बजानेवाले और एक हजार सेवकजन, इस प्रकार शस्त्रोंसहित सैन्यबल देकर भेजा। सैन्यके निर्वाहके लिये दो लाख यादव-मुद्राएँ दीं और यह आज्ञा दी कि, यह सम्पूर्ण पार्वत्य-प्रदेश आक्रान्त कर डालें, 'शत्रुको पीठ न दिखावें, रिपु पराजय करें, दृढ़तासे युद्ध करें, श्रीकी कृपासे' पूर्ण विजय होगी। इस प्रकार 'हरिपन्त बिन त्र्यम्बकपन्त कुलकर्णी सेना-नायक' उस बार्गी देशमुखपर चढ़ गये, पर उस वीरसे युद्ध करते हुए उनकी देह असिधारातीर्थमें गिरी। होनहार पुत्रका अन्त हुआ देख त्र्यम्बकपन्त बहुत दुखी हुए और सब काम छोड़कर आपेगाँवमें लौट आये। इस बातका उन्हें बड़ा पश्चात्ताप हुआ कि राज-सेवा और कुटुम्ब-भरणमें ही सारी आयु गँवा दी! अब उन्होंने शेष जीवन भगवच्चरणोंमें लगाकर सार्थक करनेका निश्चय किया। कर्म-धर्म-संयोगसे इसी समय गोरक्षनाथ महाराज तीर्थाटन करते हुए आपेगाँवमें पधारे। त्र्यम्बकपन्त उनकी शरणमें गये और उनके अनुग्रह-पात्र हुए। श्रीज्ञानेश्वर महाराजकी पूर्व-परम्परामें भगवद्-भक्तके नाते त्र्यम्बकपन्त ही प्रथम पुरुष हुए। नामदेवरायने मुक्ताबाईकी समाधिपर जो अभङ्ग रचे हैं उनमें कहा है कि 'भक्त त्र्यम्बकपन्त मूलपुरुष हुए, जिनकी समाधि आपेगाँवमें है।'

त्र्यम्बकपन्तके ज्येष्ठ पुत्र गोविन्दपन्तके, उनकी सहधर्मिणी निराबाईसे, वयस्के पचपनवें वर्ष, एक पुत्र हुआ जिसका नाम विट्ठल रखा गया। यही विट्ठलपन्त श्रीज्ञानेश्वर महाराजके पिता

हैं। निराबाई पैठणवासी कृष्णाजीपन्त देवकुलेकी बहन थीं। यह देवकुले-घराना अभीतक पैठणमें है। वेदमाता गायत्रीके पुरश्चरण-से गोविन्दपन्तके विट्ठलपन्त हुए। पैठणके ब्राह्मणोंने आगे ज्ञानेश्वर महाराजको जो शुद्धिपत्र दिया है उसमें *'श्रीवेदमातुः सुतं'* कहकर श्रीविट्ठलपन्तका नामोल्लेख किया है। विट्ठलपन्त बचपन-से ही वैराग्यशील थे। गोविन्दपन्त और निराबाई दोनोंको गोरक्षनाथके शिष्य गैनीनाथसे ब्रह्मोपदेश प्राप्त हुआ था। गैनीनाथने अपनी झोलीमेंसे भभूत निकालकर निराबाईको दी और जलके साथ मिलाकर उसे पी जानेको कहा। उनके इस प्रसादसे निराबाईके गर्भ रहा। 'श्रीज्ञानेश्वरका आदि' नामक ग्रन्थमें नामदेव कहते हैं कि विट्ठलपन्तके रूपमें 'मूर्तिमन्त वैराग्य' ही जन्मा और उनका यह वैराग्य अन्धा नहीं बल्कि 'आँखोंवाला' था। विवेकयुक्त वैराग्य ही सच्चा वैराग्य होता है और वही ठहरता भी है। ज्ञानके बिना जो वैराग्य होता है वह अन्धा होता है। विट्ठल-पन्त विवेक-वैराग्य साथ लिये उत्पन्न हुए। सातवें वर्ष उनका यज्ञोपवीत-संस्कार हुआ और उन्हें गायत्रीका उपदेश मिला। इसके पश्चात् पैठणमें मामाके घर रहकर उन्होंने वेद-पठन किया, काव्य और व्याकरण पढ़ा और अच्छे शास्त्र-वक्ता हुए।' अल्प-कालमें ही वेद-शास्त्राध्ययन पूर्ण करके उन्होंने तीर्थाटनके लिये पितासे आज्ञा ली।

ज्ञानाञ्जनसे नेत्र उन्मीलित हो चुके थे, तीर्थ-यात्राका आनन्द लेने तथा मार्गमें जो साधु-सन्त मिलते उनके सत्संगसे लाभ उठानेकी

पूर्ण सामर्थ्य थी। शास्त्राध्ययन और फिर तीर्थाटन करनेकी पद्धति बहुत प्राचीनकालसे चली आयी है। प्रतिपद और प्रतिक्षण हरि-चिन्तन करते हुए विट्ठलपन्त तीर्थ-यात्रा करने लगे। सबसे पहले वह मुमुक्षुओंकी विश्रान्ति श्रीकृष्णमूर्तिके दर्शन करने द्वारका गये, वहाँसे पिण्डारक पहुँचे। पिण्डारकसे सुदामानगरी (पोरबन्दर) होकर उस मूलमाधवतीर्थमें गये जहाँ रुक्मिणीका विवाह हुआ था। फिर भालुकातीर्थमें गये जहाँ भगवान् श्रीकृष्णने अपनी अवतार-लीला समाप्त की। वहाँसे प्रभास (सोरठी सोमनाथ), मुचकुन्दगुफा इत्यादि तीर्थोंके दर्शन करते हुए नासिक जिलेमें सप्तश्रृङ्गीतीर्थमें पहुँचे। पश्चात् त्र्यम्बकेश्वर जाकर कुशावर्तमें स्नान करके और गंगाद्वारको वन्दनकर ब्रह्मगिरिकी सव्य-परिक्रमा की। त्र्यम्बकेश्वरके दर्शन करते हुए उन्हें यह ध्यान न हुआ होगा कि मेरा पुत्र भागवत-धर्मकी पताका फहराकर इसी स्थानमें समाधि लेने आवेगा, परन्तु इस भक्त-कुलके भावी दीपकका भावी चरित्र देखकर त्रिकालकी सभी बातोंको अपने त्रिनेत्रोंसे देखनेवाले श्रीत्र्यम्बकेश्वरको बड़ा आनन्द हुआ होगा। विट्ठलपन्तके हृदयको विवेक-वैराग्यसे निर्मल हुआ देखकर त्र्यम्बकेश्वरकी प्रेमवृत्ति उमड़ आयी होगी और उन्होंने ही उनके घर जन्म ग्रहण करनेका निश्चय किया होगा और उनके जीवन-क्रमका नकशा आगे लिखे अनुसार तैयार किया होगा। अस्तु, प्रतिपद भगवान्का नाम-घोष करते हुए विट्ठलपन्त भीमाशंकरसे अलंकापुरी अर्थात् आलन्दी पहुँचे।

जिस क्षणमें इन्द्रायणीके तटपर विट्ठलपन्तके पाँव लगे उस क्षणके गर्भमें भविष्यकालकी कितनी ही घटनाएँ छिपी हुई थीं। अनेक तीर्थोंकी यात्रा करके रास्तेमें आलन्दीको भी एक तीर्थ जानकर वहाँ घूमते-घामते पहुँच गये थे। पर इनका यह पहुँचना कितनी बड़ी कारण-परम्पराका सूत्रपात था! वहाँके कुलकर्णीकी कन्यासे इनका विवाह हुआ। कुछ काल पश्चात् तीव्र वैराग्य उत्पन्न होनेसे स्त्रीको छोड़कर यह चले गये, काशीमें जाकर रामानन्दस्वामीसे इन्होंने दीक्षा ली, चैतन्याश्रम नाम धारणकर संन्यासी हुए, रामानन्दस्वामी काशीसे तीर्थयात्राको चले, आलन्दीमें उन्होंने डेरा डाला, वहाँ अश्वत्थ-परिक्रमा करती हुई विट्ठलपन्तकी पत्नीको 'पुत्रवती भव' कहकर उन्होंने आशीर्वाद दिया, सारा रहस्य खुलनेपर उन्होंने चैतन्याश्रमस्वामीको फिर गृहस्थाश्रममें जानेकी आज्ञा दी, शास्त्रोल्लङ्घनके लिये उनपर अत्याचार भी हुए, इस संन्यासीके फिर निवृत्ति, ज्ञानदेव, सोपान, मुक्ताबाई-जैसे अलौकिक रत्न उत्पन्न हुए, इनके द्वारा भागवत-धर्मका डंका बजा और लोग भक्तिमार्गमें प्रवृत्त हुए। संन्यासी-पुत्र ज्ञानेश्वरके द्वारा ज्ञानेश्वरी, अमृतानुभव-जैसे अनुपम ग्रन्थ-निर्माण हुए, नामदेवादि सब जातियोंके सन्त उनके पीछे हो लिये और अखिल महाराष्ट्रमें भक्ति-पन्थका जय-जयकार हुआ। एकनाथ, तुकारामादि सन्तोंने ज्ञानेश्वरके चलाये भक्ति-पन्थको और भी पुष्ट किया और उस कल्पवृक्षकी छायामें बैठकर लाखों जीव त्रितापसे मुक्त हो गये! यह सारा इतिहास उसी एक क्षणके गर्भमें छिपा हुआ था। यह कारण-परम्परा यदृच्छासे हुई हो, ऐसा नहीं है, यह उस जगच्चालक परमात्माके

इच्छाबलसे ही उत्पन्न हुई थी, यही मानना पड़ता है! ईश्वरी इच्छासे विट्ठलपन्तने आलन्दीमें पाँव रखा और उसी पाँवपर पाँव रखकर यह कारण-परम्परा बड़े वेगसे आगे बढ़ती गयी। पीछेकी लहर जैसे आगेकी लहरको ढकेलती हुई आगे आती है, वैसे ही पिछला कारण अगले कारणको कार्यका रूप देता हुआ और स्वयं भी पिछले कारणका कार्य होता हुआ प्रवाहरूपसे चला जा रहा है।

विट्ठलपन्त आलन्दीमें आकर श्रीसिद्धेश्वरके देवालयमें ठहरे। आलन्दीके कुलकर्णी सिधोपन्त त्रिप्रवरी वासिष्ठ गोत्री ब्राह्मण, बड़े सदाचारी और ज्ञानी पुरुष थे। इन्हें अच्छी आय थी, चौबीस गाँवोंके कुलकर्णी थे। इनकी सहधर्मिणी उमाबाई भी धर्मानुकूल थीं और इनका गृहाश्रम सुखपूर्वक चल रहा था। इन परोपकाररत और अतिथिसत्कारतत्पर दम्पतिके एक उपवर कन्या थी। इसके लिये सिधोपन्त उपयुक्त वर ढूँढ़ रहे थे। वह ऐसा वर चाहते थे जो विद्वान् हो, सदाचारी हो और भगवद्भक्त हो। विट्ठलपन्तकी वयस् अधिक नहीं थी और ज्ञान-वैराग्य-बलका तेज उनके शरीरपर चमक रहा था। आलन्दीमें रहते हुए यह नित्य स्नान-सन्ध्या-देवपूजन आदि कर्म करके तीसरे पहर उपनिषद्-भाष्यादि देखा करते थे। आलन्दीमें आये हुए इस नवीन पथिकका ढंग सिधोपन्तने जो देखा वह उन्हें पसन्द आया, तब उन्होंने उसके कुल-शीलके सम्बन्धमें उसीसे पूछ-ताँछ की, तब तो यह उन्हें जँच ही गये। उन्होंने मन-ही-मन यह ठान लिया कि इस सुशील युवकको अपना जामाता बनाना चाहिये। पर पूरी परीक्षा तब हो

ब यह अपने घर पन्द्रह दिन आकर रहें। यह सोचकर सिवो-
न्त उन्हें बड़े आदरके साथ अपने घर ले गये और अच्छी तरहसे
उन्होंने उन्हें परख लिया। रात-दिन उसी ध्यानमें रहनेसे कहिये
अथवा ईश्वरी इच्छासे कहिये, सिवोपन्तको यह स्वप्न भी हुआ कि,
'तुम अपनी कन्या इसी वरको ब्याह दो, इससे इसके गर्भसे दिव्य सन्तान
उत्पन्न होकर तुम्हारे कुलका उद्धार करेंगे।' दूसरे दिन चार प्रतिष्ठित
पुरुषोंको बुलाकर उनके सामने सिवोपन्तने विट्ठलपन्तसे विवाहका
प्रस्ताव किया और अपना स्वप्न भी बता दिया। इसपर विट्ठलपन्त-
ने हँसकर उत्तर दिया, 'माता-पिता आपेगाँवमें हैं। मैं तीर्थयात्रा-
के निमित्तसे साधु-सन्तोंसे मिलने बाहर निकला हूँ। अभी मुझे रामे-
श्वरतक दक्षिण-यात्रा करके लौटना है। और फिर अभी मुझे
विवाह करनेकी आज्ञा भी नहीं मिली है।' यह उत्तर सुनकर सिधो-
पन्त चुप बैठ गये, पर मजेदार बात यह हुई कि उसी रात्रिमें
तुलसी-वृन्दावनपर सोये हुए विट्ठलपन्तको श्रीविट्ठलभगवान्‌ने स्वप्न
दिया, 'तुम इस वधूका पाणिग्रहण करो, इसके उदरमें भगवान् जन्म
लेंगे और तुम्हारे कुलका तथा विश्वका उद्धार करेंगे। यह भाग
तुम्हारा नियत है और तुम्हींको यह स्वीकार करना चाहिये।'
स्वप्नकी यह बात विट्ठलपन्तने सिधोपन्तसे कह दी। सिधोपन्तको
तो सुनकर बड़ा ही आनन्द हुआ। यह ईश्वरी इच्छा है, यह
जानकर दोनों पक्ष विवाहके लिये तैयार हुए। विवाहके लिये
ज्येष्ठ मासका अन्तिम मुहूर्त ही शेष रह गया था। माता-पिताको
ले आनेका भी अवकाश नहीं रह गया। सिधोपन्तने बड़े ठाटसे

सब काम किया और अलंकारोंसमेत कन्यादान किया। अपने मनके अनुकूल दामाद मिले, इस बातसे सास-ससुर बहुत ही सुखी हुए।

विवाह-संस्कार सुसम्पन्न होनेके पश्चात्, आषाढ़ी एकादशी समीप जानकर विट्ठलपन्तने पण्ढरी जानेका विचार किया। सिधो-पन्त भी परिवारके सब लोगोंको साथ लेकर उनके साथ हो लिये। राह चलते हुए विट्ठलपन्त 'हृदयमें विट्ठल-मूर्ति धारण किये मुखसे नाम-कीर्ति गाते जाते थे।' उनका यह प्रेम देखकर सिधोपन्तको बड़ा सन्तोष हुआ और जब वह पण्ढरपुरमें पण्ढरि-नाथके देवालयमें पहुँचे, तब उन्होंने कन्या और जामाताको श्रीविट्ठल-के चरणोंपर डाला। चार दिन वहाँके आनन्दपूर्ण कीर्तनोत्सवको अनुभवकर सिधोपन्त आलन्दी लौट आये और विट्ठलपन्त उनकी आज्ञा लेकर दक्षिण-यात्राको चले। कृष्णा, कावेरी, तुङ्ग-भद्राके पावन तीर्थोदकमें स्नान करके और श्रीशैल, वेंकटाद्रि, रामेश्वर, शिवकाञ्ची, विष्णुकाञ्ची, गोकर्ण, हटकेश्वर, कोल्हापुर, कर्हाड, माहुली आदि क्षेत्रोंमें तद्देवताओंके दर्शन करके आलन्दी आ गये। सिधोपन्तने बड़े प्रेमसे उनका स्वागत किया।

चार दिन आलन्दीमें रहकर विट्ठलपन्त माता-पिताके दर्शनोंके लिये बड़ी उत्सुकतासे चले। सिधोपन्त भी अपने सम्ब-न्धियोंसे मिलनेके लिये बहुत उत्सुक थे। वह भी कन्या और जामाताके साथ हो लिये। बहुत कालके बाद पुत्र घर लौट आया इससे विट्ठलपन्तके माता-पिताको बड़ा आनन्द हुआ और फिर

विवाह करके सहधर्मिणीके साथ उनका आगमन देखकर उनके आनन्दकी सीमा न रही । समधी समधीसे मिले । वस्त्रालङ्कार देकर सिधोपन्त अपने ग्रामको लौटे । गोविन्दपन्त और निराबाई-को वृद्धावस्थामें पुत्र और वधूके मुख देखकर परम सन्तोष होता था । कुछ काल इस सुखमें रहनेके पश्चात् वृद्ध माता-पिता पर-लोक सिधारे । विट्ठलपन्त आनन्दपूर्वक गृहाश्रमका निर्वाह करने लगे । आनन्द यही कि विट्ठलपन्त सर्वथा निश्चिन्त थे । गृहाश्रम-सम्बन्धी कोई चिन्ता उन्हें नहीं थी । उनका चित्त भगवान्‌के चिन्तनमें रहकर अखण्ड समाधान अनुभव करता था । पर यह निर्योग-क्षेमकी अवस्था उस समय रुक्मिणीबाईके उतनी अनुकूल नहीं थी । वह देखती थीं; प्रपञ्चमें पतिका बिल्कुल ध्यान नहीं है, सदा भगवच्चिन्तनमें ही मगन रहते हैं, इस तरह प्रपञ्च कैसे चलेगा ? यह सोचकर उन्होंने यह सारा हाल अपने पिताको सूचित किया । सिधोपन्त आपेगाँवमें आये और प्रेमसे विनती करके कन्या और जामाताको आलन्दीमें ले गये । विट्ठलपन्तके वहाँके जीवन-क्रमका वर्णन नामदेवरायने किया है—

'अलंकापुरमें आये और चित्तको समाहित करके क्षेत्र-वास करने लगे । नित्य हरि-कथा और नाम-संकीर्तन होता था । और सन्तोंके दर्शन होते थे । आषाढ़ी और कार्तिकी एकादशीको पण्ढरीकी यात्राएँ होती थीं । इस प्रकार विट्ठल एकाकी सुखरूप हो गये थे ।'

निरञ्जन माधव बतलाते हैं—

'वह यदृच्छा-लाभ-सन्तुष्ट रहते हुए परम सहजानन्दमें निमज्जित रहते थे। सदा योगाभ्यासमें और भगवान् तथा श्रीगुरुके चरणोंमें ही उनकी रति रहती थी। मुखसे 'नारायण हरि' का ही नामोच्चारण होता था और न्यायपूर्वक कालक्रमण करते थे।'

इस प्रकार कुछ काल बीतनेके पश्चात् जब सन्तान होनेका कोई लक्षण नहीं देखा गया तब विठ्ठलपन्त रुक्मिणीबाईसे यह तकाजा करने लगे कि, 'मैं अब काशीमें जाकर रहना चाहता हूँ। तुम मुझे संन्यास लेनेकी अनुमति दे दो। रुक्मिणीबाई पतिके वैराग्यसे पहलेसे ही सावधान थीं। उन्होंने अपने पितासे उन्हें कहलवाया कि सन्तान हुए बिना संन्यास आप नहीं ले सकते। तथापि एक बार जब रुक्मिणीबाई असावधान-सी थीं और इन्होंने पास आकर कहा कि, 'मैं गङ्गास्नान करने जाना चाहता हूँ।' रुक्मिणीबाईने कहा, 'तो जाइये', बस, इतनेसे ही विठ्ठलपन्तका काम बन गया। वह वहाँसे जो निकले सो सीधे काशी पहुँचे।

महीपतिबाबाने भक्त-विजय (अ० ८) में कहा है कि, 'जैसे सँपेरेसे साँप छूटकर जंगलमें अपने बिलमें चला जाय अथवा तोता पिंजरेसे निकलकर पेड़पर जा बैठे वैसा ही स्वातन्त्र्य-सुख इन्हें भी मिला। प्रयागमें उन्होंने माघ-स्नान किया और फिर काशी गये। वहाँ रामानन्दस्वामीके पास गये, स्वामीने उनपर अनुग्रह किया। स्वामीसे इन्होंने झूठ ही कह दिया कि, 'मैं अकेला हूँ, स्त्री-पुत्रादि किसीका भी मुझे कोई बन्धन नहीं है। अनुताप होनेसे आपकी शरणमें आया हूँ।' रामानन्दस्वामीने इनके सच्चे

वैराग्यको देखकर इन्हें मन्त्रदीक्षा दी और संन्यास दिया। उस समय काशीमें रामानन्दस्वामी बहुत प्रसिद्ध थे और उनके सैकड़ों शिष्य थे। कहते हैं, महात्मा कबीर भी इन्हींके शिष्य थे।

अस्तु, रुक्मिणीबाईको भी कानों-कानों यह खबर लगी कि विट्ठलपन्तने काशीमें जाकर संन्यास ले लिया है। यह जानकर उन्हें अत्यन्त दुःख हुआ, संसार उनके लिये अन्धकार हो गया। तथापि रात-दिन रोते बितानेके बजाय उन्होंने अपना जीवन सफल करनेका दूसरा मार्ग अवलम्बन किया। नित्य ब्राह्ममुहूर्तमें उठतीं, इन्द्रायणीमें स्नान करतीं, मध्याह्नकालतक अश्वत्थकी परिक्रमाएँ करतीं, मुखसे नाम-जप करतीं, एकवेणी और एकभुक्त रहतीं, कोई लौकिक बात न सुनतीं, न कहतीं, इस प्रकार रात-दिन भगवान्‌की सेवामें रहती थीं। इस प्रकार बारह वर्ष उन्होंने 'उग्र अनुष्ठान' किया। भूमि तो पहलेसे ही शुद्ध थी और फिर ऐसा तीव्र वैराग्य! काया कञ्चन हो गयी। उस महासतीका यह अनुष्ठान निष्काम था, फिर भी वह सेवा भगवान्‌को स्वीकृत और सफल हुई।

रामानन्दस्वामी सौ-पचास शिष्योंको संग लिये रामेश्वरकी यात्राके लिये निकले। संयोग ऐसा हुआ कि रास्तेमें आलन्दीमें उन्होंने डेरा डाला। स्वामी आलन्दी कैसे पहुँचे? इस शंकाका समाधान निरञ्जनमाधवने यह कहकर किया है कि 'सतीके तपके कारण अश्वत्थनारायण स्वामीको खींच ले आये।'

स्वामी हनुमान्‌जीके देवालयमें ठहरे थे। रुक्मिणीबाई नित्यके समान हनुमान्‌जीके दर्शन करने गयीं। दर्शन करके उन्होंने रामानन्दस्वामीको देखा और यह जानकर कि ये कोई महात्मा हैं, उन्हें प्रणाम किया। भगवान्‌की कुछ ऐसी प्रेरणा हुई कि स्वामीने *'पुत्रवती भव'* कहकर उन्हें आशीर्वाद दिया। सुनकर विस्मयसे रुक्मिणीबाईके हँसी आ गयी। स्वामीने हँसनेका कारण पूछा। उस सतीने उत्तर दिया—'मेरे पति काशी जाकर संन्यासी हो गये हैं, आपका आशीर्वाद ऐसी अवस्थामें कैसे पूरा होगा? यही सोचकर मुझे हँसी आ गयी।' स्वामीने सब हाल पूछा और वयस् तथा हुलिया मिलाकर उन्होंने ताड़ लिया कि 'हो-न-हो यह चैतन्याश्रमस्वामी बने हुए व्यक्तिका ही किस्सा है।' यह सोचकर स्वामीका हृदय कुछ कम्पित-सा हुआ। फिर स्वामीने रुक्मिणीबाईसे पूछा, 'तुम्हारे घर और कौन-कौन हैं?' उन्होंने उत्तर दिया, 'माँ-बाप हैं।' स्वामी तुरन्त सिधोपन्तके घर गये। सिधोपन्तने सद्भावसे उन्हें अर्घ्य प्रदान किया, पूजा की और भोजन कराया। पतिकी कुशल-क्षेम जानकर उस साध्वीको बड़ा सन्तोष हुआ, पर स्वामी बहुत चिन्तित हुए। यह सोचने लगे कि 'सन्तानहीन युवती स्त्रीको छोड़कर जो संन्यास ग्रहण करते हैं वह शिष्य और ऐसे शिष्यके गुरु दोनों ही शास्त्रसे दण्डनीय हैं।' सिधोपन्तने उदासीका कारण पूछा तो उन्होंने कहा कि 'इसके कारण मेरा सारा पुण्य नष्ट हो रहा है।' अस्तु, स्वामीने रामेश्वर-यात्राका संकल्प त्याग दिया और काशी लौट गये। सिधोपन्त भी अपनी स्त्री और कन्याको साथ लिये उनके

साथ काशी गये। उन्हें अन्यत्र टिकाकर स्वामी अपने मठमें गये। चैतन्याश्रम वहाँ मौजूद ही थे। उन्हें इस बातका आश्चर्य हो रहा था कि स्वामी इतनी जल्दी कैसे लौट आये! इसी आश्चर्यमें डूबे वह खड़े थे, इसी बीच स्वामीने जरा भृकुटी चढ़ाकर उनसे कहा—'चैतन्य! अपना सच्चा हाल बता दो। मैं आलन्दी होकर आया हूँ।' आलन्दीका नाम सुनते ही चैतन्याश्रम घबराये और उन्होंने अपना सारा हाल बताकर स्वामीके पैर पकड़ लिये। इतनेमें सिधोपन्त भी अपनी कन्याके साथ वहाँ आ धमके। नामदेव 'आदि' ग्रन्थमें आगे कहते हैं—

'श्रीपादने उन्हें उठाकर आश्वासन दिलाया और कहा कि 'अब अपनी इस अर्धाङ्गिनीको ग्रहण करो। अवैध कर्मका भय मत करो, जगदीश इसमें सहाय हैं। अपने देशको लौट जाओ और स्वधर्म-पालनके लिये गृहस्थाश्रममें रहो। श्रीपादने चैतन्यके मस्तकपर हाथ रखा और उन्हें विदा किया।'

गुरुकी आज्ञासे पुनः अपनी सहधर्मिणीको स्वीकारकर चैतन्याश्रम फिर गृहाश्रमी बने और विट्ठलपन्त तथा रुक्मिणीबाईको साथ लिये सिधोपन्त आलन्दी लौट आये।

विट्ठलपन्त संन्यासीसे पुनः गृहस्थ हुए, तबसे स्वभावतः ही लोग उनकी निन्दा करने लगे और तरह-तरहसे उन्हें कष्ट देने लगे। नामदेवरायने जैसा कहा है कि द्विजोंने उनका बहिष्कार किया, दुनियाँने उन्हें छोड़ दिया और आप्तोंने भी उनकी कोई परवा नहीं की। विट्ठलपन्तके गृहस्थाश्रमका यह

द्वितीय संस्करण दुष्टजनोंके चर्चाका मुख्य विषय हो गया। जिस-तिसके मुँहसे यही बात निकलती कि संन्यासी फिरसे गृहस्थ कैसे हो गया ! कोई विट्ठलपन्तको विषय-लम्पट कहता, कोई रामानन्दस्वामीकी निन्दा करता और कोई रुक्मिणीबाईको भला-बुरा कहता। इस तरह जितने मुँह उतनी बातें सुननेमें आने लगीं। विट्ठलपन्तके वैराग्य, धैर्य, साम्य और ज्ञानकी परीक्षाका समय था। श्रीमद्भगवद्गीताके बारहवें अध्यायमें भगवान्‌ने कहा है कि *'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्', 'समदुःखसुखः क्षमी', 'अनपेक्षः शुचिर्दक्षः' 'यो न हृष्यति न द्वेष्टि', 'तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी'* ऐसा पुरुष *'स मे प्रियः'* मुझे प्रिय है। परीक्षामें उत्तीर्ण होकर जो अपने-आपको ऐसा प्रमाणित करे उसीको भगवान् अपने भक्तोंकी पंक्तिमें बैठावेंगे। ऐसी कठिन परीक्षा देनेके लिये पहले तो कोई तैयार ही नहीं होता और जो कोई तैयार होते हैं उनमेंसे विरला ही कोई अन्ततक ठहरता है। सच्चे भक्त ऐसी विपत्तियोंसे नहीं डरा करते, प्रत्युत वे इस तरह अपनी जाँच करानेकी इच्छा किया करते हैं। शरीरको प्रारब्धके भरोसे रखकर अच्छे-बुरे सभी अवसरोंको सानन्द सहकर भक्तजन सदा आत्मानुसन्धानमें ही लगे रहते हैं। विट्ठलपन्तकी ऐसी कठिन परीक्षा हुई और वह उसमें उत्तीर्ण हुए, यह बतलानेकी आवश्यकता नहीं। महीपतिबाबाने भक्तविजय (अ० ८) में लिखा है—

'जननिन्दाकी जितने जोरसे बाढ़ आती थी उतनी ही सघन शान्ति इनके हृदयमें उत्पन्न होती थी। इनकी ऐसी विलक्षण

और निरुपम करनी थीं कि काम और क्रोध इनके पासतक पहुँच ही न पाते थे। द्विजोंने इन्हें बिरादरीके बाहर कर दिया, आप्तोंने सम्बन्ध त्याग दिया और यह जङ्गलमें झोपड़ी बनाकर स्त्रीके साथ रहने लगे। कुटुम्ब-पोषणके लिये यह थोड़ी भिक्षा माँग लाते और अहर्निश नाम-स्मरण करते थे, एक क्षणके लिये भी नाम-स्मरण खण्डित न होता था। गीता और भागवतका श्रवण और मनन करते, चित्तमें अखण्ड समाधान रखते। इस प्रकार बारह वर्ष पूरे हुए, तब सन्तान-प्राप्ति हुई।'

निरञ्जनमाधव भी बतलाते हैं—

'चैतन्याश्रम गृहाश्रम करने लगे, यह ब्राह्मणोंने सुना और उनके कुलका ही त्याग कर दिया। जो उनके मित्र थे उन्होंने उनका दर्शन करनातक छोड़ दिया, फिर वन्दन करने कौन जाता? इनके लोकनिन्दित पथको देखकर कोई भी इन्हें कैसे मानता? इनका इतना उपहास हुआ कि कहीं इन्हें भिक्षा-तक न मिलती। तब कभी तृण और पत्ते या फल-फूल खाकर और कभी केवल जल पीकर यह रहने लगे। कभी-कभी वायु-भक्षण करके रह जाते और कभी करतल-भिक्षान्नपर ही निर्वाह करते। इस प्रकार द्वादश वर्षकाल पूरा हुआ, पर उनका चित्त कभी मायाके वश नहीं हुआ।'

संन्यास-दीक्षा लेकर पुनः गृहस्थाश्रम स्वीकार करना शास्त्र-के विरुद्ध होनेसे लोगोंने विठ्ठलपन्तके साथ जो व्यवहार किया वह स्वाभाविक ही था। इसके लिये न तो लोगोंको दोष दिया

जा सकता है, न विट्ठलपन्तको ही दोषी कह सकते हैं। *'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते'* यह भगवान्की ही आज्ञा है; इसलिये कोई यदि शास्त्रके विरुद्ध आचरण करे तो उसके विरुद्ध आन्दोलन करना लोगोंका कर्तव्य ही है और इसके लिये उन्हें दोष नहीं दिया जा सकता। कुछ लोग अवश्य ही स्वभावधर्मानुसार आवश्यकतासे अधिक कड़ाईसे पेश आये होंगे; पर त्रिगुणात्मक लोकव्यवहारमें तो ऐसी बातें हुआ ही करती हैं। अब विट्ठल-पन्तकी ओर देखिये तो उन्हें भी कैसे दोषी कह सकते हैं, जब केवल गुरुकी आज्ञाका पालन करनेके लिये ही वह गृहाश्रमी हुए थे? विषय-भोगके लिये उन्होंने गृहस्थाश्रममें पुनः प्रवेश नहीं किया था, इसके विपरीत तीव्र वैराग्यके कारणसे ही उन्हें घर छोड़कर चल देनेका मोह हुआ था। और स्वयं रामानन्द-स्वामीका भी इसमें क्या दोष है? 'मेरे स्त्री-पुत्र कोई नहीं हैं' इस प्रकार झूठ बोलकर संन्यास-दीक्षा पाये हुए शिष्यसे इस असत्य-भाषणका प्रायश्चित्त करानेके लिये ही गुरुको ऐसी असामान्य व्यवस्था देनी पड़ी! सन्तति होनेके पश्चात् सहधर्मिणीकी सम्मतिसे संन्यास लिया जा सकता है। इस शास्त्रीय व्यवस्थाका उल्लंघन करके अकालमें ही संन्यास लेनेकी अधीरता विट्ठलपन्तने की, इसलिये वृद्ध होनेपर भी उन्हें बहुत कालतक गृहस्थाश्रममें रहना पड़ा। अस्तु, यह सब तो ठीक ही हुआ, पर यहाँ एक बात और विचारणीय है। निवृत्ति, ज्ञानेश्वर, सोपानदेव और मुक्ताबाई-जैसे जन्मतः ही ज्ञानियोंके जन्मके लिये भूमि भी तो वैसी ही योग्य होनी चाहिये थी। यदि ऐसी

कल्पना की जाय कि ये अपने लिये योग्य माता-पिताकी खोजमें थे तो यह सोचनेकी बात है कि विट्ठलपन्त-जैसे विवेक-वैराग्य-शील पिता और बारह वर्ष उग्र अनुष्ठान किये हुई रुक्मिणीबाई-जैसी तपस्विनी माता उन्हें अन्यत्र कहाँ मिलती ? विट्ठलपन्तको अकालमें ही संन्यास लेनेकी जो सूझी उससे रुक्मिणीबाईको बारह वर्ष उग्र तप करनेका अवसर मिला और इस प्रकार पति-पत्नीके विवेक, वैराग्य, तप और भगवत्-प्रेम आदि गुणोंसे युक्त होते ही ज्ञानेश्वरादि ब्रह्मनिष्ठ उनके गर्भमें आ गये। ये अपने योग्य माता-पिता ढूँढ़ रहे थे, वे उन्हें कहीं नहीं मिले तब विट्ठल-रुक्मिणीको उन्होंने तीव्र तपका अवसर दिया। इससे जब दोनों परम पावन हुए तब उनकी कोखसे इन्होंने जन्म लिया। शास्त्राज्ञा हम मनुष्यों-को पालन करनी ही चाहिये, शास्त्राज्ञा न मानें तो हमारा अधः-पतन होगा; परन्तु वेद, शास्त्र और पुराण जिसके गुण गानेवाले चारण हो रहे हैं उस विश्वात्माके लिये अथवा उसका सन्देशा लेकर आनेवाले महात्माओंके लिये भी हमारी ही तरह शास्त्र-निर्बन्ध प्रतिबन्धक हो सकते हैं, यह समझना भूल है। इस दृष्टिसे विचार करते हुए यह समझमें आता है कि ज्ञानेश्वर महाराजने संन्यासी पिताका पुत्र होना क्यों स्वीकार किया ? सकल-कामना-त्यागरूप जो संन्यास है उसीके उदरमें ही तो ज्ञान उत्पन्न हो सकता है।

'शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥'
'अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम् ।'
(गीता ६ । ४१-४२)

गीताके इन श्लोकोंपर ज्ञानेश्वर महाराजने जो भाष्य किया है उसे पढ़ते हुए ऐसा मालूम होता है मानो महाराज अपने चरित्रके

ही उक्त प्रसङ्गका रहस्य बतला रहे हों । योगभ्रष्ट महात्मा दैवी सम्पत्तिके धनीके घर अथवा मोक्षलक्ष्मीसे अलंकृत योगियोंके पवित्र कुलमें निष्पाप माता-पिताके ही उदरमें जन्म लेता है, इस विषयको समझाते हुए ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं—

'जो नीति-पथपर चलता है, सत्यसे धोयी निर्मल वाणी ही जो बोलता है, जो कुछ देखता है शास्त्र-दृष्टिसे ही देखता है, वेद जिसके हृदयमें जागता रहता है, अपना आचार ही जिसका व्यवसाय है, सारासार-विचार जिसका मन्त्री है, जिसके कुलमें चिन्ता ईश्वरकी पतिव्रता हो चुकी है, ग्रह देवतादि जिसकी ऋद्धि हैं; ऐसा पुण्य जिसने जोड़ा हो, सर्वसुखका साधन जिसने बढ़ाया हो उसीके यहाँ योगच्युत जन्म लेता है ।'

माँ-बापके आचार-विचार जैसे होते हैं, उनकी सन्तति भी उसी श्रेणीकी होती है । महात्माओंके माता-पिताके चरित्रोंका सूक्ष्म अवलोकन करनेसे सर्वत्र यही बात देखनेमें आती है कि उनमें महात्माओंके माता-पिता होनेकी ही योग्यता थी । 'भाँगमें तुलसी' या 'सूर्यके सनीचर' वाली कहावतें सामान्य नियम नहीं बल्कि अपवाद दरसानेवाली हैं । इसके विपरीत 'जैसी खान वैसी मट्टी' या 'जैसा बीज वैसा अङ्कुर' वाली कहावत ही सामान्य सिद्धान्त बतलानेवाली है । आनुवंशिक संस्कार और जीवका स्वतन्त्र कर्म, इन दोनों तत्त्वोंका ऐक्य *'शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टो-ऽभिजायते'* इस उत्तम सिद्धान्तमें हो जाता है । ज्ञानेश्वर महाराजका अवतार एक विशेष कार्यके लिये हुआ और इसके लिये उन्होंने

ऐसे 'शुचि और श्रीमान्' माता-पिता चुन लिये जिनके यहाँ जन्म लेनेसे अपने कार्य-गौरवका महत्त्व स्पष्ट हो सकेगा। माता-पिता-को अपने अनुरूप सन्तान-लाभ हुआ और सन्तान भी अपने अनुकूल माता-पिताके यहाँ आ गये। ये दोनों बातें समुचित ही हुईं। ज्ञानेश्वर महाराजके समान ही कपिल महामुनि श्रीविष्णुके अवतार थे। विट्ठलपन्त और रुक्मिणीबाईके समान ही कपिल महामुनिके माता-पिता कर्दमऋषि और देवहूतिके चरित्रमें भी ऐसा ही वैराग्य और तप जगमगा रहा है। पितरोंका वैराग्य, ज्ञान, पावित्र्य, तपाचरण और निर्विषयत्व लोकोत्तर कोटिका हुए बिना लोकोत्तर विभूतियोंका जनकत्व उन्हें नहीं प्राप्त हो सकता। देवहूतिके समान रुक्मिणीबाईका पातिव्रत्य और तपाचरण तीव्र था। रामानन्दस्वामीको जब उन्होंने पहले-पहल वन्दन किया तब उनकी मूर्ति रामानन्दस्वामीने देवहूतिके समान ही—

> कालेन भूयसा क्षामां कर्शितां व्रतचर्यया।
> सरजं बिभ्रती वासो वेणीभूतांश्च मूर्धजान्।
> अङ्गं च मलपङ्केन संछन्नं शबलस्तनम्॥
>
> (श्रीमद्भा० ३। २३। ५, २५)

—परन्तु तपस्तेजसे दीप्तिमान् देखी। देखकर उनके हृदयमें उनके प्रति आदर-भाव उत्पन्न हुआ और वह तीर्थयात्रा छोड़कर काशी लौट गये और विट्ठलपन्तके कानमें यह मन्त्र फूँका कि, 'इसे तुम ग्रहण करो, इसके उदरसे ईश्वरांशका अवतार होगा।'

अस्तु । श्रीगुरुप्रसादसे और विट्ठल-रुक्मिणीके अत्युत्कट पुण्यबलसे, उनके निवृत्ति, ज्ञानदेव, सोपानदेव और मुक्ताबाईका—दो-दो वर्षका अन्तर देकर—जन्म हुआ । अनुमानतः आपेगाँवमें ही इन सबका जन्म हुआ ।

जन्म-काल

१—निवृत्तिनाथ—संवत् १३३० (शाके ११९५) श्रीमुखसंवत्सर फाल्गुन कृष्ण १ प्रातःकाल ।

२—ज्ञानेश्वर महाराज—संवत् १३३२ (शाके ११९७) युवासंवत्सर भाद्र कृष्ण ८ मध्यरात्रि ।

३—सोपानदेव—संवत् १३३४ (शाके ११९९) ईश्वरसंवत्सर कार्तिक शुक्ल १५ रात्रि एक प्रहर ।

४—मुक्ताबाई—संवत् १३३६ (शाके १२०१) प्रमाथिसंवत्सर आश्विन शुक्ल १ मध्याह्न ।

ये चार जन्म क्या हुए, चार सूर्य ही प्रकट हुए । विट्ठलपन्त और रुक्मिणीबाई क्या थीं, परमात्मा और उनकी शक्ति थीं और उनसे निवृत्तिनाथ, ज्ञानदेव, सोपान-रूपसे हरि, हर, ब्रह्मा ही पैदा हुए । ये चार बच्चे नहीं बल्कि चतुर्विध मोक्ष अथवा चतुर्विध पुरुषार्थ ही साकाररूपमें अवतीर्ण हुए । उद्बोधनाथ बतलाते हैं कि श्रीज्ञानेश्वर महाराजका जन्म आपेगाँवमें हुआ और समाधि उन्होंने आलन्दीमें ली । नामदेवने समाधिपर जो अभंग रचे हैं उनमें भी इसका उल्लेख है । श्रीज्ञानेश्वर महाराजके जन्म और जन्मकालके सम्बन्धमें सन्तोंके वचन इस प्रकार हैं—

जनाबाई कहती हैं—'शाके ११९५ में निवृत्तिनाथ प्रकट हुए। ९७ में ज्ञानदेव आये। ९९ में सोपानदेव पहुँचे। १२०१ में मुक्ताबाई आयीं। इन्होंने कमाल किया।'

नामदेव कहते हैं—'शाके ११९७ युवानाम संवत्सरके वर्षाऋतु भाद्रमासमें जन्माष्टमीकी रातको निशाकर उदय हुए। पञ्चमहापातकी जनोंके उबारनेके लिये नारायण ही मृत्युलोकमें आ गये। पूर्णब्रह्म ज्ञानेश्वरने अलंकापुरीमें अवतार लिया।'

विसोबा खेचर कहते हैं—'मेरे गुरु ज्ञानेश्वर महाविष्णुके अवतार थे। ११९७ युवानाम संवत्सर वर्षाऋतु श्रावणमास (भाद्र) कृष्णपक्ष पर्वदिवस अष्टमीकी अपर रात्रिमें निशापति उदय हुए। विट्ठल-रुक्माईके उदरसे विश्वोद्धारके लिये हृषीकेश अवतीर्ण हुए। उनके चरणोंमें वन्दन करता हूँ।'

'ज्ञानेश्वरविजय' कार सच्चिदानन्दबाबा कहते हैं—'श्री-शालिवाहन भूपतिके ११९७ वें वर्ष युवानाम संवत्सरमें भाद्रकृष्ण अष्टमी गुरुवार पर्वकाल परार्धरजनी रोहिणीनक्षत्रमें देवगण विमानपर बैठे पुष्पवृष्टि कर रहे थे, क्योंकि उस समय विट्ठल-रुक्मिणीके उदरसे स्वयं जगत्पति अवतीर्ण हुए।'

गुरु-सम्प्रदाय

श्रीगुरुके प्रसन्न होनेसे शिष्य विद्या प्राप्त कर लेता है। पर उसका फल सम्प्रदायकी उपासनासे ही प्राप्त होता है। —ज्ञानेश्वरी

गुरु-परम्परा
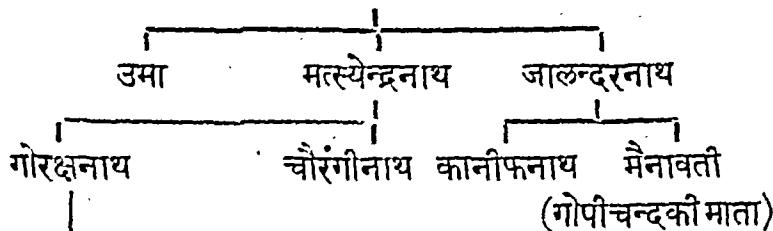
निवृत्तिनाथ, ज्ञानेश्वर, सोपानदेव और मुक्ताबाई आपसमें खेलते, विनोद करते और बचपनसे ही परमार्थकी बातें किया करते थे। इनकी हालत जैसी कुछ थी, वैराग्यको बढ़ानेवाली ही थी। विट्ठलपन्तको ब्राह्मणोंने बिरादरीसे अलग कर दिया था, इस कारण उनका सब समय घरपर ही स्त्री-पुत्रोंके साथ बीतता था। रुक्मिणीबाई कुएँपर पानी भरने जातीं, कभी नदीपर कपड़े धोनेके लिये चली जातीं तो उस समय गाँवकी स्त्रियाँ उनकी ओर देखकर चाहे जो बका करती थीं। बच्चे यदि कहीं जाते तो छोटे-बड़े सभी उन्हें 'संन्यासीके बच्चे' कहकर उनके पीछे पड़ते और उन्हें तरह-तरहसे कष्ट देते थे। किसीको बिरादरीसे अलग करनेकी अपेक्षा कोई और गुरुतर दण्ड समाज नहीं दे सकता। सबसे बड़ा और सबसे अधिक असह्य दण्ड यही है। जाति-बहिष्कृत मनुष्यको उपहास, निन्दा और अन्य कष्ट नित्य ही सहने पड़ते हैं। सब प्रकारकी रुकावटोंका उसे सामना करना पड़ता है। जाहिलोंकी यह धारणा होती है कि ऐसे मनुष्यको कष्ट देना बुरा नहीं बल्कि बड़ा भारी पुरुषार्थ और बड़ी भारी धर्मसेवा है। ब्राह्मणोंने ही जब विट्ठलपन्तको बहिष्कृत कर दिया तब अन्य जातियोंके लोग भी, जहाँतक होता था, उनसे भागते थे। विट्ठलपन्त और रुक्मिणीने ऐसी विपत्तिमें कई वर्ष बिताये। यह विपत्ति बच्चोंको भी भोगनी पड़ी। निवृत्तिनाथ प्रभृति बालक, जैसा कि नामदेवरायने कहा है, 'जन्मतः ही ज्ञानी' थे और उनकी बुद्धिकी प्रगल्भता, उनका ज्ञान, उनके संवाद और उनके साधुत्वके स्पष्ट लक्षण देखकर उनके माता-पिता परम आनन्दित होते थे।

निवृत्तिनाथ सात वर्षके हुए तब विट्ठलपन्तको यह चिन्ता हुई कि इसका उपनयन-संस्कार कैसे हो। संन्यास-दीक्षा लेकर फिर गृहस्थाश्रममें प्रवेश किया हो, ऐसा कोई उदाहरण विट्ठल-पन्तके पूर्व देखने या सुननेमें नहीं आया था। ऐसी अवस्थामें संन्यासीके लड़कोंका उपनयन एक बड़ा ही विकट प्रश्न था और इसकी कोई आशा नहीं थी कि इस प्रश्नका निर्णय विट्ठलपन्तके अनुकूल हो। विट्ठलपन्तने इसके लिये बड़ी कोशिश की, पर उनसे कोई सीधी तरहसे बात भी नहीं करता था, फिर उनका पक्ष कौन लेता? अन्तको रुक्मिणीबाईकी सलाहसे यह विचार स्थिर हुआ कि इसके लिये कोई अनुष्ठान ही करना चाहिये। अनुष्ठानके निमित्त विट्ठलपन्त स्त्री-पुत्रोंको साथ ले त्र्यम्बकेश्वर गये। वहाँ उनका यह नित्यक्रम था कि मध्यरात्रिमें कुशावर्तमें स्नान और ब्रह्मगिरिकी सव्य परिक्रमा करते। इस प्रकार छः महीने बीते, तब एक दिन निवृत्तिनाथके भाग्योदयका समय उपस्थित हुआ।

रातका समय था। ब्रह्मगिरिकी परिक्रमा करने सब जा रहे थे। रास्तेमें सामनेसे एक विकराल बाघ कूदता-फाँदता आता हुआ नजर आया। विट्ठलपन्त घबरा गये। वह बच्चोंको सँभालनेमें लगे, उतनेहीमें निवृत्तिनाथ रास्ता भूल गये और भागते हुए न जाने कहाँ निकल गये। भागते-भागते वह अञ्जनीपर्वतकी एक गुफामें घुसे। अन्दर दो शिष्योंसहित गैनीनाथ तपाचरणमें निमग्न थे। हमने कहा, निवृत्तिनाथ रास्ता भूलकर उस गुफामें आये, पर ऐसा न कहकर यह कहना अधिक ठीक होगा कि

भवारण्यमें रास्ता भूलकर वह भटक रहे थे, वह भटकना उनका पूरा हुआ और उन्हें वह ठीक रास्ता मिला जिससे वह सीधे सद्गुरुके समीप पहुँच गये। उनके सीसपर जटा, कानोंमें कुण्डल, कण्ठमें सेली, हाथमें सिंगी और पुंगी धारण किये श्रीमुखसे सद्गुरु-नामका घोष कर रहे थे। उस सिद्धाश्रममें श्रीगैनीनाथको इस प्रकार देखकर निवृत्तिनाथ उनके चरणोंपर लोट गये। गैनीनाथ भी उस सुकुमार बालकको देखकर बहुत प्रसन्न हुए। ध्रुवको जैसे नारद मिले, वैसे ही निवृत्तिनाथको गैनीनाथ मिले। गैनीनाथने निवृत्तिनाथको अधिकार-सम्पन्न शिष्य जानकर ब्रह्मबोध कराया। निवृत्तिनाथ सात दिन गुरुके पास ही रहे। गुरुने उन्हें महावाक्यका उपदेश किया और योगमार्गकी दीक्षा दी। गैनीनाथ-ने शिष्यको क्या बोध कराया, कैसे क्या योग सिखाया और किस प्रकार स्वरूपानुभव प्राप्त करा दिया यह सब वे ही जान सकते हैं और बतला सकते हैं जो सम्प्रदायमें प्रवेश कर कृतार्थ हुए हों। गैनीनाथ आदिनाथ-सम्प्रदायके थे। उन्होंने निवृत्तिनाथको अपने सम्प्रदायमें मिला लिया और श्रीकृष्णकी उपासना बतलाकर नाम-स्मरणका प्रचार करनेकी आज्ञा दी।

निवृत्तिनाथकी वयस् अभी बहुत ही कम थी, परन्तु '*न खलु वयस्तेजसो हेतुः*' के न्यायसे पूर्व-संस्कार-बलसे गुरुका कराया हुआ सम्पूर्ण बोध उन्होंने अपने अन्दर जगाया और वही बोध उन्होंने अपने भाई-बहिनको कराकर उन्हें भी अपने सदृश ही कृतार्थ किया। अठारहवें वर्ष जिस महात्माने ज्ञानेश्वरी-जैसा

अद्वितीय ग्रन्थ निर्माण किया, उन्हें गुरुका अनुग्रह भी जल्दी ही प्राप्त हुआ। महात्माओंकी सभी बातें अलौकिक होती हैं। ग्रन्थोंको रटकर उन्हें विद्यार्जन नहीं करना पड़ता। उनका विद्यार्जन केवल स्मरण करना है। श्रीमच्छंकराचार्यने आठवें वर्षमें चारों वेद अधीत किये, बारहवें वर्ष सब शास्त्रोंका अध्ययन पूरा किया और सोलहवें वर्ष भाष्य लिखकर बत्तीसवें वर्ष अपना अवतार-कार्य समाप्त किया।

अष्टवर्षे चतुर्वेदी द्वादशे सर्वशास्त्रवित्।
षोडशे कृतवान् भाष्यं द्वात्रिंशे मुनिरत्यगात्॥

निवृत्तिनाथ और ज्ञानेश्वर आचार्यकी ही कोटिके पुरुष थे और इनके चरित्र भी वैसे ही हृदयस्पर्शी और महान् हैं। निवृत्तिनाथ गुरुकी आज्ञा लेकर कुछ दिन बाद लौट आये। माँ-बाप और भाई-बहिनसे मिले और ज्ञानेश्वर महाराजको उन्होंने उपदेश दिया। श्रीज्ञानेश्वर महाराज अपनी वयस्‌के ८ वें वर्षमें ही श्रीनिवृत्तिनाथ सद्‌गुरुसे उपदेश पाकर पूर्णत्वको प्राप्त हुए। अब उनके गुरु-सम्प्रदायके सम्बन्धमें यहाँ दो-एक बातें कहते हैं। आदिनाथ शंकर इस सम्प्रदायके कुलगुरु हैं। आदिनाथके प्रधान शिष्य मत्स्येन्द्रनाथ हुए, मत्स्येन्द्रनाथके गोरक्षनाथ, गोरक्षनाथके गैनीनाथ, गैनीनाथके निवृत्तिनाथ और निवृत्तिनाथके शिष्य श्रीज्ञानेश्वर महाराज अथवा नाथ-सम्प्रदायकी भाषामें कहें तो, ज्ञाननाथ हुए। श्रीनिवृत्तिनाथ एक अभंगमें कहते हैं—

"आदिनाथ महेशने उमामाताको बीज (रहस्य) बताया। वही अनायास सहज स्थितिमें मत्स्येन्द्रको प्राप्त हुआ। मत्स्येन्द्रने वही प्रेममुद्रा गोरक्षनाथको दी और गोरक्षनाथने गैनीनाथपर वही पूर्णकृपा की। वैराग्यसे तपे हुए गैनीनाथ उस प्रेमसे शान्त हुए। उन्हें वह शान्ति-सुखकी निधि ही मिल गयी। पृथ्वीपर निर्द्वन्द्व और निःशंक होकर विचरते हुए उनके हृदयमें वह सुखानन्द स्थिर हो गया। निवृत्तिनाथको विरक्तिका पात्र और अन्वयका मुख अर्थात् निवृत्ति और प्रवृत्तिके समन्वय अथवा नाथ-सम्प्रदायके प्रचारका उत्तम साधन जानकर गैनीनाथने उन्हें सम्यक् अनन्यता (अनन्य प्रेम) देकर उनपर पूर्ण कृपा की और निवृत्तिनाथ कहते हैं कि 'उनके दिये हुए कृष्णनामसे मेरा यह कुल पावन हो गया।' निवृत्तिनाथने गुरुसे प्राप्त हुआ उपदेश ज्ञानदेव, सोपान और मुक्ताबाई तीनों भाई-बहिनको देकर कृतार्थ किया। निवृत्तिनाथ ही तीनों भाई-बहिनके गुरु हुए। उन्होंने ही भगवत्तत्त्व इनके 'हाथोंमें दिया'।"

ज्ञानेश्वर महाराजने 'ज्ञानेश्वरी' के उपसंहारमें अपने सम्प्रदायके सम्बन्धमें लिखा है—

"क्षीरसागरके तटपर त्रिपुरारि आदिनाथ शंकरने शक्ति (पार्वती) के कानोंमें जो ज्ञान बताया—कब बताया मालूम नहीं—वही क्षीरकल्लोलके भीतर एक मत्स्यके पेटमें गुप्तरूपसे रहनेवाले मत्स्येन्द्रनाथको प्राप्त हुआ। उस ज्ञानका यह प्रताप था कि मत्स्येन्द्रनाथ सञ्चार करते-करते जब सप्तशृंगपर आये तब वहाँ

पड़े हुए छिन्नावयव चौरंगीनाथ उनके दर्शन पाते ही पूर्णावयव हो गये, पर इस उपाधिका विस्तार न हो और अखण्ड समाधि-सुख बना रहे इसलिये मत्स्येन्द्रनाथने (अपना ज्ञान याने) अपनी प्रेममुद्रा गोरक्षनाथको दी। गोरक्षनाथ योगकमलिनीके सरोवरमें थे (अर्थात् योगविद्यामें पूर्ण थे) और विषय-विध्वंस करनेके काममें परम शूर थे। ऐसे योगनिष्ठ और विरक्त गोरक्षनाथको सर्वेश्वरपदपर अभिषिक्त किया। गोरक्षनाथने वह शाम्भव (शम्भूसे प्राप्त) अद्वयानन्द वैभव सप्रभव (शक्तिसहित) गैनीनाथको दिया। गैनीनाथने प्राणियोंको कलिसे ग्रस्त देखकर निवृत्तिनाथको आज्ञा दी कि 'आदिगुरु शंकरसे शिष्य-परम्परासे जो ज्ञान मुझतक चला आया है वह यह लो मैं तुम्हें देता हूँ। कलि जिन जीवोंको निगल गया है उन्हें जल्दी जाकर दुःखसे उबारो।' एक तो निवृत्तिनाथ स्वयं ही दयावान् थे; दूसरे, गुरुकी ऐसी आज्ञा हुई; फिर क्या पूछना है! वर्षा करनेके लिये सदा ही उत्सुक रहनेवाले मेघ जैसे वर्षाकाल आनेपर क्षुब्ध हो उठते हैं वैसी ही उनकी भी अवस्था हुई। त्रितापदग्ध आर्तजनोंके आर्तनादसे विकल होकर गीतार्थको निमित्त करके निवृत्तिनाथने शान्तिरसकी जो वर्षा की वही यह ग्रन्थ (भावार्थदीपिका याने ज्ञानेश्वरी) है! उस समय मैं आर्त होकर उनके पास (चातकके समान अनन्य होकर) बैठा था, मुझपर उन्होंने कृपा की और मुझे यह यश दिया।" ज्ञानेश्वर महाराजका एक अभङ्ग साम्प्रदायिकोंमें विशेष प्रसिद्ध है और आलन्दीमें तो नित्य ही प्रातःकाल ज्ञानेश्वर महाराजकी पञ्चपदी-आरती करते समय कहा जाता है। उसका आशय यही है कि

"सब सिद्धोंके गुरु आदिनाथ हैं। उनके मुख्य शिष्य मत्स्येन्द्र हुए। मत्स्येन्द्रने गोरक्षको बोध कराया। गोरक्षने गहिनीको रहस्य बताया। गहिनीका प्रसाद निवृत्तिनाथको मिला और निवृत्तिनाथसे ज्ञानदेवको मिला।"

ज्ञानेश्वर महाराजकी गुरु-परम्परा आदिनाथ—गोरक्षनाथ—गैनीनाथ—निवृत्तिनाथ—ज्ञानेश्वर है। इस परम्पराके सम्बन्धमें और थोड़ा विवरण देते हैं। आदिनाथके दो शिष्य हुए, मत्स्येन्द्रनाथ और जालन्धरनाथ। पहले जालन्धरनाथका हाल बतलाकर पीछे मत्स्येन्द्रनाथकी ओर चलेंगे। महादेव और पार्वती विमानपर बैठे क्षीरसमुद्रकी ओर विहार कर रहे थे। नीचे समुद्रमें एक बालकको तैरते हुए देखा। पार्वतीने उसे उठाकर विमानमें बैठा लिया और शंकरने उसपर अनुग्रह किया। यही महेशानुगृहीत सिद्ध पुरुष आगे जालन्धरनाथ-नामसे प्रसिद्ध हुए। जालन्धरनाथके दो शिष्य थे, एक कानीफनाथ और दूसरी गोपीचन्द राजाकी माता मैनावती। कानीफनाथ मद्रदेशके क्षत्रिय राजा सुरथका बेटा था। इसकी माताका नाम भामिनी था। इसे राज्यका मोह नहीं था, राज्य छोड़कर यह जालन्धरनाथका शिष्य बना और वैराग्यवृत्तिसे पृथ्वीपर विचरने लगा। जालन्धरनाथका दूसरा शिष्य याने शिष्या गौडबंगालके काञ्चनपुर राज्यके राजा गोपीचन्दकी माँ मैनावती थी। गोपीचन्दके पिता त्रैलोक्यचन्द थे, जिनका स्वर्गवास होनेपर गोपीचन्द राजगद्दीपर बैठे। मैनावतीने जालन्धरनाथसे दीक्षा ली थी और बड़े शुद्धभावसे वह उनकी

सेवा किया करती थी, पर गोपीचन्दकी पट्टरानी औमाने झूठी-सच्ची कहकर जालन्धरनाथकी तरफसे राजा गोपीचन्दका हृदय कलुषित कर दिया। क्रोधान्ध होकर गोपीचन्दने, किसीसे बिना कुछ कहे-सुने, एक कुँआ खनवाया और उसमें जालन्धरनाथको ले जाकर डाल दिया और घोड़ोंकी लीद और मिट्टी भरकर पत्थरसे उसे तोप दिया। मैनावतीको इसकी कुछ भी खबर नहीं। वह यह समझ बैठीं कि गुरुजी बिना कहे कहीं चल दिये। इससे वह बहुत दुखी भी हुईं। गुरु जब साथ थे तब मैनावती नित्य उनका चरणोदक पानकर तब भोजन करती थीं, पर गुरुके गायब हो जानेपर चरणोदक न मिलनेसे उन्होंने अन्न-जल त्याग दिया। इसी हालतमें कुछ दिन बीत गये, तब एक दिनकी बात है कि गोपीचन्द स्नान कर रहे थे और मैनावती ऊपर छतपर खड़ी थीं। गोपीचन्दकी नीमकी कोंपल-सी सुन्दर सुकुमार देह-कान्ति देखकर उन्हें यह सोच हुआ कि ऐसी सुन्दर देह एक दिन कालकवलित होनेवाली है! यह सोचकर उनकी आँखोंसे गरम आँसू टपक पड़े, सो नीचे गोपीचन्दके बदनपर गिरे और उनसे उस सुकुमार देहमें तुरन्त फोड़े भी निकल आये। उन्होंने ऊपर देखा तो माँ झरोखेमें खड़ी रो रही हैं! मातृभक्त गोपीचन्दने उनसे पूछा, 'माँ! तुम क्यों रो रही हो?' उन्होंने उत्तर दिया, 'बेटा! तुम्हारे बाप भी ऐसे ही सुकुमार थे, पर उन्हें काल हर ले गया। किसी दिन तुम्हारी भी बारी आवेगी, जब यह सारा वैभव छोड़कर तुम्हें जाना पड़ेगा। इसका तुम्हें कुछ भी सोच

नहीं और तुम अविचारसे तेल-उबटन आदिके द्वारा इसीकी सेवामें लगे हुए हो। यही देखकर मैं रोती हूँ।' माँके ये प्रेम-दुःख-भरे वचन सुनकर गोपीचन्दकी आँखें खुलीं। उसने पूछा, 'क्या इस देहके अमर होनेका भी कोई साधन है ?' माँने उत्तर दिया, 'मेरे गुरु जालन्धरनाथ यदि यहाँ होते तो वह तुम्हारी कामना पूरी करते।' ये शब्द सुनते ही गोपीचन्दका हृदय काँप गया और उसे अपने कृत-कर्मका पश्चात्ताप हुआ। इसके अनन्तर गोपीचन्द भी उदास रहने लगा। कुछ दिन पश्चात् कानीफनाथ तीर्थयात्रा करते हुए कहीं गोरक्षनाथसे मिले। नाथ-सम्प्रदायके अनुसार दोनोंका परस्पर 'आदेश' हुआ अर्थात् 'आदेश' शब्दसे दोनोंने एक दूसरेको वन्दन किया। दोनोंकी यह पहली ही भेंट थी। कानीफनाथने कहा, 'मैं अपने गुरु जालन्धरनाथकी खोजमें निकला हूँ।' और गोरक्षनाथने कहा, 'मैं भी अपने गुरु मत्स्येन्द्रनाथकी खोजमें घूम रहा हूँ।' कानीफनाथने कहा, 'आपके गुरु स्त्रीराज्यमें जा फँसे हैं।' गोरक्षनाथने कहा, 'आपके गुरुको गोपीचन्दने लीदमें गाड़ा है।' इस प्रकार परस्परको एक दूसरेके गुरुका हाल बतलाकर दोनों एक दूसरेसे विदा हुए। गोरक्षनाथ स्त्रीराज्यकी ओर गये और कानीफनाथ काञ्चनपुर पहुँचे। मैनावतीको जब मालूम हुआ कि कानीफनाथ राजधानीमें आये हैं तब वह उनसे मिलने गयीं। कानीफनाथके मुँहसे ज्यों ही उन्होंने सुना कि 'तेरे बेटेने जालन्धर-नाथको लीदमें गाड़ा है,' उसके आश्चर्य और दुःखका पारावार न रहा! कानीफनाथसे उन्होंने अपने पुत्र गोपीचन्दके लिये अभय-

दान माँग लिया ! कानीफनाथने गोपीचन्दको डरा-धमकाकर पूछा, 'बताओ, मेरे गुरुको तुमने कहाँ गाड़ा है ?' गोपीचन्दने अपना अपराध स्वीकारकर कानीफनाथके चरण पकड़ लिये। कानीफनाथने उन्हें अभय-दान किया और ऊपर उठाया। गोपीचन्द उन्हें उस स्थानमें ले गये जहाँ जालन्धरनाथ गाड़े गये थे। कानीफनाथने गोपीचन्दके कद बराबर लोहेका एक, चाँदीका दूसरा और सोनेका तीसरा, इस प्रकार तीन धातुओंके तीन पुतले पास खड़े किये और धरतीकी ओर देखकर आवाज दी, 'महाराज! मैं क़ानीफ हूँ।' अन्दरसे ध्वनि उठी, 'बेटा, सुखी रहो!' मैनावतीको यह सुनकर अत्यन्त आनन्दाश्चर्य हुआ। अन्दरसे फिर ध्वनि उठी, 'कानीफ! ऊपर और कौन है ?' कानीफने उत्तर दिया, 'राजा गोपीचन्द !' अन्दरसे आवाज आयी, 'चाण्डाल जलकर भस्म हो जाय !' तत्क्षण लोहेका पुतला भस्म हो गया ! यही क्रम तीन बार हुआ और तीनों धातुओंके पुतले जलकर भस्म हुए। स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीरोंको श्रीसद्गुरुने भस्म किया। तब कानीफ गोपीचन्दका हाथ पकड़े कुँएके पास आये। अन्दरसे आवाज आयी, 'कानीफ! तेरे साथ और कौन है ?' कानीफने शान्तिके साथ उत्तर दिया, 'राजा गोपीचन्द !' अन्दरसे आवाज आयी, 'क्या वह अभी जीता है ? अच्छा, तो, अमर हो जा।' यह सुनते ही गोपीचन्दके हृदयसे भय भाग गया और कानीफकी आज्ञासे उन्होंने जालन्धरनाथको बाहर निकाला। दिव्य योग-प्रभावसे जालन्धरनाथके शरीरमें कहीं भी लीदका स्पर्श

नहीं हुआ था और उनका तेज पहलेसे भी अधिक प्रखर दिखायी देने लगा। यह देखकर गुरु-भक्तिमें रमी हुई मैनावती-को परमानन्द हुआ। गोपीचन्द राजाके प्राण बचे, इसलिये सारे नगरमें आनन्दोत्सव हुआ। पर गोपीचन्द अब वह गोपीचन्द न रहे! उन्हें परम वैराग्य प्राप्त हुआ था। उन्होंने कानीफनाथसे योग-दीक्षा ली। रानियाँ बहुत रोयीं-पीटीं। पर वैराग्यबलसे बलवान् राजा उस मोहमयी नगरीको छोड़कर गुरुके साथ तीर्थ-यात्रा करने चले गये।

अब जालन्धरनाथके गुरुबन्धु मत्स्येन्द्रनाथ और उनकी शिष्य-परम्पराको देखें। महादेव और पार्वती क्षीरसागरके तटपर बैठे ब्रह्मचर्चा कर रहे थे। महादेव कहते जाते थे और पार्वतीजी हुँकारी भरती जाती थीं। कुछ देर बाद पार्वतीजी इतनी तन्मय हो गयीं कि उनके समाधि लग गयी। तब मत्स्येन्द्ररूपसे भगवान् विष्णु वहाँ आकर उनके बदले हुँकारी भरने लगे, पर इस हुँकारी-का स्वर कुछ भिन्न जानकर महादेवजीने पार्वतीजीकी ओर देखा। देखा, पार्वतीजी तो समाधिमें हैं। तब यह जानकर कि यह काम श्रीविष्णुका है, उन्होंने 'अलक्ष' शब्द किया, त्यों ही मत्स्य-के उदरसे बाहर निकलकर कुमाररूप विष्णुने 'आदेश' प्रतिशब्द किया। यही कुमार मत्स्येन्द्रनाथ हैं। मत्स्येन्द्रनाथ एक बार घूमते-फिरते अयोध्याकी ओर 'जयश्री' नामक नगरमें पहुँचे। वहाँ विजयध्वज नामक राजा राज्य करता था। इस नगरमें सद्बोध नामक एक पवित्र ब्राह्मण अपनी सद्वृत्ति नाम्नी स्त्रीके साथ धर्मा-

चारपूर्वक रहता था। इसके कोई सन्तान न थी। इसके द्वारपर एक दिन भिक्षा माँगते हुए मत्स्येन्द्रनाथ पहुँचे। ब्राह्मण-स्त्रीने इन्हें तेजस्वी योगी जानकर बड़े आदरके साथ इनकी झोलीमें भिक्षा डाली। मत्स्येन्द्रनाथ भी उस स्त्रीके सतीत्वका तेज देखकर बहुत प्रसन्न हुए। उसके कोई सन्तान न होनेसे उसके तेजस्वी मुख-मण्डलपर उदासीकी एक रेखा खिंची दिखायी देती थी। मत्स्येन्द्र-नाथने उदासीका कारण पूछा। उसने निःसंकोच-भावसे उत्तर दिया, 'सन्तान न होनेसे संसार फीका जान पड़ता है।' मत्स्येन्द्र-नाथने अपनी झोलीमेंसे भभूत निकाली और अभिमन्त्रित कर उस सतीको दी और कहा कि, 'इसे खा लो, इससे तुम्हारे पुत्र होगा।' यह कहकर मत्स्येन्द्रनाथ चले गये। एक पड़ोसिनने उस ब्राह्मण-स्त्रीसे कहा कि, 'न जाने कौन कहाँका जोगड़ा था। ऐसोंपर कभी विश्वास मत करना। ये कनफटे वैरागी हैं, ऐसा मन्तर फूँककर भभूत देते हैं कि कोई खा ले तो उसकी सुध-बुध खो जाय और कुतिया बनकर इनके पीछे-पीछे चले।' पड़ोसिनकी यह बात सुनकर ब्राह्मण-स्त्रीकी श्रद्धा विचलित हो गयी और उसने वह भभूत गड्ढेमें फेंक दी। इस घटनाको हुए बारह वर्ष बीत गये। तब एक दिन मत्स्येन्द्रनाथ उस ब्राह्मणके घर आँगनमें आकर 'अलख' कहकर खड़े हो गये। उन्होंने उस स्त्रीको बारह वर्ष पहलेकी याद दिलायी और कहा कि अब तेरा बेटा बारह वर्षका हो गया होगा। देखूँ तो वह कहाँ है? यह सुनते ही वह स्त्री घबरा गयी और उसने सब हाल कह दिया। मत्स्येन्द्रनाथ उसे साथ ले उस गड्ढेके

पास गये । 'अलख' कहकर उन्होंने आवाज दी जिसे सुनते ही 'आदेश' कहकर बारह वर्षका एक तेजःपुञ्ज बालक वहाँसे बाहर निकला और उसने मत्स्येन्द्रनाथके चरणोंपर अपना मस्तक रखा। यह देखकर उस ब्राह्मण-स्त्रीको बड़ा आश्चर्य हुआ और इस बात-का बड़ा पश्चात्ताप हुआ कि ऐसे सिद्ध पुरुषके प्रसादकी मैंने ऐसी अवमानना की । दैवने दिया, पर कर्मने छीन लिया ! पुत्र मिला पर मैंने खो दिया ! यह सोचकर वह अत्यन्त दुःखी हुई । मत्स्येन्द्रनाथ उस बालकको अपने साथ ले गये । यही बालक हमारे गोरक्षनाथ हैं । मत्स्येन्द्रनाथने अपनी सारी विद्या अपने इस श्रद्धालु और विरक्त शिष्यको दी और उसे कृतार्थ किया । गोरक्षनाथ योगविद्यामें पूर्ण हुए । स्वानुभवसे उन्होंने योग-साधना-का और भी उत्कर्ष किया । योग-साधन और वैराग्यमें गोरक्षनाथ गुरुसे भी बढ़कर हुए । उन्हींके कहनेसे मत्स्येन्द्रनाथने उन ब्राह्मणदम्पतिपर पुनः दया की और उनके पुत्र हुआ जिसका नाम गोरक्षनाथने 'नाथवरद' रखा । गोरक्षनाथ एक बार भिक्षा करने गये । एक स्त्रीने भिक्षामें एक बड़ा दिया जो मत्स्येन्द्रनाथको बहुत ही रुचिकर लगा । गुरुभक्त गोरक्षनाथ दूसरे दिन फिर उसी स्त्रीके यहाँ भिक्षा माँगने गये और बड़ा माँगने लगे । उस स्त्रीने कहा, 'आज तो बड़े नहीं बने हैं ।' गोरक्षनाथने कहा कि, 'मैं तो बड़ा लिये बिना यहाँसे टलनेवाला नहीं ।' उस स्त्रीने क्रोधसे कहा, 'रोज-रोज बड़े कहाँसे आवेंगे ? अपनी एक आँख निकाल दे तो मैं भी एक बड़ा दूँ ।' यह कहनेभरकी देर थी कि गोरक्षनाथने अपनी एक आँख निकालकर उसके सामने रख दी ।

वह स्त्री यह देखकर घबरा गयी ! उसने बड़े तैयार किये और उन्हें दिये । भिक्षा लेकर गोरक्षनाथ लौटे । गुरुने पूछा, 'आँख क्या हो गयी ?' गोरक्षनाथने सब हाल बता दिया । मत्स्येन्द्रनाथने विनोदसे कहा, 'तो दूसरी आँख मुझे दे दे ।' गोरक्षनाथने दूसरी आँख निकालकर गुरुके सामने रख दी । मत्स्येन्द्रनाथ अत्यन्त प्रसन्न हुए । दोनों आँखोंपर उन्होंने तीर्थ-जल छिड़का । दोनों आँखें ज्यों-की-त्यों हो गयीं । मत्स्येन्द्रनाथ स्त्री-राज्यमें अटक गये थे गोरक्षनाथ वहाँसे उन्हें छुड़ा लाये । गोरक्षनाथने अपनी विद्या गैनीनाथको दी । गैनीनाथसे वही विद्या निवृत्तिनाथको मिली और निवृत्तिनाथसे ज्ञानेश्वरादि भाई-बहिनको प्राप्त हुई । अस्तु ! योग-साधनके विषयमें मत्स्येन्द्रनाथका 'मत्स्येन्द्रसंहिता' नामका एक ग्रन्थ है । गोरक्षनाथ महान् योगी और महान् विद्वान् थे । उन्होंने भी अनेक ग्रन्थ लिखे हैं । एक अर्वाचीन कोशकारने इनके सम्बन्धमें लिखा है—

'गोरक्ष विद्वान् कवि भी थे । इन्होंने गोरक्षकल्प, गोरक्षशतक, गोरक्षसहस्रनाम, गोरक्षगीता आदि अनेक ग्रन्थ संस्कृत-भाषामें लिखे । इनके अतिरिक्त तीन हजार श्लोकोंका 'विवेकमार्तण्ड' नामक ग्रन्थ इन्हींका लिखा हुआ मिलता है । चर्पटीनाथ आदि इनके अनेक शिष्य थे । गोरखपुर इन्होंने ही बसाया । वहाँ अपनी गद्दी स्थापितकर उसपर अपने भाई नाथवरदको बैठाया ।'

इनकी सिद्धियोंके विषयमें नाथलीलामृतके पाँचवें अध्यायमें इस प्रकार लिखा है—

'उस कालमें पातालमें जाकर योग-साधन करना गोरक्षनाथसे ही बन पड़ा। वहाँसे वह भूमण्डलपर आये और चिरञ्जीवस्थितिको प्राप्त हुए। उनकी पलक नहीं गिरती थी, श्वासकी गति नीचेकी ओर न होती थी। वह रहते थे पृथ्वीपर पृथ्वीको स्पर्श किये बिना, और उनकी छाया भी नहीं पड़ती थी।'

अस्तु! गोरक्षनाथका 'गोरक्षकिमयागार' नामका एक ग्रन्थ है। उसमें वह कहते हैं—

कहे गोरख मछेन्द्रनाथसुत जोगसिद्धिके सार।
गुरुमुखसे जो नर जानत सोहि तरे भवपार॥

गहिनीनाथने भी 'गहिनीप्रताप' नामक ग्रन्थ लिखा है। उसमें वह कहते हैं—

गोरखसुत गहिनी कहे नाथपन्थकी बानी।
ग्यानी जानत गुरुपुत होत सोहि चढे निरयानी॥

नाथपन्थके सभी लोग यह बतलाते हैं कि गुरु-पुत्रके सिवा और कोई याने सम्प्रदायमें प्रवेश किये बिना कोई भी इस पन्थका मर्म नहीं जान सकता। अस्तु! जालन्धर पञ्जाबमें है और गोरखपुर युक्तप्रदेशमें। इससे यह मालूम होता है कि इन्हीं प्रान्तोंमें जालन्धरनाथ और गोरक्षनाथ अधिक रहे हैं। तथापि महाराष्ट्रमें कऱ्हाडके समीप रेट्रेबुद्रुक नामक ग्रामके पास 'मत्स्येन्द्रगड' नामका एक पर्वत है और इसी स्थानसे मत्स्येन्द्रनाथकी पालकी पण्ढरपुर आया करती है और गोरक्षनाथकी पालकी ओढयानागनाथके समीप उन्हींके समाधि-स्थानसे आया करती है। इससे यह अनुमान होता है कि महाराष्ट्रमें ही इन दोनोंने अपने कलेवर छोड़े।

आदिनाथ-सम्प्रदाय वैष्णव-सम्प्रदायोंमेंसे ही एक है और इसके आदिगुरु आदिनाथ शङ्कर हैं। नाभाजीने 'भक्तमाल' में वैष्णव-सम्प्रदाय चार बतलाये हैं—(१) रामानुज, (२) विष्णुस्वामी, (३) निम्बादित्य और (४) मध्वाचार्य। इस सम्बन्धमें भिङ्गारकर बोवाने अपने निबन्धमें मार्मिक विवेचन किया है। नाभाजी कहते हैं—

श्रीरमापति रामानुज। विष्णुस्वामि त्रिपुरारी।
निम्बादित्य सनकादिका। मधुकर गुरुमुख चारी॥

अर्थात् रामानुज-सम्प्रदायका मूल उपदेश रमापतिने रमाको दिया, इसलिये रमापति इस सम्प्रदायके आदिगुरु हैं और इस सम्प्रदायको श्रीपद्धति कहते हैं। विष्णुस्वामि-सम्प्रदायके आदिगुरु त्रिपुरारि याने शङ्कर हैं और इस सम्प्रदायको प्रकाश-सम्प्रदाय कहते हैं। निम्बादित्य-सम्प्रदायके आदिगुरु सनक हैं और इस सम्प्रदायको स्वरूप-सम्प्रदाय कहते हैं। और मध्वाचार्य-सम्प्रदायके आदिगुरु ब्रह्मदेव हैं और इस सम्प्रदायको चैतन्य-सम्प्रदाय कहते हैं। यह विवरण केवल नाभाजीने ही नहीं दिया है, पद्मपुराणमें भी इसके लिये आधार है—

कलौ खलु भविष्यन्ति चत्वारः सम्प्रदायिनः।
श्रीमाध्वीरुद्रसनकाः वैष्णवाः क्षितिपावनाः॥ १॥
रामानुजं श्रीः स्वीचक्रे मध्वाचार्यं चतुर्मुखः।
श्रीविष्णुस्वामिनं रुद्रो निम्बादित्यं चतुस्सनाः॥ २॥

कलियुगमें श्रीप्रभृति चार वैष्णव-सम्प्रदाय हुए। रामानुजको श्रीने स्वीकार किया, मध्वाचार्यको ब्रह्मदेवने, विष्णुस्वामीको रुद्रने और निम्बादित्यको सनक, सनन्दनादि ब्रह्मदेवके चार पुत्रोंने स्वीकार किया।

अस्तु, त्रिपुरारि याने शंकरने क्षीरसिन्धुके समीप शक्ति (पार्वती) के कानोंमें, कब किस समय सो नहीं कह सकते, जो ज्ञान बताया वह श्रीविष्णुने मत्स्यका रूप धारणकर श्रवण किया और उनसे (विष्णुरूप मत्स्येन्द्रनाथसे) परम्परया ज्ञानेश्वर महाराज तक चला आया। इसलिये भी इस सम्प्रदायको वैष्णव-सम्प्रदाय कह सकते हैं। गोरक्षनाथने अपने 'गोरक्षकिमयागार' ग्रन्थमें मत्स्येन्द्रनाथको 'महाविष्णु साँई' कहा है, इससे यह मालूम होता है कि मत्स्येन्द्रनाथ ही विष्णुस्वामी थे। नाभाजीने कहा है कि ज्ञानदेव विष्णुस्वामि-सम्प्रदायके थे और इस सम्प्रदायके आदिगुरु त्रिपुरारि थे। यहाँ इस विषयमें इससे अधिक विचार नहीं किया जा सकता। ज्ञानेश्वर महाराजके सम्प्रदायके आदिगुरु आदिनाथ शंकर थे, तथापि यह सम्प्रदाय वैष्णव-सम्प्रदाय ही है।

शिवदिन केसरीके शिष्य मालुनाथने सम्प्रदाय-परम्परापर चौदह श्लोक रचे हैं। उनमेंसे प्रथम छः श्लोकोंका भावानुवाद यहाँ देकर यह अध्याय समाप्त करते हैं—

'जो गुणातीत अव्यक्त विद्याविलासी, सृष्टिके मूल और सारे ऐश्वर्यके आदि हैं और जो सदा सच्चिदानन्दकी स्थितिमें ही रहते हैं उन आदिनाथको मेरा नमस्कार है।

'जो सज्जनोंके सुखके निधान और योगेश्वरोंके विश्राम और परम धाम हैं, निरालम्ब-देशमें जो अनुपम राजा हैं उन मत्स्येन्द्र-नाथको मेरा नमस्कार है।

'गुरु-भक्ति जिनसे मूर्तिमती हुई, महासिद्धि जिनसे व्यक्त हुई और जो दीनोंके उद्धारके लिये दौड़ते फिरते हैं उन गोरक्षनाथको मेरा नमस्कार है।

'जो अनाहत शिंगी हैं, लाखों मुद्राएँ जिनसे निकलती हैं, जिनकी अखण्ड स्वरूपस्थिति योगनिद्रा है, योगियोंके लिये जो महान् आश्रय हैं उन गैनीनाथको मेरा नमस्कार है।

'जो कर्ममार्गसे विचलित नहीं होते, पीछे नहीं हटते, जिन्हें अनायास सन्त-सङ्ग लाभ होता है, सत्यबोधमें जिनका चित्त समाधान प्राप्त करता है उन निवृत्तिनाथको सबसे पहले भक्ति-पूर्वक मेरा नमस्कार है।

'अपने प्रताप और गुणोंसे जो सूर्यके समान स्वयंज्योति-रूप शुद्ध प्रकाश फैलाते हैं, इस संसारमें जिनकी पूर्ण सत्ता है उन ज्ञाननाथको मेरा नमस्कार है।'

उपनयन और शास्त्रमर्यादा

शास्त्र जिस चीजको छोड़ देनेको कहे, उसे, चाहे वह राज्य ही क्यों न हो, तृणवत् त्याग दे। शास्त्र जिसे ग्रहण करनेको कहे, चाहे वह विष ही क्यों न हो, उसे जरूर ग्रहण करे।

—श्रीज्ञानेश्वरी अ० १६। ४६०

बालक बड़े हुए, यज्ञोपवीत-संस्कारके लिये अतिकाल होने लगा, तब विट्ठलपन्त बड़ी चिन्तामें पड़े। रुक्मिणीबाई भी नित्य उनसे लड़कोंके जनेऊका तकाजा करने लगीं। विट्ठलपन्त संन्यासीसे फिर जो गृहस्थ बने तबसे ब्राह्मणोंने उनका बड़ा कड़ा बहिष्कार कर रखा था। पर विट्ठलपन्त यह सोचते थे कि मेरे आचरणमें कोई ऐसा दोष नहीं है जिससे ब्राह्मणत्वमें धब्बा लगे, इसलिये आज नहीं कल ब्राह्मणोंका क्रोध शान्त होगा और कम-से-कम लड़कोंके यज्ञोपवीतके समय वे प्रायश्चित्त कराकर फिर मुझे समाजमें मिला लेंगे। पर विट्ठलपन्तकी आशा आशा ही थी। ब्राह्मण किसी तरहसे भी राजी न हुए। संन्यासाश्रमसे नीचे गृहस्थाश्रममें गिरा हुआ कोई ब्राह्मण इसके पूर्व नहीं हुआ, इसलिये ऐसे ब्राह्मणके लड़कोंके लिये यज्ञोपवीतका विधान शास्त्रमें मिलना असम्भव था। विट्ठलपन्तने यह निश्चय किया था कि मेरे बच्चे जाति और कुलसे च्युत न हों, इसके लिये जो कोई भी प्रायश्चित्त करना पड़े वह मैं करूँगा। उन्होंने ब्राह्मणवृन्दको साष्टाङ्ग प्रणाम किया और प्रार्थना की कि 'हम पतितोंको आप पावन करें, मेरे

सब अपराधोंको उदारतापूर्वक क्षमा करें, मैंने गुरुकी आज्ञाका पालन करना स्वधर्म जानकर ही गृहस्थाश्रम पुनः स्वीकार किया, काम-वासनाके वश होकर नहीं; आपलोग जो दण्ड दें उसे मैं स्वीकार करनेको तैयार हूँ। जो प्रायश्चित्त बतायें वह करूँगा। मुझे जिस तरहसे हो शुद्ध कर लें और धर्मशास्त्रार्थका अनुसन्धान कर ऐसी व्यवस्था दें कि मेरे पुत्रोंके यज्ञोपवीत हों। विट्ठलपन्तको इस भयसे कि मेरे बच्चोंको आजीवन समाजसे बहिष्कृत होकर रहना पड़ेगा, महद्‌दुःख हुआ। उन्होंने शुद्ध हृदय और गद्‌गद अन्तःकरणसे उन ब्राह्मणोंसे प्रार्थना की—

समस्तसम्पत्समवाप्तिहेतवः
समुत्थितापत्कुलधूमकेतवः।
अपारसंसारसमुद्रसेतवः
पुनन्तु मां ब्राह्मणपादपांसवः ॥१॥

और समस्त ब्राह्मणोंको दण्डवत्-प्रणाम किया। रुक्मिणी-बाईने भी ऐसा ही किया। पति-पत्नी दोनों ही वैराग्यशील थे। परन्तु अपने हीरे-जैसे सन्तानोंकी ओर देखकर यह सोचते थे कि हमारे रहते यदि इनके यज्ञोपवीत नहीं हुए तो ये ब्राह्मणत्वसे च्युत हो जायँगे और इससे हमारे कुलका अधःपात होगा। यह सोचकर उनका हृदय टूक-टूक हो जाता था। वस्तुतः वैराग्य-ज्ञान-सम्पन्न स्त्री-पुरुषोंको किसी भी अवस्थामें मोहके वश न होना चाहिये। पर सुकुमार बच्चोंके, उसमें भी अपने बच्चोंके निर्विकार, निर्मल और प्रसन्न मुखमण्डल देखकर बड़े-बड़ोंको वैराग्य भूल जाता है। यशोदा जानती थीं कि कृष्ण ईश्वरावतार हैं और कृष्णने

उन्हें अपने मुँहके अन्दर चौदहों भुवन दिखा दिये थे तो भी यशोदा इस बातको भूलकर कृष्णके विषयमें पुत्र-भावके मोहसे विवश हो जाती थी ! विट्ठल-रखुमाईको यह मालूम था कि हमारे ये सन्तान सामान्य कोटिके मनुष्य नहीं हैं। त्र्यम्बकेश्वरकी परिक्रमामें बाघके दिखायी देनेपर भगदड़ मची और निवृत्तिनाथ रास्ता भूल-कर गैनीनाथकी गुफामें पहुँच गये और उस महात्माने उनपर अनुग्रह किया, उस घटनाके बादसे विट्ठलपन्तको अपने सन्तानोंकी अलौकिकताके सम्बन्धमें बड़ा कुतूहल होता था। उन्हें रामानन्द-स्वामीने गृहस्थाश्रममें पुनः जानेकी आज्ञा देते हुए जो यह कहा था कि, 'इस स्त्रीसे तेरे जो लड़के होंगे वे त्रिभुवन-विजयी होंगे' यह बात भी उन्हें भूली नहीं थी। एक तो अपने बच्चे, उसमें फिर ऐसे दिव्य गुणवाले ! कौन ऐसा पिता होगा जिसके हृदयमें उनके प्रति प्रेम न हो ? विट्ठलपन्त और रुक्मिणीबाईको स्वभावतः ही अपने पुत्रोंसे प्रेम था। पर जब उन्होंने देखा कि इनके यज्ञोपवीत होनेतकमें इतनी रुकावट है तब तो उनकी सारी आशाओंपर पानी ही फिर गया ! ब्राह्मणोंने उनसे कहा—'तुम्हारे अपराधके लिये धर्मशास्त्रमें कोई प्रायश्चित्त नहीं बताया है, तुम्हारे लड़कोंके यज्ञोपवीत-संस्कारके लिये भी धर्मशास्त्रमें कोई व्यवस्था नहीं है। तुम्हारा अपराध इतना बड़ा है कि देहान्त-प्रायश्चित्त छोड़ इसके लिये दूसरा दण्ड नहीं है।'

ब्राह्मणोंने यह निर्णय सुनाया और विट्ठलपन्तने उसे सुनकर सीस नवाया और यह भाव दर्शाया कि मैं इस निर्णयको मानने-

को तैयार हूँ। उन्होंने अपना कलेजा कड़ा किया, स्त्री-पुत्रादिकोंका मोह छोड़ा, ब्राह्मणोंको वन्दन किया और पीछे फिरकर बिना देखे जो वहाँसे चले सो सीधे प्रयागराज पहुँचे। त्याग और वैराग्य ही इस यात्रामें उनके साथ थे। प्रयागमें पहुँचकर शान्तचित्तसे उन्होंने श्रीगङ्गा-यमुनाके सङ्गममें अपना शरीर छोड़ दिया। उनके साथ ही रखुमाबाई भी प्रयाग पहुँचीं और जिस स्थानमें पतिराज प्रवाहमें कूद पड़े थे वहीं पति-स्मरण-पूर्वक वह महासती भी कूद पड़ीं। इस प्रकार विट्ठल-रुक्मिणी इस नश्वर देहका त्यागकर शाश्वत पदपर आरूढ़ हुए।

वेद-शास्त्रज्ञ ब्राह्मणोंने देहान्त-प्रायश्चित्त बताया था। विट्ठल-पन्तने उन्हें प्रणाम करके कहा कि, 'आप जैसा कहते हैं वैसा ही करूँगा।' यह कहकर वह प्रयागराज गये और सचमुच ही उन्होंने देहान्त-प्रायश्चित्त किया! कैसी ज्वलन्त धर्मनिष्ठा, कैसा तेजस्वी वैराग्य और कितना धीर-गम्भीर त्याग है! विषयोंसे पूर्ण विरक्ति होते हुए भी केवल गुरुकी आज्ञाको मानकर उन्होंने जो फिरसे गृहस्थाश्रम स्वीकार किया उसमें उनका अलौकिक मनोधैर्य प्रकट हुआ था। उसी प्रकार इस बार शास्त्राज्ञाको मानकर इस समय जो स्त्री-पुत्रादिकोंका मोह छोड़ दिया और देहका ममत्व-तक सन्तोषके साथ त्याग दिया, इसमें उनके अलौकिक त्यागका ही परिचय मिला है। ज्ञानेश्वरादि महात्माओंने विट्ठलपन्तको जो पितृत्वाधिकार दिया वह सर्वथा योग्य ही था, यही कहना पड़ता है। गुरु और धर्मशास्त्रपर उनकी कैसी अटल श्रद्धा थी, यह इन

दोनों प्रसङ्गोंसे अच्छी तरह प्रकट होता है। गुरु और शास्त्रको माननेवाले ऐसे लोगोंकी कमी नहीं है जो तभीतक गुरु और शास्त्रके सामने सीस झुकाते हैं जबतक उनके सुखमें कोई बाधा नहीं पड़ती। परन्तु सर्वस्वकी हानि होती हो तब भी गुरु और शास्त्रको ही मानना अत्यन्त श्रेष्ठ विभूतियोंसे ही बन पड़ता है। आजकल तो यह हालत हो गयी है कि शास्त्रकी आज्ञाकी कोई परवा न कर जो मनमाना आचरण किया जाता है उसीको लोग मनोधैर्य या नैतिकबल कहने लगे हैं। यथार्थमें मनोधैर्य यह नहीं है बल्कि धर्म, समाज और देशके विधि-विधान अपने स्वार्थके बाधक हों तो भी उन विधि-विधानोंपर अपना सर्वस्व न्योछावर करनेको तैयार होना ही सच्चा मनोधैर्य है और श्रेष्ठ पुरुषोंके आचरणसे यही बात मालूम होती है। ग्रीसदेशके प्रसिद्ध तत्त्ववेत्ता और साधु सुकरातपर उसके समकालीन क्षुद्र पुरुषोंने झूठा इलजाम लगाकर उसे 'देहान्त' दण्ड सुनाया तब उनके कई भक्त उन्हें कैदखानेसे छुड़ानेको तैयार थे; फिर भी उन्होंने न्यायासनसे मिला हुआ दण्ड ही सन्तोषके साथ स्वीकार किया और न्यायालयकी आज्ञाके अनुसार जहरका प्याला पीकर देह-त्याग किया। सुकरातपर कम-से-कम झूठा अभियोग लगाया गया था। यहाँ तो वह बात भी नहीं थी। विट्ठलपन्तको देहान्त प्रायश्चित्त बतानेवाले आलन्दीके वेदज्ञ और शास्त्रज्ञ ब्राह्मणोंने उनपर कोई अभियोग नहीं लगाया था। संन्यासाश्रमके पश्चात् गृहस्थाश्रम स्वीकार करनेवाला कोई ब्राह्मण ही जब

इससे पहले कभी नहीं हुआ अर्थात् इस तरहका अपराध ही जब इसके पहले कभी नहीं हुआ था तब शास्त्रमें उसके लिये प्रायश्चित्त भी कहाँसे होता? ऐसी हालतमें उनके लिये यह निर्णय करना बड़ा कठिन हो गया कि विट्ठलपन्त किस आश्रम और किस वर्णका पुरुष माना जाय? उन्होंने उन्हें पतित-से-पतित समझा और घोर दण्ड सुनाया। विट्ठलपन्तके वैराग्य, ज्ञान और योग्यताको देखते हुए यदि वे उन्हें मुक्त कर देते अथवा धर्म-शास्त्रको गति देकर या उसमें विशेष परिस्थितिके लिये विशेष नियम बनाकर उन्हें क्षमा कर देते तो सोनेमें सुगन्ध होती। परन्तु इतना बुद्धि-वैभव और धैर्य उन ब्राह्मणोंमें न था और इसलिये उन्होंने रूढ शास्त्रार्थके अनुसार उन्हें दण्डार्ह अपराधी बताया। संसारके इतिहासमें ऐसे अवसर प्रायः आते हैं और असामान्य कोटिके समर्थ साधु पुरुषों या विभूतियोंके लिये विशेष विधान न होनेसे उन्हें इस संसारमें अपार दुःख भोगने पड़ते हैं। कोई स्त्री परपुरुषके यहाँ अल्पकाल भी रह जाय तो यह अपराध है और इसके लिये उसका त्याग समुचित दण्ड है। पर क्या यही न्याय सीता-जैसी महासतीके लिये भी उचित है? धोबीके कहनेपर रामने अपनी गर्भवती और परमप्रिय स्त्रीको वनमें भेज दिया! सीताका सतीत्व वह जानते थे, उनसे उनका परम स्नेह था, फिर भी इक्ष्वाकुवंशके विमल यशकी रक्षाके लिये उन्होंने उनका त्याग किया! उस समय श्रीरामचन्द्रने कहा है—

कष्टं जनः कुलधनैरनुरञ्जनीय-
स्तन्मे यदुक्तमशिवं नहि तत्क्षमन्ते।
नैसर्गिकी सुरभिणः कुसुमस्य सिद्धा
मूर्ध्नि स्थितिर्न चरणैरवताडनानि॥५॥
(उत्तररामचरित्र अङ्क १)

सुरभिपुष्पोंकी योग्यता तो यह है कि वे मस्तकपर ही रहें, पर प्रायः लोग उन्हें पैरोंसे रौंद डालते हैं। संसार ऐसा ही है! विट्ठलपन्तके विवेक-वैराग्यको देखते हुए और इस बातका ध्यान रखते हुए कि वह ज्ञानेश्वरादि दिव्य पुत्ररत्नोंके जनक हैं, संसार-को यह चाहिये था कि वह उनके साथ अत्यधिक प्रेम और आदरका वर्ताव करता। हम, आप ऐसा ही सोचते हैं। पर उन्हें दण्ड सुनानेवाले उस कालके उन ब्राह्मणोंको भी अधिक दोष नहीं दे सकते। भगवान्‌की यह आज्ञा *'तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।'* हिन्दूमात्रको स्वीकार है और आलन्दीके ब्राह्मणोंने जो निर्णय किया वह ऐसा ही न्यायनिष्ठुर निर्णय था। विट्ठलपन्त भी मनस्वी पुरुष थे। 'शास्त्र जिसे त्यागने-को कहे उसे, चाहे वह राज्य ही क्यों न हो, तृणवत् त्याग दे' इस सिद्धान्तके माननेवाले थे। उन्होंने देहको तृणवत् त्यागकर शास्त्र और ब्राह्मणोंके प्रति अपना अपार आदरभाव प्रकट किया। यहाँ यह शंका की जा सकती है कि जब विट्ठलपन्त संन्यास-दीक्षा लेनेके पश्चात् फिरसे गृहस्थाश्रमी हुए तब भी तो उन्होंने शास्त्राज्ञा-

का ही उल्लंघन किया था। इसका समाधान यह है कि यदि यह उनका मनमाना आचरण होता तो उसका कुछ भी मूल्य नहीं था, पर वह थी गुरुकी आज्ञा और गुरुकी आज्ञाका ही उन्होंने पालन किया था। गुरुकी आज्ञा ही उनके लिये शास्त्र थी, 'गुरुके वचनके बिना शास्त्रको स्पर्श न करना' (ज्ञानेश्वरी अ० १३।४४८) यह उनकी गुरुभक्ति थी। इसलिये इस विषयमें विट्ठलपन्तको कुछ भी दोष नहीं दिया जा सकता। अवश्य ही इस दूसरे प्रसंगमें यदि उनके गुरु विद्यमान होते तो आलन्दीके ब्राह्मणोंसे व्यवस्था माँगनेके पूर्व वह गुरुसे ही आज्ञा माँगते। पर वह जब नहीं थे तब शास्त्रवक्ता ब्राह्मणोंके सामने अपना मामला पेश करना उनके लिये आवश्यक था। इनके-जैसा पवित्र तपःपूत ब्राह्मण उस समय भी विरला ही कोई रहा होगा और भवभूतिकी *'तीर्थोदकं च वह्निश्च नान्यतः शुद्धिमर्हतः'* इस उक्तिके अनुसार उनके-से सदाचार-सम्पन्न दिव्य ब्राह्मणके लिये प्रायश्चित्तकी कोई आवश्यकता भी नहीं थी; तथापि महान् पुरुषोंका यह लक्षण है कि अलौकिक गुणोंसे सम्पन्न होनेपर भी वे सामान्य जनोंके समान ही विनय-पूर्वक शास्त्राज्ञा मानकर चलते हैं और इसीलिये विट्ठलपन्त अपने मामलेमें शास्त्रीय व्यवस्थाके लिये ब्राह्मणोंके पास गये और ब्राह्मणों-ने जो निर्णय किया उसे उन्होंने सिर-आँखों उठा लिया। राजा-का कानून तोड़नेवाले जैसे राजद्रोही कहाते हैं वैसे ही धर्म और समाजके कानून तोड़नेवाले आदमी धर्मद्रोही और समाजद्रोही ही समझे जाने योग्य हैं। कोई भी कानून हो उसे तोड़नेवालेको

वाणी ही समझना चाहिये। कानून बार-बार बदले न जायँ, यह बात नहीं; पर जबतक एक कानून बदलकर उसके स्थानमें समाजके सभ्य, सुशील, निःस्पृह विद्वानोंके बहुमतसे दूसरा कानून नहीं बन जाता तबतक पहले कानूनके सामने सिर झुकाना, समाजके व्यक्तिमात्रका कर्त्तव्य है, और इसके लिये हर तरहकी आपदा सहनेके लिये तैयार होना और सो भी आनन्दके साथ सह लेना धीर-वीर पुरुषोंका काम है और ऐसे धीर-वीर पुरुष सब समाजों और सब समयोंमें वन्दनीय होते हैं। सामान्य जनोंके लिये जो नियम बनाये जाते हैं, अनेक बार असामान्य विभूतियोंके लिये उन नियमोंका बदला जाना आवश्यक होता है, पर आवश्यक होनेपर भी प्रायः ऐसा नहीं होता और इस कारण विभूतियोंको इस संसारमें अनेक कष्ट झेलने पड़ते हैं। महात्मा तुकारामने कहा भी है कि, 'सन्त वही है जो संसारके आघात सहता है।' इन आघातोंको सहनेसे ही उसका सन्तपन संसारपर प्रकट होता है। सन्त ऐसे आघातोंसे कुडबुडाया नहीं करते। विट्ठलपन्त-जैसे ज्ञान-वैराग्य-सम्पन्न तपस्वी ब्राह्मणके मामलेमें यदि ब्राह्मणोंने धर्मशास्त्रकी कठोरतासे उन्हें रौंदा न होता तो अच्छा ही होता पर महान् पुरुषोंकी महत्ता ऐसे सङ्कटोंके बिना प्रकट भी हो तो कैसे हो? अपने लिये कष्ट तो कोई भी नहीं चाहता, पर कष्टोंसे डरकर यदि महान् पुरुष भी चलते तो सच्चे और झूठेका भेद भी संसारपर प्रकट न होता। विपत्तिकी कसौटीपर ही बड़ोंकी बड़ाई-कसी जाती है और इसलिये बड़ोंकी विपत्तिपर

दुःख करना भी निरर्थक होता है। वीर और भीरु, साहु और चोर, सच्चे और लुच्चे, सन्त और दम्भीका अन्तर विपत्तिमें ही प्रकट होता है। अन्यथा संसारमें अच्छे-बुरेमें कोई अन्तर ही न रह जाता। कहनेका अभिप्राय यह कि विट्ठलपन्तकी विरक्तता और धर्मनिष्ठा आलन्दीके ब्राह्मणोंके न्यायनिष्ठुर निर्णयके कारण संसारको विदित हो गयी। और जो बात विट्ठलपन्तके सम्बन्धमें कही जायगी वही रुक्मिणीबाईके सम्बन्धमें कही जायगी। वह माता भी हमलोगोंके लिये विट्ठलपन्त-जैसी पूज्य हैं। रुक्मिणी-बाईकी जिस पवित्र कोखसे ज्ञानेश्वर महाराज उत्पन्न हुए वह कोख धन्य है। इनका सम्पूर्ण चरित्र देखनेसे यही मालूम होता है कि निवृत्तिनाथ प्रभृति सूर्य-सदृश सन्तान प्रसव करनेका उन्हींको अधिकार था। इसमें कार्य-कारण-सम्बन्ध है। विट्ठल-पन्तका वैराग्य और रुक्मिणीबाईका पातिव्रत्य और भक्ति आदि गुण सचमुच ही इतनी उच्च कोटिके थे कि उनके सन्तान दिव्य छोड़ और कुछ हो ही नहीं सकते थे। रुक्मिणी माता भी पतिके साथ प्रयागतीर्थमें मुक्त हुई। विट्ठलपन्त और रुक्मिणीबाई मूर्तिमन्त वैराग्य और भक्ति थे और यह कार्य-कारण-सम्बन्ध अत्यन्त स्वाभाविक है कि वैराग्य और भक्तिने निवृत्ति, ज्ञान, सोपान और मुक्तिको जन्म दिया।

निवृत्तिनाथ, ज्ञानेश्वर, सोपानदेव और मुक्ताबाईको ईश्वर-की कृपाके हवालेकर उनके माँ-बाप चले गये। तब निवृत्तिनाथ-की वयस् अधिक-से-अधिक दश वर्ष रही होगी। इस घटनाके

पश्चात् ये छोटे-छोटे बच्चे कुछ दिन आपेगाँव अर्थात् अपने पुरखोंके गाँवमें रहनेके लिये गये। वहाँ उनके बन्धु-बान्धवोंने उन्हें घरमें घुसने नहीं दिया और उनकी जायदादका हिस्सा भी खुद हजम कर गये। उनके लिये घर-द्वार कुछ भी न रह गया। मिट्टी या ईंट-पत्थरका घर और जमीनका एक जरा-सा टुकड़ा इतनी-सी ही उनकी जायदाद नहीं थी। उनके पट्टीदार अवश्य ही सिकुड़कर छोटे बन बैठे थे, पर इन्होंने तो ब्रह्माण्डका पान किया था। भुवनत्रय इनका घर था। 'यह विश्व ही मेरा घर है, ऐसी मति जिसकी स्थिर है, किंबहुना, सम्पूर्ण चराचर जो आप ही हो रहा है' (ज्ञानेश्वरी अ० १२। २१३) ऐसी इनकी चित्तवृत्ति थी। विश्व भी इनके लिये बड़ा नहीं था, विश्वके लिये ये बड़े थे। आपेगाँवमें रहते हुए निवृत्तिनाथ और ज्ञानेश्वर शुष्कान्न-भिक्षाके लिये बाहर निकलते और सोपानदेव छोटी बच्ची मुक्ताको सँभाला करते थे। इस समयकी इस अवस्थापर मुक्ताबाईने कुछ अभंग भी रचे हैं।

कुछ काल आपेगाँवमें रहनेके पश्चात् निवृत्तिनाथ तीनों भाई-बहिनको साथ लिये आलन्दीमें आये। निवृत्तिनाथको अपने यज्ञोपवीत-संस्कारकी विशेष चिन्ता नहीं थी; वह शिवस्वरूप हो गये थे; जनेऊ हो तो और न हो तो दोनों उनके लिये बराबर था। उन्हें अपनी देहकी भी सुध नहीं रहती थी। यह बात ही उनके चित्तमें नहीं समाती थी कि मैं ब्राह्मण हूँ और मेरा उपनयन होना चाहिये। निवृत्तिनाथ यथार्थमें ही निवृत्तिनाथ थे। सब

चित्तवृत्तियोंके परे जो अपना आत्मरूप है उसी निजरूपमें वह निमग्न रहते थे। परन्तु ज्ञानेश्वर यह कहते थे कि, 'चलो हमलोग ब्राह्मणोंके चरण छूएँ। उनसे प्रार्थना करें और अपने आपको पावन कराकर अपना यज्ञोपवीत-संस्कार करा लें।' ज्ञानेश्वर वर्णाश्रमधर्मकी रक्षाके लिये अवतरित हुए थे और इसलिये अपने अवतार-कार्यकी ओर ध्यान देकर वह निवृत्तिनाथके पीछे पड़ गये कि ब्राह्मणोंसे व्यवस्था लेकर अपना यज्ञोपवीत-संस्कार कराना चाहिये। इस सम्बन्धमें तीनों भाइयोंका जो संवाद हुआ वह बड़ा ही मनोरञ्जक है। नामदेवराय, महीपतिबाबा और निरञ्जनमाधवने अपने-अपने ग्रन्थमें यथाक्रम अभंग, ओवी और श्लोक रचकर उसका वर्णन किया है। आलन्दीके ब्राह्मणोंने जब निवृत्तिनाथसे कहा, 'आप पैठणमें जाकर वहाँके ब्राह्मणोंसे शुद्धि-पत्र ले आइये' तब निवृत्तिनाथ कहते हैं—

'मेरा कुल-अकुल कुछ भी नहीं है। मैं न ब्राह्मण हूँ, न क्षत्रिय; न वैश्य, न वृषल ही। मैं न पक्षी हूँ, न पशु हूँ; न जड वृक्ष ही। मैं न बटु हूँ, न संन्यासी हूँ; न वनचर हूँ, न गृहाश्रमी ही। त्रिगुणमेंसे कुछ भी नहीं हूँ। न महत्तत्त्व हूँ, न विराटात्मा ही। मैं तो अगुण हूँ। लोग जो-जो कुछ कहते हैं उसमेंसे कुछ भी नहीं हूँ; उसके परे स्वरूपानन्दमें निखिलसुखचैतन्य हूँ। धर्माधर्म-से, विधि-निषेधसे मेरा कुछ भी वास्ता नहीं है। भेदाभेदमें मैं नहीं हूँ, निजरूपमें हूँ। बोधानन्दमें अनायास स्वभावसे ही बैठा रहता हूँ।'

इसपर ज्ञानेश्वर महाराज उत्तर देते हैं—

'वेदविहित और वेदविरुद्ध आचरणका सम्बन्ध आत्मस्वरूपके साथ नहीं है, क्योंकि आत्मस्वरूपमें कोई भेदाभेद नहीं है। तथापि वेदभगवान्‌ने कहा है कि अवैध आचरण परम दूषण है। अपने स्वधर्म, अधिकार और जातिभेदके अनुसार जिसके लिये जो उचित अर्थात् शुद्ध कर्म है वह उसे अवश्य करना चाहिये। इसलिये सन्तोंको तो अवश्य ही करना चाहिये, स्वयं करके लोगोंको दिखाना चाहिये (जिसमें वे उसका अनुकरण करें)। जिस कुलका जो कुलधर्म हो उसका वह अवश्य पालन करे, जिसमें किसी प्रकार भी अनाचार न हो। अपनी अवस्था चाहे जितनी पावन हुई हो तथापि शास्त्रविधिके त्यागनेमें दोष है। धर्मशास्त्रमें जो कर्मपद्धति बतलायी है उसका अनुसरण करना ही होगा।'

ज्ञानेश्वर महाराजका यह भाषण मनन करनेयोग्य है। सिद्ध पुरुष भी वेदविहित आचरण करे, शास्त्रविधिको सर्वथा न त्यागे; यही नहीं प्रत्युत ऐसा आचरण करे कि वह आचरण दूसरोंके लिये अनुकरणीय हो! श्रीमद्भगवद्गीताके *'यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः'* इस श्लोकपर तथा इसके पूर्वके श्लोकोंपर टीका करते हुए ज्ञानेश्वर महाराजने स्पष्ट ही कहा है—

'जिन्हें सब अर्थ प्राप्त हो चुके (अर्थात् जिनके लिये अब कुछ प्राप्तव्य नहीं रहा), जो निष्कामताको प्राप्त हो गये, उनके लिये भी, लोकहितका कर्तव्य रहता ही है। मार्गमें अन्धेके

आगे जैसे आँखोंवाला चलकर उसे रास्ता बताता है उसी तरह (सन्तोंको) धर्मका आचरण करके, जो अज्ञानी हैं उन्हें धर्म बताना चाहिये। यदि सन्त ऐसा न करें तो जो अज्ञानी हैं वे क्या समझ सकते हैं ? वे इस मार्गको कैसे जान सकते हैं ? जो-जो कुछ बड़े करते हैं उसीको लोग धर्म कहते हैं और सभी सामान्य जन उसीका अनुष्ठान करते हैं। ऐसा होना बिल्कुल स्वाभाविक है। इसलिये कर्मका त्याग नहीं करना चाहिये। सन्तोंको तो विशेषरूपसे धर्मका आचरण करना चाहिये।'

आगे फिर और कहते हैं—

'हम यदि पूर्णकाम हुए, आत्मस्थितिको भी प्राप्त हो गये तो भी इस प्रजाका उद्धार कैसे होगा ? इसलिये जो समर्थ है, जो सर्वज्ञ हो चुका वह तो कर्मका त्याग कदापि न करे।'

'इस प्रजाका उद्धार कैसे होगा' इस चिन्तोद्गारमें ज्ञानेश्वर महाराजके अवतारका महत्व है। ज्ञानेश्वर महाराज लोकहित-कर्ता थे। उन्होंने इस लोकको 'लोकसंस्था' कहा है और टीका करते हुए आगे कहा है—

'यह समूची लोकसंस्था सर्वथा रक्षणीय है। इसलिये रास्ते-से ही चलना चाहिये और दुनियाको वह रास्ता दिखाना चाहिये। लोगोंके साथ अलौकिक (लोकविरुद्ध) न होना चाहिये।'

ज्ञानेश्वर महाराजकी अवतारलीलाका मर्म इसी बातमें है। ज्ञानेश्वरीमें सर्वत्र उन्होंने इसी बातको बार-बार कहा है। अस्तु।

ज्ञानेश्वर महाराजके भाषणके बाद सोपानदेव आगे बढ़े। उन्होंने कहा—

'पाण्डवोंके कुलका पता लगाइये तो वह निर्मूल है....। भक्तिमें ही सब कुछ है, जातिमें क्या रक्खा है? स्वसंवेद्य आत्मस्थिति जातिमें नहीं, भक्तिमें है। दुर्वासा, वसिष्ठ, अगस्त्य, गौतम उत्तम ऋषि हैं, पर इनका कुल कैसा है? व्यास और वाल्मीकिका कुल भी कौन-सा है? हमारी भी वही बात है।'

अर्थात् हमलोग भगवान्‌की भक्ति करें, जीवनको सफल करें और जनेऊ आदिके झंझटोंमें न पड़ें। यही सोपानदेवका विचार रहा। पर फिर तीनों भाइयोंने मिलकर विचार किया और तब यही निर्णय हुआ कि पैठणमें जाकर वहाँ ब्राह्मणोंसे शुद्धिपत्र लेना चाहिये। तब ये बच्चे पैठणके लिये रवाना हुए। पर ये बच्चे कैसे? 'लोगोंकी आँखोंमें छोटे दिखायी देनेवाले ये बालक, जैसा कि एक कविने कहा है, बड़ोंके भी बड़े थे, पराके भी परे थे।'

पैठणके चमत्कार

जडको चैतन्य कर देना, हे नारायण ! तुम्हारे लिये असम्भव नहीं है ।

—श्रीतुकाराम

निवृत्तिनाथ अपने भाई-बहिनको साथ लिये धीरे-धीरे चलकर पैठण पहुँचे । छोटी बच्ची मुक्ता भी साथ थी, क्योंकि इनके सिवा उसे और कौन सँभालता ? गोदावरीमें स्नानादि करके ये लोग ग्राममें गये । विट्ठलपन्तके मामा कृष्णाजीपन्त देवकुले पैठणमें ही रहते थे । उन्हींके यहाँ ये ठहरे । चार दिन बाद पैठणके ब्राह्मणोंकी सभा हुई । उस सभाके सामने निवृत्तिनाथने वह पत्र रक्खा जो आलन्दीके ब्राह्मणोंने लिख दिया था । इस पत्रसे सभाको यह विदित हुआ कि ये संन्यासीके बच्चे हैं और यज्ञोपवीत-संस्कारके लिये शास्त्रकी अनुज्ञा चाहते हैं । निवृत्तिनाथने समस्त ब्रह्मवृन्दको साष्टाङ्ग प्रणाम किया, अपनी सारी कथा स्पष्ट शब्दोंमें कह दी और यह प्रार्थना की कि 'हम अनाथ, पतित, शरणागत और दीन हैं, आपलोग दया करके हमें सनाथ करें और अपना लें ।' उस ब्रह्मसभामें बड़े-बड़े वैदिक, शास्त्रज्ञ और श्रुति-स्मृति पारंगत विद्वान् एकत्र थे । गाँवभर यह शोर मचा कि, आलन्दीसे तीन बच्चे आये हैं, हैं किसी संन्यासीके बच्चे और चाहते हैं जनेऊ कराना और उसके लिये धर्मशास्त्रकी आज्ञा !

इसे सुनकर सैकड़ों ब्राह्मण सभा-स्थानमें पहुँचे। शास्त्री पण्डितोंने अनेक स्मृति-ग्रन्थोंको देख डाला, पर कहीं कोई अनुकूल वचन नहीं मिला।

निवृत्तिनाथ, ज्ञानेश्वर, सोपानदेव और मुक्ताबाई सब सभास्थानमें आकर बैठे थे। उनकी आनन्दवृत्ति, प्रसन्नता और दिव्य कान्ति देखकर बहुतोंके हृदयमें उनके प्रति प्रेम और आदर उत्पन्न हुआ था। तथापि ऐसी सभाओंमें ऐसे लोग भी तो होते ही हैं जिनकी ज़बानें दूसरोंके दोषोंको बढ़ाकर कहनेके लिये लप-लपाया करती हैं। 'संन्यासीके बच्चे' ये दो शब्द उनमें वीरश्री-का सञ्चार करनेके लिये पर्याप्त थे। शास्त्री पण्डित शास्त्रार्थ ढूँढ़ रहे थे, सदय-हृदय सात्त्विक सुजन दया और प्रेमके वश हो रहे थे और इन दुष्टोंकी जिह्वाओंकी धार इस प्रसंगमें और भी तीक्ष्ण होकर सद्भाव और साधुभावपर बड़ी तेजीसे चल रही थी। लोगोंकी इन तीन वृत्तियोंके खेल देखकर निवृत्तिनाथ मन-ही-मन हँस रहे थे। ज्ञानेश्वर महाराज धर्मशास्त्रका निर्णय ब्राह्मणोंके मुखसे सुननेके लिये बड़े उत्सुक दिखायी देते थे और सोपानदेव और मुक्ताबाई दोनों नाम-जपमें मग्न थे—'राम-कृष्ण-हरि' का चिन्तन कर रहे थे। इन चारों बच्चोंके मुखोंपर दिव्य तेज चमक रहा था और इन अन्तःसुख, अन्तराराम और अन्तर्ज्योति बाल-विभूतियोंकी ओर देखकर कुछ लोगोंके हृदयोंमें एक दूसरे ही प्रकारका आनन्द हिलोरें मार रहा था। ऐसे अन्तर्मुख सज्जन अवश्य ही इने-गिने रहे होंगे। सन्तोंका वर्णन करनेकी सामर्थ्य

हमारे शब्दोंमें नहीं है, इसलिये महाराजके ही शब्दोंमें हम इनका वर्णन यों कर सकते हैं—

'वे अन्तःसुखमें मस्त हो गये, अपने अन्दर आप ही मग्न हो गये। वे साम्यरसकी मानो मूर्ति हैं' ॥ १३७ ॥

'वे आनन्दके अनुकार, सुखके अंकुर, महाबोधके मानो क्रीडास्थान ही बने हुए हैं' ॥ १३८ ॥

'वे विवेकके ग्राम, परब्रह्मके स्वभाव, ब्रह्मविद्याके मानो आभूषण पहने हुए अवयव हैं' ॥ १३९ ॥

—ज्ञानेश्वरी अ० ५

अस्तु। उस दिनकी सभामें विशेष निर्णय होनेको था। बड़ी चर्चा हुई, बड़ा विचार हुआ और ब्राह्मणोंने निर्णय सुनाया। उस निर्णयका वर्णन भक्तवर नामदेवरायने किया है—

नाहीं प्रायश्चित्त उभय कुल भ्रष्ट। बोलियेले श्रेष्ठ पूर्वापार ॥१॥
या एक उपाय असे शास्त्रमतें। अनन्यभक्तीतें अनुसरावें ॥२॥
तीव्र अनुतापें करावें भजन। गो खर आणि श्वान वन्दोनियाँ ॥३॥

अर्थात् 'पूर्वके और बादके आचार्योंके मतसे इनके लिये कोई प्रायश्चित्त नहीं है, क्योंकि दोनों कुल भ्रष्ट हो गये हैं। शास्त्र-विचारसे अब केवल एक ही उपाय है और वह यह है कि अनन्य-भक्तिका अनुसरण करें, तीव्र अनुताप करें और गौ, खर, श्वानको वन्दन कर भजन करें।'

इसीको और स्पष्ट करके निरञ्जनमाधवने कहा है—

'महाजनोंने यही निर्णय किया कि इन बच्चोंके लिये निष्कृतिका कोई उपाय नहीं है । धर्म-शास्त्रमें उन्हें कोई विधि-व्यवस्था नहीं मिली । इससे क्या व्यवस्था दें, यह इनकी समझमें नहीं आया । पर कोई व्यवस्था न देनेसे बुरी गति होगी, इतने बड़े क्षेत्रकी कुछ कीर्ति ही न रह जायगी, इसलिये इन्होंने यह उपाय बताया कि, "जिस हालतमें हो उसीमें बने रहो और रामका भजन करो । हरिपादपद्ममें अनन्य भक्ति करो, अखण्ड सुखधाममें ही निष्ठा रखो, इस मायामय प्रपञ्चको त्यागकर, तीव्र अनुताप करते हुए, भजन बढ़ाओ । सारे जगत्को श्रीकृष्णरूपमें देखो । द्विजादि, चाण्डाल और खर सब देहोंमें उन्हींको देखकर वन्दन करो । अपना-पराया भाव बिलकुल मत रखो । चित्तमें चिदानन्द धारण किये रहो, उसी एक अखण्ड चैतन्यको सर्वत्र देखो । इसी पद्धतिसे इस लोकमें तुम्हारा उद्धार होगा, इसके सिवा और कोई रास्ता तुम्हारे लिये नहीं है । अखण्ड जितेन्द्रियत्व धारण करो, संसार-काम-विद्रोहको मत बढ़ाओ । वैराग्य-योगसे ही शरीरका उपयोग करो । यही तुम्हारे लिये शुद्धिका यथेष्ट उपाय है ।"

'भक्तविजय' में महीपतिबाबाने इसी बातको तात्पर्यरूपसे कहा है कि—'भगवान्‌की शरण लो, प्राणिमात्रमें उसीका भजन करो । गो, खर, गज, श्वान सबको समानरूपसे वन्दन करो ।'

ब्राह्मणोंके मुखसे यह निर्णय सुनकर निवृत्तिनाथ आदिके अन्तःकरणोंकी क्या अवस्था हुई होगी ? ये ब्राह्मण हमें शुद्ध करके

अपनानेको तैयार नहीं, जनेऊकी अनुज्ञा देनेको भी तैयार नहीं। कहते हैं कि विवाहादि करके प्रपञ्च मत बढ़ाओ। यह सुनकर प्रवृत्तिमार्गियोंके प्राण ही सूख जाते; उन्हें ऐसा मालूम होता जैसे सर्वस्व ही छिन गया हो और फिर ये ऐसा निर्णय सुनानेवाले ब्राह्मणों और उनके शास्त्रोंको भला-बुरा कहनेमें कोई बात बाकी न रखते! जिसे विषय भोगनेकी इच्छा हो उससे यदि कोई कहे कि विषय मत भोगो तो उसे यह बात कभी मंजूर नहीं हो सकती। परन्तु जिनकी सब विषय-वासनाएँ जन्म-जन्मान्तरके पुण्य-कर्मोंसे दग्ध हो चुकी हैं, जिनके हृदय-मन्दिरमें भगवान्ने अपना आसन लगाया है और जो पहले ही निवृत्त होकर बैठे हैं उन्हें इस निर्णयसे क्या दुःख होगा? उन्हें तो इस निर्णयसे परम आनन्द हुआ। जिन्हें विषयोंका किसी भी अवस्थामें भान नहीं होता उन्हें यदि यह दण्ड सुनाया जाय कि तुम विषय-भोग त्याग दो, तो उनके लिये यह कोई दण्ड नहीं हो सकता। 'जन्मके प्रसङ्गसे स्त्री-देहका जो स्पर्श हुआ सो हुआ, पर उसके बाद फिर सम्पूर्ण जीवनमें, कभी वह स्पर्श न हो'—ऐसा जिसका ब्रह्मचर्य हो उससे यदि कहा जाय कि तुम विवाह मत करो तो उसके लिये यह कोई कठोर दण्ड नहीं है। तात्पर्य यह कि ब्राह्मणोंने जो निर्णय सुनाया वह निवृत्ति, ज्ञानेश्वरके लिये उपदेश-स्वरूप और प्रिय ही था। ब्राह्मणोंने उन्हें हरिभजनमें जीवन व्यतीत करने और सब प्राणियोंके अन्दर भगवान्के दर्शन करनेका उपदेश दिया। पर इस विषयमें उनकी अत्युच्च कल्पनाओंकी उड़ानके भी वे परे थे, इस बातको सारा जगत् जानता ही

है। चारों भाई-बहिन जीवनभर ब्रह्मचर्य-व्रतमें ही रहे और जन्मके प्रसङ्गसे स्त्री-देहका जो स्पर्श उन्हें हुआ वह फिर उस जीवनमें कभी नहीं हुआ और वे उस परम शुद्ध स्वरूपके साथ समरस होकर रहे जहाँ मायाकी अशुचिताकी हवा भी नहीं लगती! ब्राह्मणोंका यह निर्णय सुनकर 'निवृत्तिनाथके चित्तमें बड़ा सन्तोष हुआ। उन्होंने ब्राह्मणोंसे कहा कि आपके तीर्थरूप धन्य हैं। ज्ञानदेवने कहा, आपलोग जो कहेंगे वह स्वीकार है। मुक्ताबाई और सोपान बड़े आनन्दित हुए।' जो बात इन भाई-बहिनके दिलोंमें थी वही उन्हें मिली।

ब्राह्मणोंका निर्णय सुनकर भी इन बालकोंके आनन्दमें कोई अन्तर नहीं पड़ा, यह देखकर सभासदोंको बड़ा आश्चर्य हुआ। बहुतोंका यह खयाल था कि ये निराश होकर रोते हुए लौट जायँगे। परन्तु उनके प्रसन्न वदनपर उदासीकी किञ्चित् भी छाया नहीं दिखायी दी, उनका आनन्द ज्यों-का-त्यों बना रहा। यह देखकर बहुतोंको उनके प्रति बड़ी श्रद्धा हुई। सभा अब विसर्जित ही होनेको थी जब किसीने निवृत्तिनाथ प्रभृतिसे यह पूछा कि तुमलोगोंके निवृत्ति आदि जो नाम रखे गये हैं, इन नामोंके क्या अर्थ हैं? अपने नामोंके अर्थ उन्होंने बतलाये। निरञ्जनमाधव कहते हैं—

निवृत्तिनाथने कहा—'मैं तो निवृत्ति हूँ, प्रवृत्तिसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं। मैं राजयोगी हूँ, अखण्ड स्वसुखामृत भोगता हूँ।'

ज्ञानदेवने कहा—'मैं ज्ञानदेव अर्थात् सकल अगमका वेत्ता हूँ। पूछनेसे तो मैं त्रिवार यही कहूँगा।'

सोपानदेवने कहा—'भगवान्‌के भजनमें लोगोंको लगाना और भक्तिमानोंको वैकुण्ठ प्राप्त कराना मेरा काम है।'

मुक्ताबाईने कहा—'मैं मुक्तिका द्वार खोलती हूँ। इस भुवनमें भगवान्‌की लीला दिखाने प्रकट हुई हूँ।'

'छोटे' बच्चोंके मुँह ये 'बड़ी' बातें सुनकर कितने ही लोग हँस पड़े। इसी समय सभामण्डपके बाहर रास्तेपर एक भैंसा दिखायी दिया। उसकी ओर देखते हुए कोई बोल उठा—'अजी! नाममें क्या धरा है? यह भैंसा जा रहा है। इसका भी नाम ज्ञानदेव है!' यह बात सुनते ही ज्ञानदेवने कहा—'हाँ, ठीक ही तो है, इसमें हममें कोई भेद नहीं है, यह भैंसा भी मेरा आत्मा ही है'—

'यदि ठीक तरहसे देखिये तो भैंसेमें और हममें किञ्चित् भी भेद नहीं है। सब देहोंमें, प्राणिमात्रमें समानरूपसे वही आत्मा व्यापक है। असंख्य घड़ोंमें जल भरा हुआ है और उन सबमें एक ही सूर्य प्रतिबिम्बित हो रहा है, उसी प्रकार सब भूतोंमें समानरूपसे भगवान् व्यापक हैं। नाना प्रकारकी वनस्पतियाँ हैं, पर सबके मूलमें एक जल ही व्यापक है, वैसे ही सब भूतोंमें एक रमानायक ही व्यापक हैं।'

सर्वत्र समरस परमात्मामें जिनकी दृष्टि लगी हुई थी उन्हें अपने और भैंसेके बीच कोई अन्तर नहीं दिखायी दिया। उनके अन्तः-करणमें जो यह अभेद-भाव उदय हुआ था उसका प्रमाण भी

देखनेका अवसर पैठणके ब्राह्मणोंको शीघ्र ही प्राप्त हुआ । बात यह हुई कि जब ये बातें हो रही थीं तब उस ब्राह्मणने उस भैंसेकी पीठपर सड़ाकसे तीन चाबुक लगाये । सर्वात्मभावकी प्रतीतिका यह चमत्कार देखा गया कि चाबुक लगे भैंसेकी पीठपर और उनकी सॉंटें पड़ीं ज्ञानेश्वर महाराजकी पीठपर ! और उनसे रक्त भी बहने लगा ! यह देखते ही लोग आश्चर्यसे दङ्ग रह गये !

पर यह कथा यहीं समाप्त नहीं हुई । ज्ञानेश्वर महाराजको और एक बहुत बड़ा चमत्कार दिखाना था । ब्राह्मणोंको वन्दन करके आपेगॉंव लौट जानेके इरादेसे वह गोदावरीके किनारे आकर बैठे रहे । बहुत-से लोग वहाँ इस बाल्योगीको देखनेके लिये जुट गये । कुछ जिद्दी नौजवान भी गर्दन टेढ़ी किये हुए उपहासके साथ इनकी ओर देख रहे थे । ऐसे ही दो-एक नवयुवकोंने इनके पास आकर इनसे कहा, 'तुम अपना कुल पावन कराना चाहते हो तो इस भैंसेके मुँहसे वेदकी ऋचाएँ कहलवाओ ।' यह सुनते ही ज्ञानेश्वर उठकर खड़े हुए और ब्राह्मणोंको वन्दन करके विनयसे बोले, 'आप लोग भूदेव हैं । आपके मुँहसे जो शब्द निकलेंगे वे विफल नहीं होंगे ।' यह कहकर वह उस भैंसेके पास गये और उसके मस्तकपर उन्होंने अपना करपद्म रखा । त्यों ही उस भैंसेके मुँहसे चारों वेदोंकी ऋचाएँ अस्खलितरूपसे बाहर निकलने लगीं !! यह अद्भुत चमत्कार देखकर सब लोग चकित और स्तम्भित हो गये । गाँवके सब लोग वहाँ एकत्र हुए । ज्ञानेश्वर महाराजका वरद हस्त उस भाग्यवान् भैंसेके मस्तकपर

है, चारों ओर सहस्रों ब्राह्मण एकत्र हैं और उस भैंसेके मुँहसे वेद निकल रहे हैं और सब लोग टकटकी बाँधे उस ओर देखते हुए आश्चर्यमुग्ध होकर सुन रहे हैं! यह अपूर्व दृश्य संवत् १३४४ माघ शु० ५ के दिन गोदावरीतटपर दिखायी दिया! स्वर और वर्ण बिल्कुल शुद्ध थे, उच्चारण स्पष्ट था, बड़े-बड़े वैदिक सीस झुकाये सुन रहे थे! यह अपूर्व दृश्य जिन्होंने अपनी आँखों देखा होगा वे धन्य हैं! उस भैंसेके मुँहसे एक पहर वेदघोष हुआ! ब्राह्मणोंका अभिमान चूर हुआ, वे लज्जित हुए, उन्होंने जाना कि हमलोगोंसे शुद्धिपत्र माँगनेके लिये आये हुए यह बालयोगी विष्णुके अवतार हैं, ये भाई-बहिन सभी भगवान्के अंश हैं। यह जानकर वे ज्ञानेश्वर आदिकी स्तुति करने लगे। सबके मुँहसे ये ही उद्गार निकले कि 'जो बात आजतक देखी-सुनी नहीं थी वही आज आँखों देखी।' इस प्रसङ्गका वर्णन निरञ्जन-माधवने किया है—

'अग्निमीळे' इत्यादि ऋचाएँ स्वरसहित निकलने लगीं। सुनकर विप्र विस्मित हुए। (भैंसेके मुँहसे) यजुर्वेद भी सुना, सामगान भी सुना—ऐसा सामगान कि सामगान करनेवाले सामकोंसे भी ऐसा सुस्वर गान सुननेमें नहीं आता। सब लोग मुग्ध होकर सुन रहे हैं और आश्चर्य कर रहे हैं कि भैंसेके मुँहसे वेदमन्त्र! ये (निवृत्ति, ज्ञानदेव और सोपान) देवाधिदेव हैं, ब्रह्मा, विष्णु, महेश हैं; लोकोद्धारके लिये कलिमें अवतीर्ण हुए हैं। और यह कुमारी चित्कला है जिसकी प्रभाकी तुलना सूर्यप्रभासे भी नहीं हो सकती। हम-

लोग कैसे कुटिल हैं जो कर्मठताके अभिमानसे, मद-मोह-मानसे इन ईश्वरको भी कुछ नहीं समझे !'

ज्ञानेश्वरका ब्रह्मतेज देखकर पैठणके ब्राह्मणोंको अपने वास्तविक रूपकी पहचान हुई, अभिमानसे अन्धी हुई उनकी दृष्टि जब मुड़कर अन्दर देखने लगी तब उन्हें मालूम हुआ कि हमारे पास कोई ऐसी चीज नहीं है जिसपर हम गर्व करें, और यह जानकर उन्हें बड़ा अनुताप हुआ। वे ब्राह्मण कर्मठ थे पर अकर्तात्मस्थितिका उन्हें बोध नहीं था। वे शब्दशास्त्र जाननेवाले थे, पर निःशब्द स्थितिका उन्हें अनुभव नहीं था। वे विधि-निषेध यथाशास्त्र जानते थे, पर जहाँ विधि-निषेध अस्त हो जाते हैं उस अवस्थाका उन्हें साक्षात्कार नहीं था। ज्ञानेश्वररूपी दर्पणमें उन्होंने अपना मुँह देखा तो वह उन्हें बहुत ही भद्दा और मैला-कुचैला दिखायी दिया। उन्होंने अब समझा कि हमलोगोंने वेदोंको पढ़ा, पर वेद जिनके निश्वास हैं उन्हें नहीं जाना। इसका उन्हें बड़ा दुःख हुआ। सच्चा ब्राह्मण वही है जो ब्रह्मवेत्ता हो। ऐसा ब्रह्मवेत्ता ब्राह्मण जब सामने दिखायी दिया तब देह-बुद्धिके कूड़ाखानेमें पला हुआ जात्यभिमान नष्ट हो गया। अब वे अपने आपको यह कहकर धिक्कारने लगे कि हमने क्या किया, वास्तविक ज्ञान तो कुछ भी नहीं पाया, केवल वेद और शास्त्रकी नाम-हँसाई की, अपना पेट पाला, कुटुम्बका पालन किया और जीवन व्यर्थ ही गँवाया! नामदेवराय उनके हृदयकी इस अवस्थाके उद्गार सुनाते हैं—

'कर्मठताके अभिमानसे देह-बुद्धिके द्वारा हमलोग ठगे गये। विधि-वचनोंमें ही अटके रह गये। भक्ति, ज्ञान, वैराग्यका लेश भी हमारे अन्दर नहीं। केवल कुटुम्बके दास बने हुए हैं। दूसरोंको उपदेश देते हैं, पर स्वयं आचरण नहीं करते। नकली प्रतिष्ठा लिये बैठे हैं। धन्य तो ये हैं; इनका वंश धन्य है और इनका कुल धन्य है! केवल धन्य ही नहीं, ये पुण्यशील अवतार हैं। ऐसा कहते हुए सब ब्राह्मण उन्हें नमस्कार और आनन्दसे उनका जय-जयकार करने लगे।'

ब्राह्मणोंने ज्ञानेश्वर महाराजका जब जय-जयकार किया तब—

'ज्ञानदेव बोले, यह सब आपके चरणोंकी महिमा है। हमारे अन्दर यह सामर्थ्य नहीं। आपलोग वेदस्वरूप प्रत्यक्ष भूदेव हैं। आपके दर्शनोंसे जड मूढ तर जाते हैं।' निवृत्तिनाथने कहा, 'हे ज्ञानदेव! ब्राह्मणोंके चरणोंका ध्यान करनेसे कलिका मल कट जाता है।'

ज्ञानेश्वरकी विनय और ब्राह्मणनिष्ठा कितनी अपूर्व है! उनके सभी गुण ऐसे हैं कि किस गुणकी स्तुति की जाय और वह कैसे की जाय यह कौन बता सकता है? तुकाराम महाराजके 'यह तर्कसे जाननेकी चीज नहीं है इसलिये चरणोंपर माथा ही रख दिया।'—इस दृष्टान्तके अनुसार हमलोग भी ज्ञानेश्वर महाराजके चरणोंमें परमात्मभावसे अपना मस्तक रखें, यही उचित है।

इसके पश्चात् निवृत्तिनाथ आदि कुछ कालतक पैठणमें ही रहे। गोदावरीमें स्नान करते, वेदान्तकी चर्चा करते, कीर्तन,

पुराण आदि सत्कर्माचरणमें रहते और पैठणवासियोंको भगवान्‌की भक्तिका मार्ग दिखाते, यही वहाँ उनका जीवनक्रम था। पैठणमें रहते हुए ही ज्ञानेश्वर महाराजने श्रीमच्छंकराचार्यका भाष्य, श्रीमद्भागवत, योगवासिष्ठ आदि ग्रन्थ देखे और आगे जो ग्रन्थ लिखे उनकी भूमिका भी उन्होंने यहीं तैयार की। ज्ञानेश्वर महाराजका अध्ययन क्या था, केवल स्मरण था। गीताके छठे अध्यायमें—

> तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम्।
> यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन॥

इत्यादि प्रकारसे जिन योगियोंका वर्णन किया गया है अथवा स्वयं ज्ञानेश्वर महाराजने इस प्रकार जिनका विस्तारपूर्वक वर्णन किया है कि 'वहाँ अवस्थाकी प्रतीक्षा नहीं की जाती, वयस्‌की भी बाट नहीं जोही जाती और सर्वज्ञता बचपनमें ही उसे वरण कर लेती है। उसे सिद्धप्रज्ञाके प्राप्त होनेसे मन ही सारस्वत होकर प्रवाहित होता है और सब शास्त्र स्वयं ही मुखसे निकलने लगते हैं।' (ज्ञानेश्वरी अ० ६। ४५३—४५४) ज्ञानेश्वर महाराज भी उन्हीं योगियोंकी श्रेणीके सिद्धप्रज्ञ पुरुष थे। ग्रन्थाध्ययन करके प्रज्ञावान् बननेवाले लौकिक विद्वानोंकी अपेक्षा वह बिल्कुल ही भिन्न कोटिके थे। गुरु-कृपासे उन्होंने पहले स्वानुभव लाभ किया और पीछे ग्रन्थ देखने लगे। सामान्य विद्वान् पहले ग्रन्थाध्ययन करते हैं अर्थात् पहले अपरोक्ष-ज्ञान लाभ करते हैं, पीछे परोक्षानुभवका यत्न करते हैं। पर श्रीशङ्कराचार्य अथवा श्रीज्ञानेश्वर महाराज-जैसे महात्माओंको पहले अपरोक्षानुभव हो चुकता है, और पीछे स्वानुभवकी दृष्टि-

से वे अध्यात्मग्रन्थ देखते हैं और इसलिये 'पर्जन्यकालमें जैसे महानदीकी बाढ़ आती है वैसे ही इनकी (ऋतम्भरा) बुद्धि शास्त्र-ग्रन्थोंके अवलोकनसे चारों ओर फैल जाती है ।' (ज्ञानेश्वरी १४१२) इनकी सिद्धप्रज्ञा शास्त्रोंको एक बार देखते ही लीला-मात्रसे आत्मसात् कर लेती है । ऐसे महात्मा स्वानुभवके नेत्रोंसे ग्रन्थोंको देखते हैं । बुद्धिके नेत्रोंसे ग्रन्थोंको देखनेका काम हम-आप सभी कर ही रहे हैं । अस्तु ! पैठणमें रहते हुए ज्ञानेश्वर महाराजने अपने भाई-बहिनके साथ अध्यात्मग्रन्थावलोकन किया और कथा-प्रवचन और कीर्तनमें समय व्यतीत किया ।

पैठणमें एक ब्राह्मणको एक अवसरपर अपने पिताका श्राद्ध करना था । ज्ञानेश्वर महाराजने उसे श्राद्धकी तैयारी करनेको कहा । पितरोंके लिये आसन बिछाये गये । ज्ञानेश्वर महाराजने उन पितरोंका ध्यान करके कहा, *'आगन्तव्यम्'* इनकी वाणीका यह प्रताप देखा गया कि तुरन्त सब पितर अपने-अपने स्थानमें आकर बैठ गये । ज्ञानेश्वर महाराजकी यह योगशक्ति और सिद्धि देखकर वह ब्राह्मण कृतकृत्य हुआ । उसे इन असाधारण बालकों-की अलौकिकतापर पूर्ण विश्वास हो गया ।

ज्ञानेश्वर महाराजके ऐसे-ऐसे चमत्कार और उनकी अलौकिक क्षमता देखकर पैठणवासियोंको यह निश्चय हो गया कि 'ये तीनों मूर्तिमान् देवता हैं । इन्हें प्रायश्चित्तकी कोई आवश्यकता नहीं । ये जीवन्मुक्त हैं, मूर्तिमान् जगद्गुरु हैं ।' (भक्तविजय अ० ९ । १०) इस प्रकार निश्चय करके पैठणके

विद्वान् ब्राह्मणोंने एक शुद्धिपत्र लिखा और वह निवृत्तिनाथ महाराजको दिया। निवृत्तिनाथने सीस नवाकर उसे दोनों हाथों-में ग्रहण किया और सबको प्रणाम किया।

शुद्धिपत्र

[पैठणके ब्राह्मणोंने ज्ञानेश्वरादिको जो शुद्धिपत्र दिया उसकी एक नकल श्रीभिंगारकरबाबाको पुराने कागज-पत्रोंमें मिली और वह उन्होंने प्रकाशित की। वही आगे दी जाती है। इसमें ज्ञानेश्वर महाराजके पिता विट्ठलपन्तका भी सब हाल लिखा हुआ है और पैठणमें ज्ञानेश्वर महाराजने जो चमत्कार दिखाये उनके बारेमें पैठणके ब्राह्मणोंने इस शुद्धिपत्रमें कहा है कि ये चमत्कार हमलोगोंने अपनी आँखों देखे। इस शुद्धिपत्रकी भाषा बड़ी मधुर है। नामदेवके 'आदि' ग्रन्थके समान यह शुद्धिपत्र भी चरित्रात्मक होनेसे महत्वपूर्ण है। दोनोंके बीच अवश्य ही कुछ अन्तर है। इस शुद्धिपत्रके प्रामाण्यके विषयमें विद्वानोंमें कुछ मत-भेद है। तथापि इसमें दिया हुआ विवरण अन्यत्र मिलनेवाले विवरणसे अधिकांशमें मिलता-जुलता है और पैठणके ब्राह्मणोंने ज्ञानेश्वरादिको जो शुद्धिपत्र दिया वह यदि यही शुद्धिपत्र न हो तो वह कैसा होगा इसकी कल्पना भी इससे करते बनती है। इसका कम-से-कम इतना तो महत्त्व है ही।]

स्वस्ति श्रीमत्सकलभूमण्डलमण्डनीभूताः अखण्डप्रचण्ड-वैतण्डिकवेतण्डगण्डस्थलखण्डनैकहरयः गिरयोऽखिलतत्त्व-प्रकाशकसूक्तिरत्नानां तस्योऽशेषशास्त्रजलधेः नानानीवृदल-

ङ्करणमणयो निखिलविद्वांसः शृणुध्वमेतां प्रणतिपरम्परोपेतां प्रतिष्ठानमधितिष्ठतां सर्वभूसुपर्वणामस्माकमभ्यर्थनाम् । यद्-द्भुततममुद्भूतमिह प्रत्यक्षमपक्षपातमनुभूतं तदेवं देववेद-साक्षिकं स्वाक्षिकलितं पुरतः शुभवतां भवतां प्रकाशयामः ।

श्लोक

आपेग्रामनिवासियाजुषवरो गोविन्दपन्ताभिधो
विप्रः कश्चन सत्पुरश्चरणतः श्रीवेदमातुः सुतम् ।
लेभे विट्ठलपन्तनामकमसौ जातोपनीतिर्गुरोः
सम्प्राप्तो निगमागमान् समगमत्स्वर्तीर्थसार्थेच्छया ॥ १ ॥

आलन्दीतिप्रथितनिगमे भव्यदिव्यप्रसङ्गात्
सिद्धोपन्तद्विजनितनुजां रुक्मिणीं प्राप्य पत्नीम् ।
षड्भिर्वर्षैस्तनयमनया नैव लब्ध्वा प्रसुप्ता-
मेनां हित्वा निशि निशितया प्राप काशीं विरक्त्या ॥ २ ॥

रामानन्दाल्लब्धसंन्यासदीक्षं
तत्र श्रुत्वा हन्त कान्तं नितान्तम् ।
शान्तस्वान्ता सेवमाना विमाना
स्वर्णाश्वत्थं नाथनाथस्य दैवात् ॥ ३ ॥

तत्रैवाप्तं दैशिकं सम्प्रणम्यै-
तस्मात्पुत्राशीर्वचः प्राप्य खिन्ना ।
श्रुत्वा वृत्तं दत्तचित्तेन तेन
नीताभीता प्रत्तधैर्याप काशीम् ॥ ४ ॥

स विठ्ठलं तत्र जगौ सगौरवं
विहाय चानाप्तसुतां पतिव्रताम्।
तथापि नोक्तास्यृणवान्भवाञ्छलात्
बलात् विरक्ताश्रममाश्रितः कुतः ॥ ५ ॥
ममाज्ञयातो घृतकुम्भसम्भव-
स्वजातकर्मादिविधानसंस्कृतः ।
इमां पुनः प्रोद्वह तत्र पुत्रकां-
श्च त्रीन् हरेरंशभवान् भवानियात् ॥ ६ ॥

आर्या

इत्थमसह्यमपि मुहुः प्रसह्य गुरुणारुणाक्षमुक्तः सः।
विधिना पुनरपि विधिना गृही तयाभूद्गृहीतया नतया ॥ ७ ॥
प्रारब्धलेखनविधौ विपर्ययादेव वर्णधर्मस्य।
यतिरपि पुनः पतिरभूदित्युक्त्वासौ बहिष्कृतो विप्रैः ॥ ८ ॥
वृत्तान्तस्याबोधात् श्रुत्वाप्यश्रद्धया पुनरशोधात्।
शिष्टाचारविरोधात् समुज्झितो मत्सरात्परैः क्रोधात् ॥ ९ ॥
अभवन्निवृत्तिमुख्यं ज्ञानेश्वरमध्यमं सुतत्रितयम्।
सोपानान्तं तुर्या तुर्यावस्थारता सुता मुक्ता ॥१०॥
जातोपनीतिसमयास्तनया इति विप्रमण्डलीं समया।
प्रोचे वाचा समया क्षम्यो दोषो ध्रुवं कृतः स मया ॥११॥

श्लोक

स विठ्ठलो विप्रवरैरगादि
क्वापि प्रतिष्ठान पुरेऽत्र तस्मात्।

शुद्धिं प्रतिष्ठानपुरे लभस्व
निवेद्य सर्वं स्वकृतं विगर्वम् ॥ १२ ॥

पुत्रैः समं सोऽथ समं स्वचित्तं
कृत्वा प्रतिष्ठानमिदं प्रयातः ।
स्वमातुलस्यालयमध्यवात्सीत्
सोऽप्युज्झितोऽस्माभिरमुष्य सङ्गात् ॥१३॥

कृष्णाभिधो विट्ठलमातुलोऽसौ
श्राद्धे न लेभे द्विजमुक्तदोषात् ।
लोकान्तरात्तस्य पितॄन् स साक्षा-
दानीतवान्मध्यमवैट्ठलिः सः ॥१४॥

श्राद्धे यदाभून्नहि विप्रयोग-
श्चिरात्पितॄणामपि विप्रयोगः ।
ज्ञानेश्वरेणेह निवारितोऽत्र
दृष्टं चरित्रं तदिदं विचित्रम् ॥१५॥

ज्ञानेश्वरो विट्ठलनन्दनानां
स मध्यमोऽप्युत्तम एव चाद्यः ।
स्थितिप्रियो नित्यविशुद्धसत्त्वो
यथाऽमराणां मुरजित् त्रयाणाम् ॥१६॥

कृत्वा नमो विप्रकुलाय गोदा-
तीरे स्थितस्तातकुलाय हेतोः ।
तीराधिवासैः कृतभूरिहासै-
र्द्विजैरयासैः कथितो विलासैः ॥१७॥

ज्ञानेश्वरस्त्वं यदि वास्तवोऽसि
न वा स्तवोऽयं तव नाममात्रात्।
प्रताडितेऽस्मिन्महिषे प्रतोदै-
स्तवापि गात्रे भविता तदङ्कः ॥१८॥
अथेत्यवादीदथ तैः प्रताडितै-
स्तस्मिंल्लुलायेरुणमस्य पृष्ठकम्।
व्यलोकि रेखात्रितयं त्विहाखिलैः
किलास्य कालत्रयबोधसूचकम् ॥१९॥
लुलायमेतं स्वकुलाय शुद्धये
विधेह्यशेषश्रुतिवृन्दपाठकम्।
इतीरितस्तस्य निधाय मूर्धनि
करं स वेदाकरमेनमातनोत् ॥२०॥
समक्षं सर्वेषां ध्रुवमभवदेषां द्विजनुषा-
मशेषाणां गोदातटभुवि तु मोदाय विदुषाम्।
चरित्रं चित्रं तन्महिष इह सन्तर्जितबुधोऽ-
खिलानुच्चैर्वेदानुचितपदभेदान् समपठत् ॥२१॥
एवं विधानि विविधानि विलोकितानि
ज्ञानेश्वरस्य चरितानि महाद्भुतानि।
विप्रास्ततोऽत्र मिलिताः सकला विशुद्धैः
पत्रं पवित्रहृदयेन समर्पयामः ॥२२॥
ज्ञानेश्वरस्मरणतः स्मरणेन मुक्तान्
मुक्ताग्रजोऽयमखिलान् खलु कर्तुमीष्टे।
निन्द्यो न बोधरहितैः स्वहितैकसिद्ध्यै
वन्द्यो ध्रुवं सुकृतिभिः कृतिभिः समस्तैः ॥२३॥

निध्यम्ध्यरयमक्षोणीसंयुते शालिवाहने।
माघे शुक्ले च पञ्चम्यां सर्वजिन्नामवत्सरे ॥२४॥
श्रीमद्ज्ञानेशचरणयुगले सुरसेविते।
घोपदेवेन ग्रथितं शुद्धिपत्रं समर्पितम् ॥२५॥

शुद्धिपत्रका हिन्दी-अनुवाद

स्वस्ति श्रीमत्सकलभूमण्डलमण्डनीभूत, अखण्ड-प्रचण्ड-वितण्डावादीरूप गजके गण्डस्थलको फोड़नेवाले सिंह, अखिल तत्त्व-प्रकाश करनेवाले सूक्तिरत्नोंके गिरि, सम्पूर्ण शास्त्रोंके सागरको पार करानेवाले तरणी, नाना देशोंको अलंकृत करनेवाले मणि, निखिल विद्वद्वृन्द ! आपलोग हम पैठणनिवासी समस्त भूदेवों-की वारम्बार नमनपूर्वक की हुई इस अभ्यर्थनाको सुनें। जो अद्भुततम घटना प्रत्यक्ष घटी है, जिसे पक्षपातरहित अवस्थामें हमलोगोंने अनुभव किया है उसे देवताओं और वेदोंको साक्षी करके जैसा कि अपनी आँखों देखा है, वैसा आप महाभागोंके सामने प्रकट करते हैं।

आपेग्रामके रहनेवाले, यजुःशाखाके गोविन्दपन्त नामक ब्राह्मणको वेदमाता (गायत्री) के पुरश्चरणसे एक पुत्र लाभ हुआ। इसका नाम विट्ठलपन्त। उपनयन होनेके पश्चात् इसने गुरुसे निगमागमका ज्ञान प्राप्त किया और फिर तीर्थयात्रा करनेकी इच्छासे चले॥ १ ॥ प्रथित महिमा आलन्दीपुरीमें सौभाग्यसे इन्होंने सिधोपन्त ब्राह्मणकी कन्या रुक्मिणी पत्नीरूपमें पायी। इससे छः वर्षपर्यन्त उनके कोई सन्तान नहीं हुई तब एक दिन रातके

समय इसे (स्त्रीको) सोयी हुई छोड़कर, तीव्र वैराग्यके साथ यह काशी पहुँचे ॥ २ ॥ स्त्रीने बड़े कष्टसे सुना कि पतिने वहाँ रामानन्दसे संन्यासदीक्षा ली है । पीछे अन्तःकरणको नितान्त शान्त करके मानरहित होकर इसने नाथनाथके स्वर्णाश्वत्थकी सेवा की ॥३॥ दैवयोगसे वहाँ आचार्य (रामानन्द) आये, उन्हें इसने प्रणाम किया, पुत्राशीर्वाद पाकर खिन्न हुई । तब आचार्यने (उससे पूछा और) दत्तचित्त होकर सारा वृत्त सुनकर उसे अभयदान देकर धैर्य प्रदानकर काशी ले गये, इस तरह वह काशी पहुँची ॥ ४ ॥ काशी पहुँचकर आचार्यने डपटकर विट्ठलसे कहा, तुमने इस अनाप्तसुता पतिव्रताको त्यागकर, बिना इसकी अनुमतिके, तीनों ऋणोंका बोझ सिरपर रहते हुए इस प्रकार छल-बलसे विरक्त आश्रमका आश्रय क्या समझकर लिया है ? ॥५॥ अब मेरी आज्ञासे घृतकुम्भविधिके द्वारा जात-कर्मादिसंस्कार कराके इसका पुनः पाणिग्रहण करो और हरिके अंशसे होनेवाले तीन पुत्र लाभ करो ॥६॥

गुरुने क्रोधसे यह जो कुछ कहा वह असह्य होनेपर भी विट्ठलपन्तने उसे सह लिया और विधिकी रचनाके अनुसार पुनः विधिपूर्वक वह इस विनीता गृहिणीको ग्रहणकर गृही हुए ॥७॥ प्रारब्धकर्मवशात् वर्णधर्मका ऐसा विपर्यय होनेसे यति पुनः पति हो गया, यह कहकर ब्राह्मणोंने विट्ठलपन्तका बहिष्कार किया ॥८॥ सम्पूर्ण वृत्तान्तको न जानकर, सुनकर भी अश्रद्धासे उसकी कोई खोज न करें, शिष्टाचारका विरोध होता है इस भावसे सबने और कुछने तो मत्सरसे और क्रोधसे भी उन्हें जातिसे

निकाल दिया ॥ ९ ॥ इनके तीन पुत्र हुए, ज्येष्ठ निवृत्ति, मध्यम ज्ञानेश्वर और कनिष्ठ सोपान, चौथी मुक्ता कन्या हुई जो चौथी (तुर्या) अवस्थामें ही रत रहती है ॥ १० ॥ पुत्रोंके उपनयनका अब समय आया, यह सोचकर विप्रमण्डलीके समीप जाकर विट्ठलपन्तने दीन-वाणीसे यह कहा कि मुझसे निश्चय ही जो दोष हुआ है उसे आपलोग क्षमा करें । ॥ ११ ॥

ब्राह्मणोंने विट्ठलपन्तसे कहा कि इस पुरीमें कोई प्रतिष्ठा नहीं है, इसलिये प्रतिष्ठानपुर (पैठण) में जाकर वहाँ गर्वरहित होकर अपना किया-कराया सब कुछ निवेदन करो और शुद्धि प्राप्त करो ॥ १२ ॥ तब वह पुत्रोंसहित स्वस्थ-चित्त होकर इस पैठण-नगरमें आये । यहाँ वह अपने मामाके यहाँ ठहरे । हमलोगोंने इन मामाको भी संसर्गदोषके कारण वहिष्कृत कर दिया ॥१३॥ विट्ठलपन्तके मामा कृष्णाजीको इस दोषके कारण श्राद्धके लिये ब्राह्मण नहीं मिले । तब विट्ठलपन्तके मध्यम पुत्र लोकान्तरसे साक्षात् पितरोंको ही ले आये ॥ १४ ॥ श्राद्धमें जब विप्रयोग नहीं हुआ तब चिरकालसे पितरोंका जो विप्रयोग (वियोग) हो रहा था उसीका ज्ञानेश्वरने यहाँ निवारण किया । उनका यह विचित्र चरित्र हमलोगोंने देखा—॥ १५॥ स्थितिप्रिय और नित्यशुद्धसत्त्व ज्ञानेश्वर विट्ठलपुत्रोंमें मध्यम होनेपर भी उत्तम और आद्य हुए वैसे ही, जैसे तीनों देवताओंमें मुरारी श्रेष्ठ हैं । ॥ १६ ॥ वह ज्ञानेश्वर विप्रवृन्दको नमस्कार करके पितृकुलकी सद्गतिके हेतु गोदावरीके तीरपर बैठे थे जब तटवासी ब्राह्मणोंने नाना प्रकार हास-विलास करते हुए उनसे कहा—॥१७॥

यदि आप वास्तवमें ज्ञानेश्वर हैं, केवल नामके नहीं तो चाबुकसे इस भैंसेको मारते ही आपके शरीरपर उसका चिह्न उठे ॥ १८ ॥ भैंसेको चाबुक लगाये गये, त्यों ही ज्ञानेश्वरकी पीठ लाल हो गयी और उसपर तीन रेखाएँ पड़ीं देखकर यह ज्ञात हुआ कि ये तीन रेखाएँ इनके तीनों कालके ज्ञानकी सूचना हैं । ॥ १९ ॥ इस भैंसेको, अपने कुलकी शुद्धिके लिये, अशेष वेदपाठक बनाइये, ऐसा कहनेपर ज्ञानेश्वरने उसके मस्तक-पर हाथ रखकर उसे वेदोंका आकर बना दिया ॥ २० ॥ इन समस्त ब्राह्मणोंके समक्ष, गोदातीरपर, विद्वानोंको प्रसन्न करनेवाला यह विचित्र चरित्र हुआ । उस भैंसेने पण्डितोंका मानो मान मर्दन करते हुए, उच्चस्वरसे, पदभेदके साथ, समग्र वेद पाठ किया ॥ २१ ॥

इस प्रकार ज्ञानेश्वरके विविध महाद्भुत चरित्र देखे, इससे हम सब ब्राह्मण मिलकर पवित्र हृदयसे यह शुद्धिपत्र समर्पण करते हैं । ॥२२॥ ज्ञानेश्वरका स्मरण करनेसे उस स्मरणके द्वारा यह मुक्तमुकुटमणि सबको मुक्त करनेमें समर्थ है । अपना हित जिन्हें साधन करना हो वे अज्ञानसे उनकी निन्दा न करें, वह सबके वन्द्य हैं, पुण्यात्माओंके भी वन्द्य हैं ॥ २३ ॥ निधि, अम्बर, यम, क्षोणीसंयुत* शालिवाहन शक, सर्वजित् नाम संवत्सर, माघ शुक्ल पञ्चमीके दिन सुरसेवित श्रीमद्ज्ञानेशचरणयुगलमें बोपदेवद्वारा ग्रथित यह शुद्धिपत्र समर्पित हुआ ॥ २४-२५ ॥

---

* क्षोणी १ यम २ अम्बर ० और निधि ९ अर्थात् शाके १२०९ संवत् १३४४ ।

तीर्थयात्रा

तीर्थानि क्षेत्रमुख्यानि सेवितानीह भूतले ॥९॥
भवद्विधा भागवतास्तीर्थीभूताः स्वयं विभो।
तीर्थीकुर्वन्ति तीर्थानि स्वान्तःस्थेन गदाभृता ॥१०॥

—श्रीमद्भागवत स्कन्ध १ अ० १३

पैठणके नर-नारियोंको अपने विभूतिमत्त्वका तेज दिखाकर ज्ञानेश्वर महाराजने उन्हें कुछ काल अपने सत्संगका लाभ कराया और ब्राह्मणोंका दिया हुआ शुद्धिपत्र तथा वेदमन्त्र कहनेवाला भैंसा साथ लेकर वहाँसे प्रस्थान किया। आलें नामक स्थानमें पहुँचनेपर वहाँ महाराजने उस भैंसेको समाधि दी। चारों भाई-बहिन ब्रह्मचर्चा करते और आनन्द-विनोद करते हुए रास्ता तै करने लगे। महीपतिबाबाने वर्णन किया है—'स्वानन्दमें मग्न हुए मार्गपर चलते थे। सप्रेम हरिके गुण गाते थे। नाना प्रकारके कवित्व करते हुए नवरस उत्पन्न करते चलते थे।' उन ब्रह्मनिष्ठ, ब्रह्मरूप, ब्रह्ममय भाई-बहिनके क्या संवाद होते थे, उनके उस हरिगुणगानमें प्रेमरस कैसे उमड़ पड़ता होगा, उनके कवित्वसे क्या-क्या बातें निकलती होंगी—यह सब आज कुछ भी नहीं कहा जा सकता। परन्तु अगले ही वर्ष ज्ञानेश्वर महाराजने जो गीता-भाष्य लिखा उससे इन बातोंकी कुछ कल्पना की जा सकती है।

ये भाई-बहिन धीरे-धीरे चलकर और अपने पदतलोंसे तलगत भूमिको स्वर्गकी बराबरी करनेकी सामर्थ्य देते हुए नेवासें स्थान-में पहुँचे ।

नेवासें ग्राम नगर-जिलेमें प्रवरा-नदीके तटपर बसा हुआ है । दो ग्राम मिलकर यह एक ग्राम बना है । एक नेवासा खण्डोबाका है और दूसरा नेवासा मोहिनीराजका है । दोनों नेवासे मिलकर यह नेवासेंक्षेत्र बना है । दोनों नेवासोंके बीचमें प्रवरा-नदी दक्षिणोत्तर बह रही है । मोहिनीराजके नेवासेके पश्चिम कोनेमें गाँवसे पाव मील फासलेपर एक शिलास्तम्भ है । यह ज्ञानेश्वरीके शिलास्तम्भके नामसे प्रसिद्ध है । परन्तु वास्तवमें ऐसा नहीं है । मोहिनीराजके नेवासेमें मोहिनीराजका और खण्डोबाके नेवासेमें खण्डोबाका मन्दिर है । 'मोहिनीराज' नाम पुरुषवाचक होनेपर भी यह नाम है श्रीविष्णुभगवान्‌के मोहिनी नामक स्त्रीरूप अवतारका । मोहिनीराजके हाथोंमें चूड़ियाँ हैं और सब वेश स्त्रीका है । समुद्रमन्थनके समय समुद्रमेंसे चौदह रत्नोंमें एक अमृत निकला । इस अमृतके लिये देव और दैत्य लड़े, अमृतकलश दैत्योंके हाथ आया । तब दैत्योंको मायाजालमें फँसाकर उनके हाथसे अमृतकलश झटक लेने और वह देवताओंको देनेके निमित्त देवपक्षपाती भगवान्‌ने जो मोहिनीरूप धारण किया वही यह मोहिनीराज हैं । (यह कथा श्रीमद्भागवतके ८ वें स्कन्ध, अध्याय ८ और ९ में है ।) मोहिनीराजको महाल्या भी कहते हैं । महाल्या शब्द ही मराठीमें म्हालसा हो गया है ।

महाराष्ट्रके सन्त-कवियोंने नेवासेंको जो महालयाक्षेत्र अथवा म्हालसापुर कहा है वह इसी अर्थसे कहा है। इसी नेवासेंक्षेत्रमें ज्ञानेश्वरी ग्रन्थ लिखा गया। ज्ञानेश्वर महाराजने ग्रन्थके उपसंहार-में स्पष्ट ही लिखा है कि यह ग्रन्थ वहाँ लिखा गया '(जहाँ) ऐसे कलियुगमें, दक्षिणापथके महाराष्ट्र-मण्डलमें गोदावरीके तटपर जहाँ त्रिभुवनैक पवित्र अनादि पञ्चक्रोशक्षेत्रमें जगत्-जीवन-सूत्र चलानेवाली महालया विराजती हैं।'

नेवासें प्रवरा-नदीके किनारे है। पर यह क्षेत्र अनादि है, इसकी पञ्चक्रोशीमें चारों दिशाओंमें प्राचीन क्षेत्र हैं और टोकें नामक तीर्थस्थानमें प्रवरा और गोदावरीका संगम हुआ है। ज्ञानेश्वर महाराजको गोदावरी अत्यन्त प्रिय थीं जो इस अनादि पञ्चक्रोशी-क्षेत्रमें हैं।

ज्ञानेश्वर महाराज जब नेवासेंमें पहुँचे तब उस समय एक सती स्त्री अपने पतिके शवके पास बैठी विलाप करती हुई उन्हें दिखायी दी। महाराजने पूछ-ताँछ की तो मालूम हुआ कि मृत व्यक्तिका नाम 'सच्चिदानन्द' है। नाम सुनते ही उन्होंने आश्चर्य-मुद्रासे कहा, 'क्या ? सत् चित् आनन्द ? सत् चित् आनन्दको कौन मार सकता है ? सत् चित् आनन्दकी कभी मृत्यु भी होती है ? सच्चिदानन्दके कोई उपाधि नहीं होती, उसे मृत्यु स्पर्शतक नहीं कर सकती।' मुखसे ये उद्गार निकले और शवपर उन्होंने अपना हाथ फेरा, त्यों ही मृत पुरुष जीवित होकर उठ खड़ा हुआ। उसने महाराजके चरणोंपर मस्तक रखा, सर्वथा उनकी

शरण ली। यही पुरुष वह 'सच्चिदानन्दबाबा' हैं जो 'आदरके साथ' ज्ञानेश्वरीके लेखक हुए और स्वयं ज्ञानेश्वर महाराजने ज्ञानेश्वरीके अन्तमें जिनका नामोल्लेख किया है। इन्हीं सच्चिदानन्दने पीछे 'ज्ञानेश्वरविजय' नामक ओवीबद्ध चरित्र-ग्रन्थ लिखा।

बीचमें कुछ कालतक ज्ञानेश्वरादि आलन्दीमें रहे। पैठणमें महाराजने जो चमत्कार दिखाये उनकी खबर तथा उनकी ख्याति आलन्दीतक पहुँच चुकी थी। इसलिये इस बार जब ये भाई-बहिन आलन्दी पहुँचे तब वहाँके लोगोंने इनका बड़े प्रेमसे स्वागत किया। तथापि विसोबाचाटी नामके एक कर्मठ ब्राह्मण थे जो साधु-सन्तोंसे बड़ा द्वेष रखते थे। इनके दिमागमें ज्ञानेश्वरादिके बारेमें वही एक बात घूम रही थी कि 'ये संन्यासीके बच्चे हैं।' उनके दिमागसे यह बात निकलती ही नहीं थी। ब्राह्मण थे विद्वान् और सदाचारी भी, पर सदनुभव कुछ भी न होनेसे उनके रोम-रोममें दुरभिमान भरा हुआ था। वह जहाँ-तहाँ बेर-अबेर ज्ञानेश्वरादिकी निन्दा ही करते फिरते थे। ज्ञानेश्वरका नाम कोई लेता तो उनके सिरपर निन्दा और द्वेषका भूत सवार हो जाता था। ज्ञानेश्वरके साथ उनका स्पर्धा करना सूर्यके साथ जुगनूके स्पर्धा करनेके समान ही था! तथापि यह टिट्टिभ उस कीर्तिसागरको सोख लिया चाहता था! पर यह कैसे होता? विसोबाचाटी करते थे ज्ञानेश्वर महाराजसे द्वेष ही, पर लोहा पारससे मिलकर जैसे सोना ही हो जाता है वैसे ही वह निन्दक ज्ञानेश्वर महाराजके सङ्गसे परम कल्याणको ही प्राप्त

हुआ। एक वार दिवालीके त्योहारपर निवृत्तिनाथ महाराजने मुक्तावाईसे यों ही कहा कि आज दिवाली है इसलिये माण्डे* खानेकी इच्छा होती है। मुक्तावाईने कहा, अच्छा; और माण्डे-रान्धन† लाने कुम्हारकी दूकान चली। रास्तेमें विसोवाचाटी सामनेसे आते हुए दिखायी दिये। उन्हें देखकर मुक्तावाई घवरा गयी। विसोवाने पास आकर जरा डपटकर पूछा, 'कहाँ जाती है?' मुक्तावाईने उत्तर दिया, माण्डेरान्धन लाने कुम्हारकी दूकान जाती हूँ। विसोवा वोले, अच्छा ले आ, देखें कौन तुझे माण्डेरान्धन देता है। विसोवा पहले ही आगे वढ़ गये और सव कुम्हारोंसे कह आये कि मुक्तावाईको कोई चीज कोई न दे। कई कुम्हार इनके कर्जदार थे। उनपर तो विसोवाकी पूरी हुकूमत ही थी। मुक्तावाई दूकान-दूकान घूमी, पर किसी कुम्हारने उसे माण्डेरान्धन नहीं दिया। आखिर वह हताश होकर लौटी। निवृत्तिनाथ माण्डे खानेकी इच्छा जाहिर करें और हमें कहींसे रान्धन न मिले, इस सोचमें रोती हुई वह घर आयी। ज्ञानेश्वरने उसके रोनेकी ध्वनि सुनी और दौड़े हुए उसके पास गये। उसे उन्होंने छातीसे लगा लिया और सिरपर हाथ फेरकर उससे पूछा, 'तुम ऐसी दुखी क्यों हो?' उसने सव हाल सुनाया। तव उन परम समर्थ योगेश्वर ज्ञानदेव महाराजने योगधारणासे जठराग्नि प्रज्वलित

---

* माण्डे एक तरहका पक्वान्न होता है जो खप्परपर पकाया जाता है।

† जिस खप्परमें माण्डे पकाये जाते हैं उसको माण्डेरान्धन कहते हैं।

की और अपनी पीठको तप्त सुवर्णकी तरह तपाकर उसपर माण्डे पकानेको कहा। उसने सब सामान जुटाया। माण्डे बेलकर तैयार किये और ज्ञानेश्वर महाराजकी तप्त सुवर्ण-की-सी पीठपर माण्डे पकाने लगी। यह सब विसोबाचाटी बाहरसे छिपे-छिपे देख रहे थे। यह विलक्षण चमत्कार देखकर उनकी आँखें खुलीं और उन्हें अपने कियेपर बड़ा पश्चात्ताप हुआ। वह दौड़े हुए अन्दर गये और उन्होंने ज्ञानेश्वर महाराजके चरण पकड़ लिये और उन्हें अनुतापके अश्रुओंसे नहलाने लगे। ज्ञानेश्वर महाराजने उनके सिरपर हाथ रखकर उन्हें उठाया और सान्त्वना दी। विसोबाने ज्ञानेश्वर महाराजके भोजन कर चुकनेपर उनकी पत्तलसे उच्छिष्ट उठाकर प्रसादरूपसे भक्षण किया।

तब ज्ञानेश्वर महाराज उनसे कहते हैं कि, 'तुम खेचर हो, खेचर (नभचर) ही क्यों बने रहते हो, वेगके साथ आकाशको भी पार करो।' यह वाणी सुनकर विसोबा खेचरने यही उपदेश धारण कर लिया। परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी चारों वाणियोंके परे जो स्थान है उसीकी ओर वह आगे बढ़ने लगे और यह कहनेके अधिकारी हुए कि, 'पराके भी परे अपना घर है, वहीं हम निरन्तर रहें।' गुरुके बताये मार्गका अनुसरण करते हुए उनका अधिकार यहाँतक बढ़ा कि कुछ वर्ष पश्चात् परम भक्त नामदेवरायको गुरूपदेश करनेका गौरव ज्ञानेश्वर महाराजने उन्हींको प्रदान किया। ज्ञानेश्वर महाराजकी निन्दा करनेवाले विसोबाचाटी इस प्रकार ज्ञानेश्वरके परम भक्त हुए

और 'महाविष्णुके अवतार। श्रीगुरु मेरे ज्ञानेश्वर ॥' कहकर 'अभंग' वाणीसे उनके गुणगान करने लगे।

यह हाल संवत् १३४४ और १३४७ के बीचका है। इन तीन वर्षोंमें ज्ञानेश्वर भाई-बहिन नेवासें, आपेगाँव और आलन्दी इन्हीं तीन स्थानोंमें कभी कहीं और कभी कहीं रहते थे। इनके प्रति जो विरोध था वह संवत् १३४४ के आरम्भमें ही नष्ट हो चुका था। इस समय ज्ञानेश्वर चौदह वर्ष समाप्त कर पन्द्रहवेंमें आये थे। निवृत्तिनाथको सत्तरहवाँ लगा था। सोपानदेव तेरह वर्षके हुए थे और मुक्तावाई ग्यारह वर्षकी थीं। इस वयस्में ये भाई-बहिन नेवासेंमें थे जब सद्गुरु श्रीनिवृत्तिनाथके सामने ज्ञानेश्वर महाराजने गीतापर भाष्य कहना आरम्भ किया। वयस् क्या थी! और ज्ञानेश्वरीमें जो ज्ञान प्रकट हुआ है वह किस कोटिका है! ज्ञानेश्वर महाराजके चरित्रमें अन्य जो अनेक चमत्कार हैं उन सबको एक ओर कर दें तो भी इस कोमल वयस्में जब विद्यार्थी रघुवंश और किरातके प्रथम सर्ग पढ़ना आरम्भ करते हैं, इन्होंने ज्ञानेश्वरी-जैसा ग्रन्थ निर्माण किया—ऐसा अलौकिक ग्रन्थ कि उसके बाद एक हजार वर्षमें भी वैसा कोई लोकोत्तर ग्रन्थ भूलोकमें नहीं निर्माण हुआ, अकेला यही एक चमत्कार इतना बड़ा है कि ज्ञानेश्वर महाराजके अलौकिक तेज और बलका यह अकेला साक्षी भी कम नहीं है! गीतापर संस्कृत, प्राकृत तथा विदेशीय भाषाओंमें आजतक हजारों ग्रन्थ बने, पर इनमेंसे एक भी ग्रन्थ ऐसा नहीं है जो ज्ञानेश्वरीकी बराबरी करने-

में समर्थ हो। काव्यकी दृष्टिसे यह आदर्श काव्य-ग्रन्थ है, तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे गम्भीर तत्त्वज्ञानका ग्रन्थ है, धर्मकी दृष्टिसे धर्म-रहस्य प्रकट करनेवाला ग्रन्थ है, भाषाकी दृष्टिसे उत्तम भाषाका ग्रन्थ है, अनुभवकी दृष्टिसे स्वानुभवके तेजसे चमकनेवाला ग्रन्थ है, भक्तिकी दृष्टिसे भक्तिके अमृतरससे भरा हुआ भक्ति-ग्रन्थ है—किसी भी दृष्टिसे देखिये, इस ग्रन्थकी तुलना नहीं हो सकती। ज्ञानेश्वरीके पश्चात् अमृतानुभव, चाङ्गदेवपैसठी, हरिपाठ, योग-वासिष्ट, स्वात्मपत्र इत्यादि ग्रन्थ और सैकड़ों अभंग ज्ञानेश्वर महाराजने रचे। परन्तु ज्ञानेश्वर महाराजके ग्रन्थोंका विचार आगे चलकर एक पृथक् अध्यायमें ही करना है, इसलिये यहाँ इतना ही उल्लेख बहुत है। संवत् १३४७ में ज्ञानेश्वरी सम्पूर्ण होनेपर ज्ञानेश्वर महाराजको पण्ढरपुरकी ओर ध्यान देनेका अवसर मिला। श्रीविट्ठलके अनन्य सगुणोपासक भक्त सुप्रसिद्ध नामदेवको साथ लेकर तीर्थयात्रा करनेका विचार ज्ञानेश्वर महाराजने स्थिर किया।

ज्ञानेश्वर महाराजकी तीर्थयात्राके सम्बन्धमें वारकरी-सम्प्रदाय-में श्रीनामदेवरायकी तीर्थावलिके ५९ अभंग ही मुख्यतः प्रमाण माने जाते हैं। इनसे यह मालूम होता है कि ज्ञानेश्वर और नामदेवके सिवा इस यात्रामें और कोई तीसरा आदमी नहीं था। परन्तु भक्तिकथासार, भक्तिकथामृत, धुण्डिराजकृत भक्तिलीलामृत, कथाकल्पवृक्ष आदि ग्रन्थोंसे यह मालूम होता है कि निवृत्तिनाथ, सोपानदेव, मुक्ताबाई, नरहरि सोनार, चोखामेला, गोरा कुम्हार, विसोबा खेचर आदि सन्त भी इस तीर्थयात्रामें ज्ञानेश्वर और

नामदेवके साथ थे। इन ग्रन्थोंमें तीर्थयात्राका विस्तारपूर्वक वर्णन भी दिया हुआ है और मार्गमें जो अनेक प्रकारके चमत्कार हुए उनका भी विवरण दिया है। नामदेवकी तीर्थावलि देखनेके पूर्व इन ग्रन्थोंमें दी हुई वातोंको संक्षेपमें जान लेना अच्छा होगा।

श्रीनिवृत्तिनाथकी आज्ञा लेकर ज्ञानेश्वर महाराजने तीर्थयात्राके लिये प्रस्थान करनेका निश्चय किया। श्रीगुरु निवृत्तिनाथ भी साथ थे। सोपानदेव और मुक्तावाई तथा जिन भक्तोंको इस यात्रामें यह सत्संग लाभ करनेकी इच्छा हुई वे सव मिलकर आलन्दीसे साथ-साथ रवाना हुए। सव लोग पहले चाकणमें आये। चाकणमें महीपतराव नामक कोई श्रद्धालु धनी रईस थे। उन्होंने इन यात्रियोंको अपने यहाँ टिकाया और भोजनादिका उत्तम प्रवन्ध करके वड़ी खातिर की। इन महीपतरावकी कन्या कऱ्हाडके रामरायको व्याही थी। ज्ञानेश्वर महाराजसे महीपतरावने यह प्रार्थना की कि महाराज उसे भी दर्शन देकर आगे जायँ। ज्ञानेश्वर महाराजने यह प्रार्थना स्वीकार की। महीपतरावने जो सत्कार किया उसे स्वीकारकर महाराज आगे वढ़े। ज्ञानेश्वर महाराजको यह माऌम था कि पण्ढरपुरमें भक्त नामदेव रहते हैं, वह वड़े प्रेमी हैं, उन्हें सगुण साक्षात्कार हो चुका है, श्रीविट्ठल भगवान्‌से उनका सम्भाषणादि व्यवहार होता है। उन्हें इस यात्रामें अपने साथ लेना चाहिये और पण्ढरीकी यात्रा भी करनी चाहिये। इस हेतुसे ज्ञानेश्वर महाराज पहले पण्ढरपुर गये। पण्ढरपुरमें चार दिन रहे और नामदेवको साथ लेकर आगे वढ़े।

नामदेवरायकी 'तीर्थावलि' के ५९ अभंगोंकी ओर अब चलें। ज्ञानेश्वर महाराज पण्ढरपुरमें नामदेवसे भेंट करने आये और उन्हें साथ लेकर यात्राके लिये चले। उस प्रसंगका वर्णन नामदेवकी प्रेमभरी वाणीसे ही सुनना चाहिये—

'नामासे मिलने ज्ञानदेव आये! नामदेव उनके चरणोंपर लोट गये। फिर नामदेवने अत्यन्त प्रीतिसे आलिङ्गन देकर आदरके साथ यथाविधि उनका पूजन किया और यह स्तुति करने लगे—महाराज! संसारमें आसक्त, मायामोहरत जीव तापत्रयसे सन्तप्त हुए हैं। ऐसे पतितोंका उद्धार हो इसलिये इस भूलोकमें आपका अवतार हुआ है। मैं दीन, मूढ, मतिहीन सन्तोंके चरणोंकी रजका एक रेणु हूँ।'

इसपर ज्ञानेश्वर महाराजने भी बड़ी प्रीतिके साथ नामदेवकी स्तुति की और उनसे अपने साथ तीर्थयात्राके लिये चलनेकी प्रार्थना की—

'ज्ञानदेव कहते हैं, तुम भक्तशिरोमणि हो, तुमने जन्म लेकर भगवान्‌के चरण पाये हैं। प्रेमके सुखकी मिठासका स्वाद तुम्हें ही मिला जो तुम्हारी वासना निर्मूल हो गयी। तुम्हारा जन्म धन्य है, तुम्हारा कुल धन्य है, तुम धन्य हो जो भगवान्‌के समीप रहते हो। क्षणकाल एकान्तमें बैठकर अन्तरके रहस्यकी कुछ बात-चीत करें। जीवन्मुक्त ज्ञानी सब तरहसे पावन हो जाते हैं तथापि देव, तीर्थ और भजन नहीं छोड़ते। भगवान्‌के दास भूतलके तीर्थोंको इन नेत्रोंसे देखनेके लिये तरसते रहते हैं।

ऐसी इच्छा है कि तुम्हारे सत्संगका सुख नित्य मिले और संसारमें आना सफल हो । ज्ञानदेव कहते हैं, यात्राका मुहूर्त ठीक करो और यह मनोरथ पूरा करो ।'

इसपर नामदेवने कहा, 'आप विट्ठल भगवान्‌से पूछें । वह आज्ञा दें तो मैं भी आपके साथ चलता हूँ ।' पर नामदेवरायके सामने बड़ा प्रश्न उपस्थित हुआ और फिर विचार करके उन्होंने उत्तर दिया—

'पाण्डुरङ्गमें ही मैं सब सुख प्राप्त कर लेता हूँ । कहीं जाऊँ तो किसके लिये कहाँ जाऊँ ? इस लोककी या परलोककी, कोई भी इच्छा मुझे नहीं है । न कोई पुरुषार्थ करना है, न चारों मुक्तियोंमेंसे कोई मुक्ति पानी है । रङ्क होकर पण्ढरीमें इस महाद्वारकी देहरीपर ही बैठ रहना चाहता हूँ ।'

'विट्ठलके चरणोंमें मुझे क्या कमी है ? मेरी वासना तो मन निगल चुका । जन्मसे जिसने इसे पाला-पोसा उसीको मैंने काया-वाचा-मनसे यह बेंच दिया । नामदेव कहते हैं, आप पूछिये विट्ठल भगवान्‌से, वह जो आज्ञा देंगे उसे सिरपर रखूँगा ।'

दोनों तब श्रीविट्ठल भगवान्‌के पास गये । भगवान्‌ने नामदेवरायको यह निर्णय सुनाया—

'ज्ञानेश्वर प्रत्यक्ष परब्रह्ममूर्ति हैं । वह तुम्हारी सङ्गतिका आदर कर रहे हैं । ऐसा भाग्य जो साध ले वही विष्णुका दास होकर जन्म ले । जाओ कल्याण होगा, शीघ्र जाओ । स्वहित साधन करो, जब जैसा ज्ञात हो ।'

यह कहकर भगवान्‌ने नामदेवका हाथ ज्ञानेश्वरके हाथमें दिया और कहा, 'इसे सँभालो, यह मेरा प्रिय है। एक क्षणके लिये भी इसे अपनेसे अलग न करो।' नामदेवको कुछ दूर पहुँचाकर भगवान् मन्दिरमें लौट गये।

मङ्गलवेढासे चोखामेला और आरणभेंडीसे सांवतामाली इस मेलेमें शामिल हुए। चलते-चलते सबलोग कन्हाडके समीप पहुँचे। कन्हाडके राजा रामराय चाकणके महीपतरावके दामाद थे। महीपतरावको ज्ञानेश्वर महाराजने वचन दिया था कि तुम्हारी कन्याको देखकर आगे जायँगे। इस कन्याका नाम सीता था। इसे साधु-महात्मा, वैरागी-संन्यासी, यती-योगी आदिके दर्शन करने, उनका सुख-दुःख जानने और उनकी सेवा करनेमें बड़ा आनन्द आता था। पर रामराय इन सब बातोंके उतने ही बड़े विरोधी थे। साधु-महात्माओंको वह लुच्चे-लफंगे ही समझा करते थे। सीताबाई बड़ी धार्मिक, उदार और भावुक थीं और उनके पति केवल विषयलम्पट और पूर्ण प्रपञ्चासक्त थे। सीताबाई नित्य अपने पतिको समझातीं कि, 'इस लोकका सम्पूर्ण वैभव नश्वर है इसलिये श्रीहरिको ही भजना चाहिये। श्रीहरि सन्तोंके ही मेलेमें मिलते हैं इसलिये सन्तोंकी सेवा करके नरदेह सार्थक करना चाहिये।' पर ये बातें उनकी समझमें नहीं आती थीं, यही नहीं बल्कि साधु-सन्तोंको देखते ही उनका मिजाज बिगड़ जाता था। साधुओंमें कुछ नामधारी साधु लुच्चे-बदमाश भी होते हैं, पर रामरायको केवल लुच्चे बदमाश ही मिलते थे! सीताबाई जितनी

भावुक, विरक्त और हरिभक्तिमें लीन थीं, उतने ही उनके पति संशयी, विषयलम्पट और बहिर्मुख थे। ऐसे परस्परविरोधी जीवोंको पति-पत्नीरूपमें एकत्र करनेमें भगवान्‌का, मेरे ध्यानमें, यही हेतु रहा होगा कि दोनों एक दूसरेके सङ्गसे सुधरें; पति-पत्नी जो एक दूसरेके पूरक अंश होते हैं, एक दूसरेके गुणोंसे गुणवान् होकर दोषोंको दूरकर अपूर्णसे पूर्ण हों। समान गुणवाले वरवधूके जोड़े कम दिखायी देते हैं, इसका यही कारण हो सकता है। रामराय अपने गाँवमें किसी साधु-महात्माको आनेतक नहीं देते थे। ज्ञानेश्वरादि यात्री गाँवके बाहर ठहरे थे। सीताबाईको जब उनके आगमनका समाचार मिला तब वह उनके दर्शनोंके लिये आतुर हुईं। वह यह जानती थीं कि ज्ञानेश्वर महाराज महान् योगी और सिद्ध पुरुष हैं। साधु-दर्शनोंकी वह सदा प्यासी रहती थीं। दास-दासियोंको सङ्ग लेकर दर्शनोंके लिये वहाँ पहुँचीं। उस समय सब सन्त आत्मरङ्गमें रँग गये थे। नामदेव कीर्तन कर रहे थे, प्रेमरङ्ग गाढ़ा ही होता जा रहा था। कीर्तन करते हुए एक प्रसङ्गसे नामदेवके मुखसे यह वचन निकला कि, 'सच्चे सन्तको कोई एक कौर अन्न खिला दे तो भगवान् तृप्त होकर डकार देते हैं।' यह वचन सुनकर सीताबाई-के हृदयमें यह समायी कि जिस तरहसे हो इन सन्तोंको अपने घर ले चलना चाहिये। कीर्तन हो चुकनेपर वह सब सन्तोंके चरणोंमें प्रणाम करके घर लौट गयीं। पर रातभर उन्हें नींद न आयी। उनके पतिकी यह आज्ञा थी कि कोई साधु-सन्त गाँवमें घुसने न पावे। पति बड़े क्रूर स्वभावके आदमी थे। सीताबाईकी

तो यह बड़ी इच्छा थी कि ज्ञानेश्वरादि सन्तोंको बड़े सत्कारके साथ यहाँ लाया जाय, उनके पवित्र चरणोंसे यह घर पवित्र हो और पतिके साथ मैं उनके चरणोंकी धूलमें लोट जाऊँ। पर वह क्या उपाय करतीं? वह बड़ी विरक्त थीं। आखिरको उन्होंने बड़े साहसका काम किया। हीरेकी कनी पानीमें मिलाकर, अपने पाँच वर्षके इकलौते बेटेको खिला दी। बच्चेकी देहमें बड़ी जलन पैदा हुई और उसकी मृत्यु हो गयी! घरमें और गाँव-भरमें हाहाकार मचा! पर सीताबाई ज्ञानेश्वर महाराजके योगबलके भरोसे स्थिर रहीं। राजा रामरायका मुँह सूख गया। तब उन्होंने पतिसे कहा, 'आजतक आपने साधुओंको बड़े कष्ट दिये, उसीका यह परिणाम है, अब भी उनकी चरणरज माथेपर लो।' इसी समय एक ब्राह्मणने आकर राजाको यह खबर दी कि गाँवके बाहर कई साधु डेरा डाले पड़े हैं। पुत्रहानिसे राजा दीन हो गया था, उसका चित्त ठिकाने नहीं था, इस समय उसकी यह हालत थी कि जो भी जो कुछ कहता उसे वह मान लेता! रानी सीताबाई और अन्य लोगोंके सुझानेपर वह गाँवके बाहर जहाँ साधु-महात्मा डेरा डाले पड़े थे वहाँ गया! ज्ञानेश्वरादि सन्तोंके दर्शन करके सब सन्तोंसे बड़ी नम्रताके साथ उसने घर पधारनेकी प्रार्थना की। ज्ञानेश्वर महाराजके पैर घरमें लगे, यह देखकर रानीको बड़ा आनन्द हुआ। उनके चरणोंका तीर्थामृत लेकर उन्होंने मृत पुत्रके मुँहमें डाला। डालते ही बच्चा उठ बैठा। राजाका राजमद नष्ट हो गया और वह ज्ञानेश्वर महाराजके चरणोंमें लोट गया! ज्ञानेश्वर महाराजने

उसके मस्तकपर हाथ रखकर उसे कृतार्थ किया। तबसे सीताबाई और रामराजा दोनों ही हरिभजनमें रँग गये। सीताबाईने साहस तो बड़ा भारी किया पर उससे उनके पतिकी आँखें खुल गयीं और वह सद्‌गुरु-कृपाके पात्र होकर पत्नी-सहित परम गतिको प्राप्त हुए।

एक बार ब्रह्मानन्दमें ही सदा मग्न रहनेवाले महात्मा नामदेव और ज्ञानदेव दोनों बातचीत करते हुए रास्ता चल रहे थे। नामदेवका चित्त पाण्डुरङ्गमें रँगा हुआ था और उन्हें यही लगी हुई थी कि कब पण्ढरपुर जाकर भगवान्‌की छातीसे छाती लगावेंगे। नामदेवरायकी यह परम व्याकुलता देखकर ज्ञानदेव मन-ही-मन बहुत प्रसन्न होते थे। इस एकनिष्ठ भक्तिको देखकर उन्हें आनन्दकी गुदगुदी होती थी। नारदके भक्तिसूत्रमें भक्तिका जो यह लक्षण बतलाया है कि '*तदर्पिताखिलाचारता तद्विस्मरणे परमव्याकुलता*' सो नामदेवरायपर अक्षर-अक्षर घटता है। उन्होंने शरीर, वाणी और मनके सब व्यापार भगवान् विठ्ठलदेवको समर्पित कर दिये थे और वह उनके विस्मरण अर्थात् वियोगसे परम व्याकुल होते थे। ज्ञानेश्वर महाराजसे उन्होंने कहा कि उनके वियोगसे 'हृदय दो टूक हुआ जा रहा है।' ज्ञानेश्वर महाराजने उन्हें बहुत समझाया—

'जिनके लिये तुम्हारा यह प्रेम है वह तुम्हारे हृदयमें आकर बैठे हैं, तुम बार-बार ऐसे उदास क्यों होते हो? हे भक्तराज! सावधान होकर विचारो, तुम्हारा निजानन्द तुम्हारे ही पास है। भेद-भ्रम छोड़कर देखो, तुम्हारे विठ्ठल व्यापक हैं,

सर्वदर्शी हैं, सर्वकाल, सर्वगत और सम्पूर्ण हैं। उनमें जाना-आना नहीं होता। वह तुम्हारे अन्दर हैं, तुम उनके अन्दर हो। मनको निश्चयमें स्थिर करके इसका अनुभव करो।'

यह यथार्थ-बोध तो हुआ, पर 'पण्ढरीनिवास जीवन मेरा!' की धुन बनी ही रही। ज्ञानेश्वर महाराज नामदेवकी बातोंसे बड़े प्रसन्न होते थे। महाराज स्वयं पूर्णानन्दस्वरूप थे। तथापि नामदेवकी एकदेशीय, पर पराकाष्ठाकी असीम भक्ति देखकर परम प्रसन्न होते थे। 'प्रेममूर्ति' नामदेवसे उन्होंने जिज्ञासापूर्वक कहा—

'भजनविधि यथासांग कैसे सधे, मन-बुद्धि सत्त्वशील कैसे हों, निर्विकार ध्यान कैसे होता है—यह सब अङ्गोंसहित मुझे बताओ।'

इसपर नामदेवने उत्तर दिया—'मैं बहुश्रुत नहीं हूँ, ज्ञानी नहीं हूँ; वैष्णवोंका दुर्बल दास हूँ। मेरा इतना बड़ा भाग कहाँ जो मुझे कुछ ज्ञान हो! मैं अज्ञ हूँ इसीलिये श्रीभगवान्‌ने मुझे आपके हाथोंमें सौंपा। मैं आपके सामने क्या कह सकता हूँ, पर आपकी आज्ञा हुई है इसलिये भगवान् जो कुछ कहलवायेंगे वह कहता हूँ।' ज्ञानेश्वरने कहा, 'कहो, और मनको निःशंक करके, भेददृष्टि न रखकर अपना सुखानुभव ही कहो।' तब नामदेव कहने लगे—

'मुझे नाम-संकीर्तन अच्छा लगता है, बाकी सब व्यर्थ है। नमन वह नम्रता है जो गुण-दोष नहीं देखती और जिसके अन्दर आनन्द प्रकाशित होता है। निर्विकार ध्यान उसको कहना चाहिये जिसमें अखिल विश्वमें मेरे विट्ठलके दर्शन हों और ईंटपर जो समचरण शोभा पा रहे हैं, हृदयमें उनकी अखण्ड स्मृति हो।

कृपग जैसे अपने रोजगारमें ही मग्न रहता और रात-दिन नफेका ही ध्यान किया करता है अथवा कीट जैसे भृङ्गका ध्यान करता है वैसे ही सम्पूर्ण भावके साथ एक विट्ठलका ही ध्यान हो, सब भूतोंमें उसीका रूप प्रकाशित हो। रज-तमसे अलग, सबसे निराला प्रेमकलाका जो भोग है वही भक्ति है। प्रीतिसे एकान्तमें गोविन्द भजिये; ऐसी विश्रान्ति और नहीं है। शरीर, वाणी और मनके द्वारा मेरा यही प्यारा अनुभव है जो आपके सामने कहा। यह भी उसी उदार सर्वज्ञ पाण्डुरङ्गने ही कहलवाया।'

यह सुनकर ज्ञानेश्वर महाराज सुखसे रोमाञ्चित हुए और उन्हें यही इच्छा हुई कि, 'अपने नामाकी बातें सदा सुनता रहूँ।' कवि, आत्मज्ञानी, विरक्त, जीवन्मुक्त, पाठक, साधक, ग्रन्थकार कोई भी हों पर नामदेवके भाषणमें जो अपार सुख है, ज्ञानेश्वर महाराजने बड़े प्रेमसे कहा कि, 'उस सुखका कल्पान्तमें भी अन्त नहीं है। सन्त दूर दृष्टिसे इसे विचारें।' सब सन्तोंने भक्तिसुखान्वित होकर 'पुण्डलीक वरदे हारी विट्ठल' (पुण्डरीकको वर देनेवाले भगवान् श्रीहरि विट्ठल)का जय-जयकार किया।

इस प्रकार आनन्दके साथ मार्गक्रमण करते हुए सब सन्त तेरगाँवमें पहुँचे। यहाँ गोरोबा कुम्भार (कुम्हार) रहते थे। गोरोबाने बड़ी भक्तिसे सन्तोंका आतिथ्य किया। हर पड़ावपर नामदेवका कीर्तन हुआ करता था। नामदेवकी निरुपम भक्ति और पत्थरको भी पिघलानेवाला उनका प्रेम देखकर सब अति आनन्दित होते थे। नामदेव सदा पण्ढरिनाथके ही ध्यानमें रहा करते थे। पण्ढरिनाथ उनसे बोलते, खेलते और उनका योगक्षेम

चलाते थे। नामदेव पूर्ण सगुण भक्त थे पर सर्वात्मभावका बोध अभी उनके अन्तःकरणमें नहीं उदित हुआ था, सद्गुरुकृपा उन्हें अभी नहीं प्राप्त हुई थी, सच्चा स्वरूपज्ञान अभी उन्हें नहीं हुआ था। गुरुकृपाके बिना पूर्ण ज्ञान नहीं होता। प्रत्यक्ष पाण्डुरङ्ग भगवान् नामदेवसे बोलते थे, अब उन्हें गुरुकी क्या आवश्यकता थी? नामदेवका यही खयाल था, कुछ अभिमान-सा भी था। ज्ञानेश्वर महाराजकी यह इच्छा कि यह दोष दूर हो और नामदेवको यह सच्चा बोध हो कि सगुण-निर्गुण, दृश्यादृश्य, व्यक्ताव्यक्त सब श्रीहरिका ही सहज स्वरूप है। ज्ञानेश्वर महाराजकी इस इच्छाके अनुकूल एक दिन एक मनोरञ्जक प्रसंग उपस्थित हुआ। गोरोबाके यहाँ मटके बनानेके कई औजार थे। इनमें एक थापी भी थी। एक दिन जब सब सन्त बैठे हुए थे, मुक्ता-बाईने थापी उठायी और गोरोबासे पूछा, 'गोरोबा चाचा! यह क्या चीज है?' गोरोबाने उत्तर दिया कि यह थापी है, इससे ठोंकनेसे यह मालूम हो जाता है कि कौन घड़े कच्चे हैं, कौन पक्के।' इसपर मुक्ताबाईने कहा कि ये सब मनुष्य भी तो ईश्वरनिर्मित घड़े ही हैं, आप यह बता सकेंगे कि इनमें कौन कच्चा है और कौन पक्का? गोरोबाने कहा—हाँ, और चटसे थापी उठाकर वह एक-एकका सिर थापीसे ठोंककर देखने लगे। सब सन्त मौन साधे बैठे थे, कोई कुछ न बोला, चुपचाप तमाशा देखते रहे। पर ज्यों ही गोरोबा नामदेवके पास आये, नामदेव बिगड़े और कहने लगे, 'यह क्या? हटो यहाँसे। मेरे सिरपर जो कहीं थापी लगी तो बचाजी! जान रखना, मैं इन सन्तों-

के समान मौन साधे न बैठा रहूँगा। खबरदार!' गोरोबाने देखा, मिजाजमें तो बड़ी गरमी है। पर थापी उनके भी सिरपर पड़ी, और गोरोबाने कहा कि, 'इन सब घड़ोंमें यही घड़ा कच्चा है।' इसपर सब सन्त जोरसे हँस पड़े। नामदेवको यह अपना बड़ा अपमान मालूम हुआ और वह बहुत दुःखित हुए। पीछे पण्ढरपुर लौटनेपर उन्होंने यह सारा हाल श्रीपाण्डुरङ्गसे कहा और भगवान्‌के कहनेसे उन्होंने विसोबा खेचरसे गुरूपदेश ग्रहण किया। इस कथाका तात्पर्य मोरोपन्तकी एक लोकप्रसिद्ध आर्यामें बहुत अच्छी तरहसे प्रकट हुआ है। उस आर्याका आशय यह है—

'सद्‌गुरु-अनुग्रहके विना हरिको कोई भक्त पूरे तौरपर नहीं जँचता। वह गोरा (पाण्डुरङ्ग) थपनीसे ठोंककर सन्तोंको परखा करता है।'

सब गोरोबासे विदा होकर आगे बढ़े और शिवरात्रिके अवसरपर अवंढियानागनाथ पहुँचे। शिवरात्रिके दिन नामदेव कीर्तनके लिये खड़े हुए, तब सहस्रों श्रोता हरिरङ्गमें रँग गये। वह ब्राह्मणोंके अभिषेक करनेका समय था। उनकी अति शुचितामें इन वारकरियोंके कारण बाधा पड़ने लगी, इसलिये नामदेवने मन्दिरके पिछवाड़े कीर्तन आरम्भ किया, तब कहते हैं, यह चमत्कार हुआ कि भगवान् भूतनाथने ब्राह्मणोंकी ओर पीठ फेर दी और मुँह नामदेवरायकी ओर किया! अब भी वहाँ नन्दिकेश्वर शङ्करके सामने नहीं, पीछेकी ओर हैं। इस कथाका तात्पर्य इतना ही है कि भगवान् केवल पूजा-सामग्री, मन्त्र-तन्त्र या कर्मसे वश नहीं बल्कि नामदेव-जैसे अनन्य भक्तकी भक्तिसे ही सर्वथा वश होते हैं। भगवान्‌ने

स्वयं ही कहा है कि, 'मैं पूजोपचारसे किसीको प्राप्त नहीं होता' (ज्ञानेश्वरी ९ । ३६७) भगवान् भक्तिके वशमें होते हैं, बाहरी दिखाव या आडम्बरमें नहीं फँसते । वेद, यज्ञ, अध्ययन, दान, सत्क्रिया, उग्र तप इत्यादि साधनोंसे न देख पड़नेवाला श्रीहरिका वह विश्वरूप परम भक्त अर्जुनने देखा । यह बात नहीं कि ये साधन व्यर्थ हैं या वेद, यज्ञ, अध्ययन, दान, सत्क्रिया, उग्र तप आदि साधनोंका त्याग करना चाहिये । यही नहीं, प्रत्युत भगवान् ही गीता (अ० १८ । ५) में अपना यह 'निश्चय' बतलाते हैं कि *'यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत् ।'* इसलिये 'स्वाधिकारानुरूप इन यज्ञ-दानादि तपोंका अनुष्ठान करना ही चाहिये । (ज्ञानेश्वरी १८ । ५३) ये यज्ञ-दानादि साधन पावन याने चित्तशुद्धि करनेवाले हैं इसलिये इनका त्याग उचित नहीं, तथापि भक्ति और प्रेमके बिना ये साधन भी व्यर्थ हो जाते हैं अर्थात् बिना हरि-भक्तिके इनके द्वारा हरिका साक्षात्कार नहीं हो सकता । वैदिक विद्वान् ब्राह्मणोंद्वारा अभिषेक हो रहा हो और भगवान् उस ओर पीठ फेर दें और नामदेवके भक्तिपरिप्लुत हृदयसे निकलनेवाली 'प्रेमामृतकी धारा' को भगवान् स्वयं सम्मुख होकर धारण करें यह उस प्रेमी चित्तचोरके सर्वथा उपयुक्त ही है ।

ज्ञानेश्वर महाराज तीर्थयात्रा करते हुए सातपुड़ा-पर्वतपर पहुँचे । वहाँ हरपाल नामक कोई भील था । वह पण्ढरीका वारकरी और विट्ठलका महान् भक्त था । उसका यह नियम था कि जो कोई विट्ठल रखुमाईका भजन करता या नाम जपता उसे तो वह छोड़ देता और औरोंको लूट लेता । उसने ज्ञानेश्वर आदि

सन्तोंका बड़े आदर और प्रेमसे स्वागत किया। 'शबरी' के इस वंशजका यह शुद्ध प्रेम देखकर ज्ञानेश्वर महाराजने उसपर अनुग्रह किया और उसने हाथमें धनुष-बाण लेकर इन्हें धारस्थानतक पहुँचा दिया। धारमें कमलाकर भट्ट नामक ब्राह्मणके घर सब सन्त ठहरे। कमलाकर भट्टके पुत्र गोपालको साँपने काटा था और वह गतप्राण हो चुका था। ज्ञानेश्वर महाराजने उसे जिलाया। वहाँ दो दिन रहकर सबलोग उज्जैन गये। वहाँ वीरमंगल* नामके कोई प्रसिद्ध ज्योतिषी रहते थे। उनसे पहले किसी समय रामानन्दने कह रखा था कि, 'तुम यहीं रहो, यहाँ सात वर्ष बाद ज्ञानेश्वर नामके सत्पुरुष आवेंगे और वह तुम्हारा उद्धार करेंगे।'

तदनुसार वीरमंगल दुग्धाहार करके वहाँ सात वर्ष रहे। सात वर्ष बाद जब ज्ञानेश्वर महाराज उज्जैनमें पधारे तब वीरमंगल उनकी अगवानीके लिये गये और गद्गद होकर उनके चरणोंपर लोट गये। महाराजने उन्हें आत्मबोध करके कृतार्थ किया।

---

* इन वीरमंगलकी कथा बड़ी मजेदार है। यह उज्जैन-दरबारके ज्योतिषी थे। स्वयं राजाका उत्तम आश्रय था और लोगोंमें भी बड़ा नाम था। राजा परमारवंशीय द्वितीय भोज (संवत् १२३७-१२६७) बड़े विचारशील, सदाचारी और पापभीरु थे। तथापि एक दिन आखेटको जाते हुए एक धोबिनपर उनकी दृष्टि गड़ी। वह लावण्यवती थी और वह उसकी ऋतुप्रासिका चौथा दिन था। राजाने विवेकसे अपना मन संयत किया। फिर भी ऐसी कुवासना अपने चित्तमें उठी, इस बातका उन्हें बहुत दुःख हुआ। आर्योंका आर्य मन अनार्य वस्तुसे भूलकर भी मोहित नहीं हो सकता। कण्वमुनिके आश्रममें जब राजा दुष्यन्तने

'श्रीगुरुमहाराजके दर्शन फिर नहीं होंगे इसलिये यह देह अभी गुरुचरणोंमें समर्पित करता हूँ'—यह कहकर वीरमंगलने ज्ञानेश्वर महाराजके चरणोंमें मस्तक रखकर उसी क्षण वहीं देहविसर्जन

शकुन्तलाको देखा, तब देखते ही उनका मन मोहित हो गया। उस समय उस आर्य नृपतिने बड़े अभिमानसे कहा था—

असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा
यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः।
सतां हि सन्देहपदेषु वस्तुषु
प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः॥
(अभिज्ञानशाकुन्तल)

'मेरा आर्य मन इसकी इच्छा करता है, इसलिये मेरे साथ विवाह-सम्बन्ध करनेयोग्य किसी क्षत्रिय-कुलमें ही इसका जन्म हुआ होगा।' राजा दुष्यन्तका यह आर्य विचार ही मानो मनमें उदय होनेसे वह पापभीरु भाग राजा मन-ही-मन बहुत खिन्न हुए। राजाने वीरमंगल ज्योतिषीसे पूछा—'मैं जब आखेटको जा रहा था तब मेरे मनमें क्या बात आयी थी यह आप मेरे ग्रह देखकर बताइये। अन्यथा दरबारसे आपको जो आश्रय मिलता है वह बन्द किया जायगा।' वीरमंगलने सात दिनकी मोहलत माँगी। राजाश्रय नष्ट होनेके भयसे पण्डितजी बेचारे घबरा गये। सातवें दिन अकस्मात् एक वेश्यासे इनकी भेंट हो गयी। इनकी चिन्ताका कारण मालूम होते ही उस वेश्याने बिल्कुल सटीक उत्तर दिया! उसे सुनकर ज्योतिषीने राजाको रजकस्त्रीदर्शनके प्रसंगका स्मरण दिलाया। ज्योतिषीजीपर जो संकट आया था वह इस तरह टल गया। ज्योतिषीजीके बार-बार पूछनेपर उस वेश्याने कहा—'मैं काशीके रामानन्दकी शिष्या हूँ, यह सामर्थ्य उन्हींका प्रसाद है।' ज्योतिषी तब रामानन्दके पास गये। उन्होंने इन्हें बताया कि, सात वर्ष बाद ज्ञानेश्वर तुम्हें दर्शन देंगे, उनसे तुम्हें सम्पूर्ण ज्ञान प्राप्त होगा।'

किया। महाराजने अपने हाथों उसे समाधि दी और उसपर शिवलिंग स्थापित किया। यह शिवलिंग मंगलेश्वर नामसे प्रसिद्ध है। यह स्थान उज्जैनमें नगरके बाहर सन्दीपन ऋषिके आश्रमके समीप बताया जाता है।

इसके पश्चात् ज्ञानेश्वर महाराज प्रयागराज गये। वहाँ त्रिवेणी-संगममें स्नान करके तथा भारद्वाजाश्रम देखकर काशी गये। काशीमें इस समय मणिकर्णिकाघाटपर मुद्गलाचार्य कोई महान् यज्ञ कर रहे थे, इस कारण काशीमें वैदिक, शास्त्री, पौराणिक आदि विद्वान् ब्राह्मणोंका बहुत बड़ा समुदाय एकत्र हुआ था, और इस समय यह झगड़ा पड़ा था कि यज्ञप्रसंगमें अग्रपूजा किसकी की जाय? इस झगड़ेका कोई निर्णय नहीं हो पाता था। आखिर मुद्गलाचार्यने एक उपाय किया।

एक हथिनी लाकर उसकी सूँडमें एक पुष्पमाला दी और यह निश्चय किया कि यह हथिनी जिसके गलेमें माला डाले उसीकी अग्रपूजा की जाय। बड़े-बड़े पण्डितोंमेंसे हर कोई यही चाहता था कि यह सम्मान मुझे ही मिले। पर हथिनीने वह माला डाल दी उन ज्ञानेश्वर महाराजके गलेमें जिन्हें इसकी जरा भी इच्छा नहीं थी। ज्ञानेश्वर महाराजके गलेमें अचानक यह पुष्प-माला जब आ पड़ी तब सब सन्तोंने 'पुण्डलीक वरदे हारी विट्ठल' का ऐसा जयघोष किया कि काशीक्षेत्रमें वही घोष गूँज उठा! जो सच्चे श्रेष्ठ हैं वे सर्वत्र ही श्रेष्ठ माने जायँ, इसमें कोई आश्चर्य नहीं। सूर्यबिम्ब देखनेमें छोटा होनेपर भी उसका प्रकाश त्रिभुवन-में फैलता है, उसी प्रकार ज्ञानेश्वर महाराज वयस् और कदमें छोटे

होनेपर भी वह जहाँ-जहाँ गये वहाँ-वहाँ विश्ववन्द्य ही हुए। जो प्रथम है वह कहीं भी जाय तो प्रथम ही होगा। सिंहका बच्चा असंख्य पशुओंके समुदायोंके बीचमें भी राजा ही माना जायगा। आकाशस्थ तारागणोंके बीचमें अध्यक्षका स्थान सदासे चन्द्रका ही निश्चित है। उसी प्रकार अखिल दैवी सम्पत्तिके छब्बीस गुण जिनके सामने हाथ जोड़े खड़े रहते थे वह 'ज्ञानिराज गुरु महाराज' ज्ञानेश्वर समग्र पण्डितसभामें अग्रपूजाके मानके अधिकारी हुए, यह ठीक ही हुआ। ज्ञानियोंकी सभामें ज्ञानियोंके राजा ही अग्रपूजा पा सकते हैं। महाराजका अधिकार ही जगद्गुरु होनेका था। वह ईश्वरीय विभूति थे यही नहीं, साक्षात् ईश्वर ही थे। ज्ञानेश्वर महाराजने विभूतियोगका वर्णन करते हुए (ज्ञानेश्वरी अ० १०।३११) कहा है—'उन्हें पहचानना हो तो उनकी पहचान यही है कि सारा जगत् सिर झुकाकर उनकी आज्ञा मानता है। ऐसे जो हैं वे मेरे अवतार हैं।' महाराजकी इस उक्तिकी सत्यता, कम-से-कम मुझे तो, उन्हींके अन्दर देख पड़ती है। जिसकी आज्ञा सिर-आँखों माननेके लिये संसार उत्कण्ठित होता है वही श्रीहरिका अवतार है। महाराजको अग्रपूजाकी कौन-सी अभिलाषा थी? यह तो काशीवासियोंका महद्भाग्य था जो उन्हें श्रीज्ञानेश्वर महाराजके चरणदर्शन प्राप्त हुए। यज्ञका पुरोडाश श्रीकाशी विश्वनाथने ज्ञानेश्वर महाराजके हाथों पाया। मणिकर्णिकाघाटपर एक दिन श्रीगुरुदत्तदेव, मत्स्येन्द्रनाथ और गोरक्षनाथने श्रीनिवृत्ति, ज्ञानेश्वरादिको दर्शन दिये और नामदेवादि भक्तोंने भी उस समयका वह अपूर्व आनन्द देखा। विश्व-

रूप भगवान्‌को अखण्डरूपसे मनमें धारणकर अथवा स्वयं उस रूपको प्राप्त होकर जो त्रिभुवनमें खेल खेला करते हैं उनके दर्शन-संवादका आनन्द—

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च॥

(गीता १०।९)

—इसी प्रकारका होता है।

नामदेवरायने दिल्लीमें मरी हुई गायमें प्राण डालकर फिरसे उठाया, यह कथा महीपतिबाबाने भक्तविजयमें कही है। तीर्थ-यात्रा करते-करते हमारे ये सन्तलोग हस्तिनापुर याने दिल्ली पहुँचे। करताल, मृदंग, वीणा बजाते हुए कीर्तनरङ्गमें नाचनेवाले इन महाराष्ट्रीय सन्तोंको जब वहाँके हिन्दुओंने देखा तब उन्हें बड़ा ही आनन्द हुआ। पर सारे नगरमें होनेवाले इस नाम-संकीर्तनसे दिल्लीपतिका मिजाज बिगड़ा। उस समय याने संवत् १३४९-५०के लगभग जलालुद्दीन खिलजी दिल्लीके तख़्तपर था और उसका भतीजा अलाउद्दीन खिलजी दिल्लीका मुख्य सूबेदार था। इसी अलाउद्दीन खिलजीने आगे चलकर महाराष्ट्रका देवगिरि-राज्य नष्ट किया। इस समय मुसलमानोंका राज्य दिल्लीमें अच्छी तरहसे स्थापित हो चुका था और अब उसके हाथ-पाँव सारे हिन्दुस्थानमें फैलने लगे थे। ऐसे समय हमारे ये सन्त लोग दिल्ली पहुँचे और उन्होंने अपने नाम-संकीर्तनसे हिन्दू-प्रजाके अन्तःकरणोंमें स्वधर्म-प्रेम जगा दिया। पर वहाँके कट्टर यवनोंको यह क्यों अच्छा

लगने लगा ? एक दिन नामदेव कीर्तन कर रहे थे, श्रोता उस रंगमें रँगे हुए चित्रवत् मुग्ध होकर भक्तिरसामृत पान कर रहे थे। ऐसे अवसरपर अकस्मात् वहाँ बादशाहकी सवारी पहुँची। समुदायके बीचमें आकर उसने वहाँ एक गौकी हत्या की और नामदेवसे कहा कि यह क्या कुफ्र गा रहा है ? तेरा यह कीर्तन तो मैं तब सच जानूँ कि इस गायको तू जिला दे और नहीं तो मैं इस तलवार-से तेरी भी गर्दन उड़ा दूँगा। यह सब देख-सुनकर सब नर-नारी अत्यन्त दुखी हुए, कथामें जहाँ भक्तिरसकी वर्षा हो रही थी वहाँ अब भय और दुःखके अँगारे बरसने लगे। नामदेवने भगवान्‌की गुहार की। गौका सिर उठाकर अपनी जाँघपर रखा और भगवान्‌को पुकारना आरम्भ किया—

'भगवन्! जल्दी आओ। नामाको ग्रासनेके लिये काल आ पहुँचा है।' जलके बिना जैसे मछली व्याकुल होकर छटपटाती है, वैसी छटपटाहट—वैसे करुण शब्द सुनकर तत्काल नामाके हृदय-भुवनमें चक्रपाणि प्रकट हुए।

तब नामदेवके स्पर्शमात्रसे वह गौ उठकर खड़ी हुई। सारा सङ्कट टल गया। ज्ञानेश्वर महाराजने नामदेवकी पीठ ठोंकी और भक्तियोगकी सामर्थ्य देखकर सब सज्जन परम आनन्दित हुए।

ज्ञानेश्वर महाराज काशीमें पञ्चक्रोशी करके गया, अयोध्या, गोकुल, वृन्दावन, द्वारका, गिरनार आदि तीर्थोंमें भ्रमण करते हुए मारवाड़ पहुँचे। मारवाड़में जलका अकाल रहता है, यह सबको मालूम ही है। एक दिन मध्याह्नके लगभग सन्तोंको बड़ी

प्यास लगी। रास्तेमें एक कुँआ तो मिला पर कुँआ गहरा था और रस्सी-लोटा भी पास नहीं था। अब वहाँ क्या हो, कैसे प्राण बचें? ज्ञानेश्वर महाराज योगी तो थे ही। उन्होंने उस अवसरपर 'लघिमाका लाघव करके' (लघिमासिद्धिका* आश्रय करके) अर्थात् अणु-प्रमाण देह धारणकर 'कुँएमें उतरकर उदक प्राशन किया,' अपनी प्यास बुझायी और नामदेवसे बोले, 'तुम्हें भी जल ला देता हूँ।' पर दूसरोंके हाथों पानी पीना इन्हें पसन्द नहीं था, इसलिये यह इन्होंने मंजूर नहीं किया। सब देहोंमें रहनेवाले मेरे आत्मा विट्ठलको क्या मेरी कोई चिन्ता नहीं है? यह सोचकर नामदेवने पाण्डुरङ्गका ध्यान किया, उन्हें गुहारना आरम्भ किया—

'भगवन्! तुम्हीं मेरे इष्ट हो, तुम्हीं मित्र, बन्धु और सगे हो, तुम्हें छोड़ मैं और किसीको नहीं जानता। पण्ढरिनाथ! अब आओ! मेरेलिये जल्दी दौड़े आओ! हे नाथ! तुम कृपालु हो। मेरा अन्त क्यों देख रहे हो? जन्मसे मुझे तुम्हींने

---

* योगशास्त्रमें अठारह सिद्धियोंका वर्णन है, जिनमें आठ महा सिद्धि और दस गौण सिद्धि हैं। अन्य क्षुद्र सिद्धियाँ अनन्त हैं। महासिद्धियाँ उन महात्माओंके साथ सहजरूपसे ही रहती हैं, जो भगवत्स्वरूपाकार हुए होते हैं। गौण सिद्धियाँ सत्त्वगुणके उत्कर्षसे प्राप्त होती हैं। अणिमा, लघिमा आदि महासिद्धियाँ हैं। लघिमाका अर्थ है शरीरका लघु (हलका अथवा परमाणु जितना छोटा) होना। इन सिद्धियोंकी विवरण श्रीमद्भागवत—एकादश स्कन्धके १५ वें अध्यायमें देखना चाहिये और उसपर एकनाथ महाराजकी जो टीका है उसे भी समझना चाहिये।

तो पाला-पोसा, अब अन्तमें छोड़ दोगे तो इसके लिये किसको लज्जित होना पड़ेगा ? मेरे तुम्हीं तो सर्वस्व हो और मैं तुम्हारा लाडला हूँ ।'

इस प्रकार गद्गद होते हुए नामदेवने भगवान्‌को पुकारा । कोई अकिञ्चन भी अड़कर, गिड़गिड़ाकर, उसे पुकारे तो जो आर्तबन्धु मनोवेगसे दौड़ा चला आता है वह भक्तके पुकारते ही कैसे न प्रकट होता ? ज्ञानेश्वरके देखते हुए ही 'उस कूपमें इतने जोरसे पानी आकर भर गया मानो कल्पान्तकारी सागर क्षुब्ध हो उठा हो ।' कुँआ पानीसे भर गया और भरकर पानी बाहर बहने लगा ! नामदेवने भक्तिके बलसे भगवान्‌को कैसे ऋणी बना रखा है, यह ज्ञानेश्वरादि सन्तोंने देखा और उन्हें बहुत आनन्द हुआ और सबको यह अनुभव हुआ कि योगाभ्याससे प्राप्त होनेवाली सिद्धियाँ भक्तियोगके बलसे भक्तको भी सहज ही प्राप्त होती हैं ।

तीर्थयात्रा समाप्त करके सन्तलोग पण्ढरपुर लौट गये । नामदेवको पुनः अपने सामने देखकर विट्ठल भगवान्‌को बहुत ही आनन्द हुआ । उस प्रेम और आनन्दसे नामदेवका 'कण्ठ भर आया और नेत्रोंके द्वारा वह प्रेमानन्द आँसू बनकर बाहर निकला ।' नामदेव 'चरणोंपर लोट गये' और कहने लगे—'पण्ढरिनाथ ! कृपादृष्टिसे मेरी ओर देखिये । आपके बिना मैं बहुत दीन हो गया हूँ । महान् तीर्थोंकी बड़ी महिमा मैं जितनी ही सुनता हूँ, मेरा चित्त उतना ही अधिक चन्द्रभागाकी ओर दौड़

जाता है। कटितटपर जिसके हाथ न हों, ईंटपर जिसके पाँव न हों उसे भगवान् कहते मेरा मन लज्जित होता है। यह दारुण कष्ट मैं किससे कहूँ ? जिनके साथ गरुड और पताका मैं नहीं देख पाता उन भगवान्‌के भगवान् होनेमें मुझे बड़ा सन्देह होता है। जिस स्थानमें वैष्णवोंका मेला न लगता हो, सदा हरिकथा न होती हो वहाँ मन खिन्न हो जाता है, तुम्हारा ही रूप स्मरण होता है। तुम्हीं तो मेरे इष्ट, मित्र, बन्धु और कुलदेवता हो, नामाके तुम्हीं तो प्यारे प्राण हो' इत्यादि।

पण्ढरपुरमें नामदेवने यात्राके उपलक्ष्में बड़ा उत्सव किया। उस प्रसङ्गका बड़ा ही सुन्दर वर्णन नामदेवने किया है। वह नामदेव-चरित्रमें ही विस्तारके साथ देखनेयोग्य है। उस अवसरपर पण्ढर-पुरमें निवृत्तिनाथ, ज्ञानेश्वर, सोपानदेव, विसोबा खेचर, नरहरि सोनार, साँवता माली, जनमित्र, चोखामेला, बंका, गोरा कुम्हार आदि सन्त एकत्र हुए थे। इसी अवसरपर ये लोग पण्ढरपुरमें आये हों, यह बात नहीं, इनमेंसे अधिकांश लोग यात्रामें भी साथ थे। पण्ढरीका यह उत्सव समाप्त होनेपर सब सन्त अपने-अपने स्थानको चले गये। ज्ञानेश्वर महाराज भी अपने भाई-बहिन-सहित आलन्दी लौट आये।

चाङ्गदेव और ज्ञानदेव

योगयागविधिसे सिद्धि नहीं प्राप्त होती। यह व्यर्थकी उपाधि है, दम्भ-धर्म है।

—हरिपाठ

ज्ञानदेव महाराजके चरित्रमें चाङ्गदेवका प्रसङ्ग भी वहुत वड़ा है, इसलिये इनके सम्वन्धमें एक पृथक् अध्याय ही लिखना आवश्यक माल्म होता है। चाङ्गदेव नामके कई पुरुष हो गये। उनमें दो विशेष प्रसिद्ध थे, एक चाङ्गा वटेश्वर, दूसरे चाङ्गा मुधेश। ये दोनों व्यक्ति एक दूसरेसे पृथक् हैं। हमें इस चरित्रमें जिन चाङ्गदेवकी चर्चा करनी है वह हैं चाङ्गा वटेश्वर। चाङ्गा वटेश्वरने जिस स्थानमें तप किया वह स्थान तापी नदीके तटपर है, पर समाधि उनकी पुणताम्वेमें है; और चाङ्गा मुधेश पुणताम्वेमें ही रहा करते थे तथा समाधि भी उन्होंने उसी स्थानमें ली। इस प्रकार दोनों ही पुणताम्वेमें समाधिस्थ हुए और दोनों ही परम योगी थे, इस कारण दोनोंके चरित्र-वर्णनोंमें कहीं-कहीं एक दूसरेकी वातें आ गयी हैं। ज्ञानेश्वर महाराजके समकालीन चाङ्गदेव—जो चाङ्गा वटेश्वरके नामसे प्रसिद्ध हैं—शाके १२१८ (संवत् १३५३) में समाधिस्थ हुए और मुधेश चाङ्गा उपनाम चाङ्गा केशवदास शाके १४२७ (संवत् १५६२) में समाधिस्थ

हुए । इस प्रकार दोनोंके बीच दो सवा दो सौ वर्षका अन्तर है और मुधेश चाङ्गा चाङ्गा वटेश्वरके अनुग्रहसे ही कृतार्थ हुए थे । ज्ञानेश्वरमण्डलमें सम्मिलित चाङ्गा वटेश्वरका चरित्र अब अवलोकन करें ।

चाङ्गदेवका अनुपम सौन्दर्य, उनकी सहजप्राप्त सिद्धियाँ और उनका दिव्य तेज देखकर तत्कालीन लोग यही समझते थे कि चाङ्गदेवके रूपमें मरुद्गण ही भूलोकपर अवतीर्ण हुए हैं । तपसे तपकर तेजःपुञ्ज बने हुए उनके शरीरको देखकर ही लोग उन्हें 'चाङ्गदेव (अच्छे याने श्रेष्ठ देव)' कहने लगे थे । चाङ्गदेव शङ्करके उपासक थे । शङ्करके प्रसादसे उन्हें अनेक विद्याएँ और कलाएँ प्राप्त हुईं । श्रुति, न्याय, व्याकरण, ज्योतिष, रस-विद्या, नाडीज्ञान, धनुर्विद्या, कामशास्त्र, गायनकला इत्यादिमें चाङ्गदेव निपुण हुए । इसके सिवा पर-काया-प्रवेश, दूसरोंके मनका हाल जानना, वस्तुमात्रकी परीक्षा करना, जलपर चलना इत्यादि बातें उनके लिये सहज हो गयी थीं । उन्होंने वज्रासन लगाकर षट्चक्र भेदन किया था । चाङ्गदेव इतने बड़े समर्थ थे । परन्तु जैसा कि महीपतिबाबाने कहा है—'चौदहों विद्या और चौसठों कला भले ही किसीको प्राप्त हों पर उसमें यदि प्रेम-कला न हो तो उसके बिना ये सब विद्या और कला विकला हो जाती हैं ।' वह प्रेमकला उत्पन्न करनेवाला कोई महामान्त्रिक अबतक चाङ्गदेवको नहीं मिला था, इससे चाङ्गदेव अबतक सिद्धाईमें ही पड़े हुए थे, नाना प्रकारके चमत्कार दिखाने, शिष्य-शाखा बढ़ाने

और प्रेम-कला जिससे उत्पन्न होती है उसके सर्वथा विपरीत अहङ्कारका ही पोषण करनेमें चाङ्गदेवकी आयुके १४०० वर्ष वीत गये ! इस अवधिमें उन्होंने अनेकोंकी अनेक मनोकामनाएँ पूरी कीं । चाङ्गदेवका सिद्धाश्रम तापीके तटपर था और वहाँ दर्शनार्थियोंकी सदा ही भीड़ लगी रहती थी । अन्धोंके आँखें आ जातीं, वहिरे सुनने लगते, कोढ़ियोंका कोढ़ दूर होता, वाँझके लड़का होता इत्यादि अनेक चमत्कार चाङ्गदेव योग-वलके द्वारा दिखाते थे और इस कारण झुण्ड-के-झुण्ड लोग उनके पास दौड़े आया करते थे । सौ-सौ वर्षके वाद जव काल उन्हें हरण करने आता तव वह अपने प्राण ब्रह्माण्डमें पहुँचाते और दस दिनतक वहीं वैठ रहते थे ! इस प्रकार चौदह वार उन्होंने योग-वलके द्वारा कालको लौटाया था ! चाङ्गदेव अन्तरिक्षमें अधर वैठकर भी अनेक व्यवसाय किया करते थे !

चाङ्गदेवका जो 'चाङ्गा वटेश्वर' नाम पड़ा सो इस प्रकार—खानदेशमें तापी-नदीके तटपर चर्मचक्षुओंको वन्द करके अन्धे वने चाङ्गदेव तप कर रहे थे, तव वरुण-गाँवके दो व्यापारी दरिद्रताके मारे वहाँ पहुँचे और चाङ्गदेवकी सेवा करने लगे । वाजारवाले दिन वे चाङ्गदेवको अपने यहाँ लिवा ले जाने लगे, इससे उनके मालकी विक्री वढ़ गयी और नफ़ा भी खूव मिलने लगा । इस क्रमसे कुछ दिनोंमें वे धनाढ्य वन गये । जव वहुत द्रव्य जमा हो गया तव गुरु-सेवासे उनका चित्त हटने लगा, गुरु-सेवामें आलस्य होने लगा, उपेक्षा भी होने लगी । सकाम

भक्ति ऐसी ही होती है, सदा टिकनेवाली नहीं ! ऐसी 'भक्ति' को भक्ति न कहकर 'सौदा' कहें तो अधिक ठीक होगा। किसी ऐहिक कामनासे भगवान् या गुरुकी जो भक्ति की जाती है वह सदा अखण्ड बनी रह नहीं सकती। कारण, जिस कामनासे यह भक्ति की जाती है उसके पूर्ण होते ही ऐसे भक्तके लिये भगवान् या गुरुका कुछ प्रयोजन नहीं रह जाता ! निष्काम प्रेम कोई दूसरी ही चीज है। जब वरुण-गाँवके उन व्यापारियोंके हाथमें यथेष्ट धन आ गया तब वे चाङ्गदेवकी उपेक्षा करने लगे। दम्भसे उन्होंने एक देवमन्दिर बनवाया और वहाँ बड़े ठाट-बाट-से भगवान्के नामपर उत्सवादि करना आरम्भ किया। इस काममें उनकी धर्मबुद्धि उतनी नहीं थी जितनी कि यह इच्छा कि लोग हमें धर्मात्मा कहें। उन बेचारोंको भला इसकी क्या खबर कि यह धर्मध्वजित्व मोक्षकी ओर ले जानेवाला नहीं बल्कि नरकका द्वार समीप ले आनेवाला होता है। वे धनसे मदान्ध हुए थे, उन्होंने चाङ्गदेवकी अवहेलना की। एक दिन नित्यक्रमके अनुसार पार्थिवपूजन करनेके लिये चाङ्गदेवने एक पार्थिवलिङ्ग तैयार करनेको इन व्यापारियोंसे कहा। इन्होंने यह सोचकर कि अन्धा कुछ देखता तो है नहीं, किनारेकी बालू इकट्ठी की और उसपर चाङ्गदेवकी घृतकी कटोरी पलटकर रख दी, यही मानो पार्थिवलिङ्ग बना ! चाङ्गदेवके हाथपर इसे रखकर कहा कि महाराज, इसकी पूजा करिये। चाङ्गदेवने अन्तर्दृष्टिसे शिष्योंका यह कपट जाना। तथापि अपनी उत्कट शिव-भक्तिके अनुरूप उन्होंने उसी कटोरीरूप शिवलिङ्ग-

का यथाविधि पूजन किया। पूजाके बाद जब चाङ्गदेव भोजनके लिये बैठे तब उन्होंने शिष्योंसे घृतकी कटोरी माँगी। तब ये व्यापारी शिष्य कटोरी ढूँढ़ने नदी-किनारे गये, शिवलिङ्गपर जो बेलपत्र और फूल चढ़े थे उन्हें जल्दीसे हटाया और कटोरी निकालना चाहा पर उन्होंने देखा कि उस पार्थिवलिङ्गमें कटोरी बहुत नीचेतक गड़ी हुई है। यह चमत्कार देखकर वे भय-चकित हुए और चाङ्गदेवकी शरणमें आकर क्षमा माँगने लगे। चाङ्गदेवने उदारताके साथ उन्हें क्षमा की और अपनी तपोभूमिकी ओर चलते बने। 'भक्तलीलामृत' में यह कथा कहकर महीपतिबाबा आगे कहते हैं—'चाङ्गाकी भक्तिसे कटोरीके भगवान् हो गये। तब चाङ्गाने वटेश्वर नाम पाया है।' इस प्रकार वाटी (कटोरी)+ईश्वर=वटेश्वर—उस वटेश्वरके अर्थात् शङ्करके भक्त जानकर चाङ्गदेवको लोग चाङ्गा वटेश्वर कहने लगे।

चाङ्गा वटेश्वरने सोते-जागते, उठते-बैठते, कर्म और विश्राम करते किसी भी समय क्षणभरके लिये भी शङ्करको नहीं भुलाया। शङ्करभगवान्की असीम भक्ति की। इसी भक्तिके प्रतापसे ही विष्णुस्वरूप ज्ञानेश्वर महाराजका उनपर अनुग्रह हुआ और वह मोक्ष-प्रसादके अधिकारी हुए।

ज्ञानेश्वर महाराजने पैठणमें भैंसेसे वेदमन्त्र कहलवाये, यह कौतुकवती वार्ता देखते-देखते जलवर्ती तैलबिन्दुओंके समान सर्वत्र फैल गयी। 'प्रसन्नराघव' के कर्ता जयदेव कविने जैसा कहा है—

वार्ता च कौतुकवती विमला च विद्या
लोकोत्तरः परिमलश्च कुरङ्गनाभेः॥

तैलस्य बिन्दुरिव वारिणि दुर्निवारं
एतत्त्रयं प्रसरति स्वयमेव भूमौ ॥ १ ॥

'कौतुकवती वार्ता, विमला विद्या, कुरङ्गनाभ (मृग) की कस्तूरीकी गन्ध—ये तीनों जलमें तेल-बिन्दुओंके समान बेरोक गतिसे आप ही सर्वत्र फैल जाते हैं।'

पैठणसे चला हुआ एक ब्राह्मण यात्री यात्रा करते हुए नदी-नाव-संयोगसे चाङ्गदेवके आश्रममें पहुँचा। चाङ्गदेवके तेजःपुञ्ज शरीरके दर्शन करके तथा वहाँ यात्रियोंका बड़ा जमघट देखकर ब्राह्मणको बड़ा कुतूहल हुआ। ज्ञानेश्वर महाराजकी योग-सामर्थ्यका हाल भी उसे मालूम था। चाङ्गदेवके सामने उसके मुँहसे यह बात निकल पड़ी, 'पैठणमें अभी आलन्दीके ज्ञानेश्वरने भैंसेसे वेदमन्त्र कहलवाये, उस समय मैं वहाँ था। वह प्रसङ्ग ऐसा था कि '*न भूतो न भविष्यति*।' ऐसा योगबल और किसीमें नहीं हो सकता।' इसपर चाङ्गदेवने उस ब्राह्मणसे ज्ञानेश्वर महाराजका सारा हाल पूछा। उसने भी विट्ठलपन्तके जन्मसे लेकर शुद्धिपत्रतकका सब हाल बड़े प्रेमसे कह सुनाया। सुनकर चाङ्गदेवके अहङ्कारमें बिजलीका धक्का-सा लगा। उनके हृदयाकाशमें यह ध्वनि उठी कि, 'काल-वञ्चना करके तू चौदह सौ वर्ष जीया तो सही और सिद्धाई भी तूने बहुत दिखायी, पर ऐसी सामर्थ्य तुझमें नहीं है।' चाङ्गदेवने तुरन्त प्राणायाम किया और चित्तको एकाग्र करके बैठ गये और सूक्ष्ममार्गसे यह देखने लगे कि ब्रह्माण्डभुवनमें क्या हो रहा है। उन्होंने यह देखा कि ब्रह्मा, विष्णु, महेश आलन्दीमें

अवतरित हुए हैं। चाङ्गदेवको बड़ा आनन्द हुआ और उन्होंने ज्ञानेश्वरके दर्शनोंके लिये चलनेकी इच्छा प्रकट की।

चाङ्गदेवके सिरपर अहङ्कारका भूत सवार था, पर यह भूत सामान्यतः सुशील था। अहंकार मनुष्यके सद्गुणोंको तिरोहित कर देता है पर उनका समूल नाश नहीं करता, जहाँ कोई अधिक योग्यतावाले पुरुष मिले और उन्होंने अहङ्कारका वह परदा हटाया तहाँ उनका सहज मनोहर स्वरूप प्रकट हो ही जाता है। चाङ्गदेवको अपने पैर पुजवाने और शिष्योंपर हुकूमत करनेकी आदत पड़ गयी थी। उन्होंने कभी स्वप्नमें भी इस बातका ध्यान नहीं किया कि मुझसे भी कोई श्रेष्ठ पुरुष संसारमें हो सकता है। बेलन जैसे नमता नहीं या पत्थर जैसे पिघलता नहीं, वैसा ही उनका स्वभाव कड़ा हो गया था! अच्छे गुरु शिष्यको सुधारते हैं और अच्छे शिष्य गुरुको भी सुधार लेते हैं; वैसे ही कच्चे गुरु शिष्योंको बिगाड़ते हैं और कच्चे शिष्य भी गुरुको बिगाड़ते हैं। इन सब प्रकारोंके दृष्टान्त संसारमें मिलते हैं। चाङ्गदेवके अहङ्कारको उनके शिष्योंने बढ़ा रक्खा था। ज्ञानेश्वर महाराजके दर्शन करने जानेकी इच्छा चाङ्गदेवको हुई। पर उनके शिष्योंने उन्हें यह 'पढ़ायो' कि, 'दूसरोंकी कीर्ति सुनकर अपने स्थानसे कहीं जाना स्थान-भ्रष्ट होना, अपना महत्त्व कम करना और हीनत्व स्वीकार करना है।' यह मन्त्र उनके कानमें फूँककर शिष्योंने फिर उनकी बड़ी स्तुति की। स्तुतिके सहज ही वश होनेवाले अहंमन्य चाङ्गदेवपर वह मन्त्र असर कर गया और

जो सत्त्वाङ्कुर उनके हृदयमें उपजा था वह इस तरह जलकर भस्म हो गया। चाङ्गदेवने ज्ञानेश्वर महाराजके दर्शन करने जानेका विचार त्याग दिया और यह सोचा कि शिष्यके हाथ एक चिट्ठी उनके पास भेज दी जाय। पर चिट्ठी लिखनेमें भी अहंभाव उपाधि करने लगा। ज्ञानेश्वर महाराजको क्या कहकर सम्बोधन किया जाय यही उनकी समझमें नहीं आता था। यदि उन्हें 'चिरञ्जीव' लिखा जाय तो जो अपनेसे इतने बड़े समर्थ होनेके कारण मान्य हैं उन्हींका अपमान करना होता है जो ठीक नहीं; और यदि 'तीर्थरूप' लिखा जाय तो १४०० वर्ष वयस्के बड़े-बूढ़े १४ वर्षके बच्चेको ऐसा लिखें, तो यह भी ठीक नहीं और फिर यह अपना ही महत्त्व कम करना है। इसलिये कुछ भी न लिखा जाय और चिट्ठीमें सन्देश भी कुछ न लिखा जाय, केवल कोरा कागज भेज दिया जाय, यही चाङ्गदेवने निश्चय किया। और शिष्योंसे कहा यह कागज उन्हें दे दो, चारों भाई-बहिनको मेरा नमस्कार कह दो और चुपचाप इन सब बातोंका पता लगाओ कि ज्ञानेश्वर किसकी उपासना करते हैं, उन्होंने क्या अध्ययन और क्या साधन किया है, उनका योगक्षेम कैसे चलता है, तप क्या-क्या किया है इत्यादि। शिष्य वह कोरा कागज लिये हुए आलन्दी पहुँचे। उस समय चारों भाई-बहिनं संवाद-सुखमें मग्न थे। उन ब्राह्मण-शिष्योंको देखते ही ज्ञानेश्वर महाराजने उनसे पूछा, 'क्या चाङ्गदेवने मेरे पास कोरा ही कागज भेजा है?' देखतेके साथ यह सुनकर चाङ्गदेवके शिष्य बहुत चकित हुए। उन्होंने यह जाना कि यहाँ कुछ और बात है। उन्होंने यह

कहकर कि 'महाराज, आप दूसरोंके हृदयका सब हाल जाननेवाले ज्ञानेश्वर हैं' महाराजको दण्डवत् किया और वह कोरा कागज सामने रखा। मुक्ताबाईने सहज बालस्वभावसे वह कागज उठा लिया और कहा, 'क्या चौदह सौ वर्ष तप करके भी अभी यह कोरे ही रह गये!' इसपर सब लोग हँस पड़े और निवृत्तिनाथने गम्भीरतापूर्वक चाङ्गदेवका सम्पूर्ण चरित्र सबको वहाँ सुनाया। और फिर ज्ञानेश्वर महाराजसे कहा, 'सिद्धाईकी अकड़में अटके हुए और अहङ्कारसे पूर्ण ग्रसे हुए, ब्रह्मज्ञानके विषयमें कोरे इस चाङ्गदेवको तुम ऐसा अच्छा पत्र लिखो कि उसके अन्तःकरणको कुछ बोध हो।' गुरुकी आज्ञा पाते ही ज्ञानेश्वर महाराजने चाङ्गदेवको पैंसठ ओवियोंका एक पत्र लिखा। वह पत्र 'चाङ्गदेवपासष्टी (चाङ्गदेवपैंसठी)' के नामसे सुप्रसिद्ध है।

चाङ्गदेवपैंसठीका भावार्थ

चाङ्गदेवपैंसठीकी इन पैंसठ ओवियोंमें ज्ञानेश्वर महाराजने चाङ्गदेवको 'तत्त्वमसि' महावाक्यका बोध कराया है। संक्षेपमें उसे हमलोग यहाँ देखें—

स्वस्ति श्रीवटेशु। जो लपोनि जगदाभासु।
दावी मग ग्रासु। प्रगटला करी ॥ १ ॥

श्रीवटेश (शिव) जो स्वयं छिपकर अखिल विश्व भासमान करते हैं और जो प्रकट होकर अखिल विश्वको ग्रास करते हैं अर्थात् जिनके अदर्शनमें जगत् भासित होता है और जिनके दर्शनमें जगत्का लोप होता है उनका सदा मङ्गल हो।

प्रगटे तंव तंव न दिसे। लपे तंव तंव आभासे।
प्रगट ना लपाला असे। न खोमता जो॥ ३॥

आत्मस्वरूपका ज्यों-ज्यों उदय होता है त्यों-त्यों नामरूपात्मक जगत्का लोप होता है और उसका ज्ञान ज्यों-ज्यों ढक जाता है त्यों-त्यों नामरूपात्मक प्रपञ्च सत्य प्रतीत होता है। तो क्या प्रकट होना और छिपना भी आत्मस्वरूपके धर्म हैं? नहीं। वह प्रकट भी नहीं है और छिपा हुआ भी नहीं है। प्रकट होने या छिपनेके धर्मका उसपर कोई लेप नहीं होता। आत्मस्वरूप निर्धर्म स्वयंसिद्ध है। बुद्धिमें देहाहङ्कारादि प्रपञ्चका उदय होता है तब स्वरूप-ज्ञान आच्छादित होता है और बुद्धिमें स्वरूप-ज्ञानका उदय होनेसे देहाहङ्कारादि प्रपञ्च आप ही लुप्त होता है, यही आशय है। स्वरूप और जगत्के छिपने-प्रकटनेके खेलमें ऐसा मालूम होता है जैसे ये दोनों एक-दूसरेसे भिन्न हों; इसलिये बतलाते हैं कि नहीं, ऐसा नहीं है; नामरूपात्मक जगत् अधिष्ठान ब्रह्मसे भिन्न नहीं; तद्रूप ही है—

सोनें सोनेपणा उणें। न येतांचि झालें लेणें।
तेंवि न वेंचतां जग होणें। अंगें जया॥ ४॥

सोनेके सोनेपनमें कुछ भी कसर या कमी नहीं होती और उसका अलङ्कार बन जाता है, उसी प्रकार परब्रह्मके पूर्णत्वमें कोई कमी नहीं होती और वही जगत् बन जाता है। इन पहली चार ओवियोंमें जो सिद्धान्त बताया है, उसीको दृष्टान्तादि देकर आगेकी ओवियोंमें समझाया है। कल्लोल-कञ्चुक बिना खोले ही

जल खुला हुआ है अर्थात् लहरोंका अङ्गरखा पहने हुए समुद्र, विना यह अङ्गरखा उतारे, लहरें और समुद्र मिलकर जैसे जल ही है, वैसे ही जगत् आत्मासे भिन्न नहीं। जगत् और आत्मा मिलकर आत्मा ही है ॥ ५ ॥ परमात्माने ही विश्वरूप धारण किया है, विश्वस्फूर्तिसे वह ढक नहीं जाता ॥ ६ ॥ कलाओंके आवरणसे चन्द्र जैसे आवृत नहीं होता अथवा अग्नि दीपरूपमें आकर उससे भिन्न नहीं होता ॥ ७ ॥ वैसे ही ज्ञानरूप आत्मा अविद्या-निमित्तसे दृश्य और द्रष्टाके रूपमें विराजता है तो भी आत्मत्वमें भेद नहीं होता और स्वतःसिद्ध आत्मा ज्यों-का-त्यों बना रहता है ॥ ८ ॥ जैसे कोई वस्त्र हो, कहनेको वस्त्र है, पर सूतके सिवा और कुछ भी नहीं ॥ ९ ॥ वैसे ही दृश्य-द्रष्टारूपमें दृङ्मात्र (ज्ञानरूप) आत्मस्वरूप एक ही है ॥ १० ॥ अलङ्कार और सुवर्ण अथवा अवयव और अवयवी ॥ ११ ॥—के समान मायोपाधि शिवसे जड पृथ्वीपर्यन्त अनेक पदार्थ दिखायी देते हैं तो भी एक संविद् (आत्मा, परमात्मा, ज्ञान कुछ भी कहिये) के सिवा और कुछ भी नहीं है ॥ १२ ॥ वही संविद् जगदाकारमें भास रहा है। भीत और उसपर बने हुए चित्र, मीठा और उसकी मिठास, वस्त्र और उसकी परत इत्यादि दृष्टान्तोंसे भी यही सिद्ध होता है कि संविद् और विश्वस्फूर्ति अथवा आत्मा और जगत् अलग-अलग नहीं हैं, बल्कि आत्मा ही जगत्‌रूपसे अपने ही सम्मुख हुआ है ॥ १३—१६ ॥ प्रतिबिम्बके कारण बिम्बको बिम्बत्व प्राप्त होता है वैसे ही जगत्‌के दृश्य

होनेके कारण आत्माको द्रष्टापन प्राप्त होता है ॥ १७ ॥
तात्पर्य—

आपणचि आपुला पोटीं । आपणया दृश्य दावित उठी ।
द्रष्टादृश्यदर्शनत्रिपुटी । मांड ते हे ॥ १८ ॥

आप ही अपने पेटमें अपने-आपको दृश्य बनाकर दिखा रहा है । द्रष्टा, दृश्य और दर्शनकी त्रिपुटी इस प्रकार दिखायी देती है । और फिर यह देखिये कि—

दृश्य जेधवां नाहीं । तेधवां दृष्टि वेऊनि असे काई ? ।
आणि दृश्येवीण कांहीं । द्रष्टत्व असे ? ॥ २३ ॥

दृश्य जब नहीं है, तब दृष्टि भी कुछ नहीं है । दृश्यके विना द्रष्टृत्व कहाँ ? दृश्यके कारण ही द्रष्टा और दर्शन हैं, दृश्यत्व ही जब नहीं रहा तब द्रष्टा और दर्शन कहाँ रहे ? तात्पर्य—

एकचि झाली ती होती । तिन्ही गेलिया एकचि व्यक्ति ।
तरी तिन्ही भ्रान्ति । एकपण साच ॥२५॥

एकके ही तीन हुए—त्रिपुटी हुई । त्रिपुटीके जानेपर फिर एकका एक ही रहा । तब त्रिपुटी भ्रान्ति है और एकत्व ही सत्य है । दर्पणमें मुख देखनेके पूर्व और पश्चात् मुख ही मुखके स्थानमें रहता है, तब मुँह दर्पणमें देखते हुए—प्रतिबिम्ब भिन्न दिखायी देनेपर—भी मुँहके सिवा और वहाँ क्या है ? ॥ २६ ॥ उसी प्रकार जगत्की उत्पत्तिके पूर्व तथा लयके पश्चात् जब आत्मा ही रहता है तब जगत्के भासमान होनेके समयमें भी आत्माके

सिवा और क्या हो सकता है ? ॥ २८ ॥ वीणा, मृदङ्गादि वाद्योंके विना भी ध्वनि और काष्ठादि पदार्थोंके विना भी अग्नि जैसे सामान्यत्वेन है, वैसे ही दृश्यादि त्रिपुटीके विना आत्मा स्वसत्तासे रहता ही है ॥ २९ ॥ उस परमात्मसत्ताका कोई नाम नहीं रखा जा सकता, उसे किसी साधनसे जाना नहीं जा सकता, पर वह है इसमें कोई सन्देह नहीं ॥ ३० ॥ हे चाङ्गदेव ! उस वटेशसे मौन होकर ही वोलना चाहिये और कुछ न होकर ही सव कुछ होना चाहिये अर्थात् वड़े वनकर नहीं, सहज रीतिसे रहना चाहिये ॥ ३३ ॥ वोध यानी आत्मज्ञानका वह आश्रय है ॥ ३४ ॥ वह निरुपाधिक है, एकरस और केवल है । उस परमात्मस्वरूप वटेशके तुम पुत्र हो । कपूरकी डली जैसे कपूरका अंश है वैसे ही तुम उसके अंश हो । अव चाङ्गदेव ! मेरे-तुम्हारे वीच जो आत्मैक्य है उसका संवाद सुनो । तुम्हारा-मेरा संवाद वाएँ हाथका दाहिने हाथसे मिलना है ॥ ३८ ॥—

> **वोलेंचि वोल ऐकिजे । स्वादेंचि स्वाद चाखिजे ।**
> **कां उजिवडें देखिजे । उजिडा जेंवि ॥३९॥**
> **सोनिया वरकल सोनें जैसा । कां मुख मुखा हो आरिसा ।**
> **तुजमज संवाद तैसा । चक्रपाणि ॥४०॥**

शव्दसे शव्द सुने, स्वादसे स्वाद चखे, प्रकाशसे प्रकाश देखे, सोनेको सोनेसे ही कसे, मुख ही मुखका दर्पण हो, वैसा ही तुम्हारा-मेरा संवाद है ।

सखया ! तुझेनि उद्देशें। भेटावया जीव उल्हासे।
कीं सिद्धभेटी विसकुसें। ऐंसिया यिहें॥ ४२॥

प्यारे सखा ! तुमसे मिलनेके लिये जीमें बड़ा उल्लास है । पर आत्मरूपसे तुम-हम एक ही हैं इसलिये हमारा-तुम्हारा मिलना तो सहज सिद्ध ही है; व्यवहारतः यदि यह मिलना हो तो यह आशङ्का होती है कि कहीं उस मिलनमें कोई वाधा न पड़ जाय ! तुम्हारे दर्शन करनेकी इच्छा होती है तो मन आत्मस्वरूपकी ओर दौड़ता है इससे दर्शन-व्यवहार ही समाप्त हो जाता है । ॥ ४३ ॥ कुछ करना, बोलना, कल्पना अथवा न करना, न बोलना, न कल्पना—ये दोनों ही बातें तुम्हारे स्वरूपमें नहीं ठहरतीं । ॥ ४४ ॥ और तो और, तुम्हारे स्वरूपमें अपना मैंपन भी मुझसे नहीं रखते बनता ॥ ४५ ॥ नमक जो समुद्रकी थाह लेने चला तो अपने आपको खो बैठा ॥ ४६ ॥ वैसे ही आत्मस्वरूप जो तुम हो उसे देखने जाकर मैं ही नहीं रह गया ! 'मैं जब चला गया तब तू कहाँ रह गया ? ॥ ४७ ॥ चाङ्गदेव ! 'मैं तूँ बिन जो मेरा तेरा मिलन है' वह तो है ही ॥ ५२ ॥ यह विचार दृढ़ करो और 'अपने आपको बूझो' अर्थात् अपना निजस्वरूप देखो । चाङ्गदेव ! तुम्हें और दो ओवियोंमें तात्पर्य बतलाता हूँ उसे सुनो—

ज्ञानदेव म्हणे नामरूपें-। वीण तुझें साच आहे आपणपें।
तें स्वानन्दजीवनपें। सुखिया होईं ॥५९॥
चांगया पुढतपुढती। घरा आलिया ज्ञानसम्पत्ती।
वेद्यवेदकत्वही अतीतीं। पदीं वैसे ॥६०॥

ज्ञानेश्वर कहते हैं, 'हे चाङ्गदेव ! तुम्हारा सत्यस्वरूप नामरूपातीत है; उस स्वानन्दामृतका सेवन कर सुखी हो ! चाङ्गदेव ! पुनः-पुनः तुमसे कहता हूँ कि, आत्मज्ञानरूप ऐश्वर्य तुम्हारे घर आया है इसलिये वेद्य (जाननेका विषय) और वेदक (ज्ञाता) के उभय भावातीत जो निजपद है उसपर तुम विराजमान हो ।'

इतना बोध कराकर उपसंहारमें ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं कि, 'आत्मानुभवका यह रसीला भोजन मेरी निवृत्तिमाताने मुझे दिया है' ॥ ६१ ॥ इस पत्ररूप ग्रन्थकी फलश्रुति महाराज बतलाते हैं—

एवं ज्ञानदेव चक्रपाणी ऐसे । दोन्ही डोळस आरिसे ।
परस्पर पाहतां कैसें । मुकले भेदा ! ॥६२॥

वक्ता और श्रोता दोनों एक-दूसरेके लिये आँखोंवाले दर्पण हुए; एक-दूसरेको ऐसे देखने लगे कि दोनों मुक्त हो गये ।

यही फल ग्रन्थके पाठकोंको भी प्राप्त होगा—

तियेपरी जो इया । दर्पण करील ओविया ।
तो आत्मा एवढिया । मिळेल सुखा ॥६३॥

अर्थात् उसी प्रकार इन ओवियोंको जो अपना दर्पण बनावेगा वह भी आत्मवत् महान् सुखको प्राप्त होगा ।

इस प्रकार महाबोधसे भरा हुआ वह पैंसठ ओवियोंका पत्र चाङ्गदेवके शिष्योंने चाङ्गदेवके हाथमें दिया । आत्मबोध क्या होता है, इसकी कोई सुधि चाङ्गदेवको नहीं थी । इससे इस

पत्रको पढ़कर उन्हें कोई बोध नहीं हुआ । उन्होंने बड़े ठाट-बाटके साथ जाकर ज्ञानेश्वरसे मिलनेका निश्चय किया । कहते हैं कि चाङ्गदेवने अपने १४०० शिष्योंको साथ लिया था, स्वयं पीत वर्णके सिंहपर आरूढ हुए और हाथमें साँपका चाबुक लिये हुए थे । इस तैयारीके साथ आप ज्ञानेश्वरसे मिलने चले । सिंहके वदनपर वे काले धब्बे, उसके वे भयङ्कर जबड़े, उसकी वह लाल-लाल बाहर निकली हुई जीभ और शिकारोंकी हड्डियोंको कड़ाकड़ तोड़नेके लिये करकरानेवाले उसके वे मजबूत दाँत—यह उग्र दृश्य देखकर देखनेवालोंके रोंगटे खड़े हो जाते । ऐसे भीषण हिंस्र पशुश्रेष्ठकी पीठपर सहज लीलासे विराजमान चाङ्गदेवकी भव्य, भीषण मूर्ति, उनके मस्तकपर वह जटाकलाप, उनके आरक्त नेत्र, गलेमें पड़ी हुई रुद्राक्षमाला, एक हाथमें त्रिशूल और दूसरे हाथमें साँपका चाबुक—यह दृश्य देखकर कृतान्तको भी सहम जाना पड़ा होगा ! इस ठाटके साथ चाङ्गदेवकी सवारी आलन्दी-तक पहुँची । उनके शिष्योंने आगे बढ़कर ज्ञानेश्वरको खबर दी। उस समय ज्ञानेश्वर महाराज निवृत्तिनाथके साथ अपने घरकी * भींतपर बैठे सुखपूर्वक बातचीत कर रहे थे । उनके समीप ही सोपानदेव और मुक्ताबाई भी धूप खाती बैठी थीं । निवृत्तिनाथने कहा कि, चाङ्गदेव-जैसे बड़े महन्त मिलने आ रहे हैं तब अपने भी उनकी अगवानीके लिये एक मील आगे जाना चाहिये । तुरन्त ज्ञानेश्वर महाराजने उस जड भींतको चलनेकी आज्ञा दी ।

* इस घरकी भूमि आलन्दीमें ज्ञानेश्वरके देवालयसे १०-१५ घरोंकी दूरीपर है, वहाँ अब खंडहर है और बाहर एक तुलसीवृन्दावन है ।

'चल' कहते ही वह भींत सचेतन प्राणीके समान तेजीसे चलने लगी। सामनेसे सिंहपर सवार चाङ्गदेव आ रहे हैं और इधरसे हमारे वाल-सन्त भींतपर सवार अगवानीके लिये जा रहे हैं, यह दृश्य जिन आँखोंने देखा होगा वे आँखें आनन्दाश्चर्यसे तरल हो गयी होंगी! एक ओरसे १४०० वर्षका वृद्ध तपस्वी योगका सारा ऐश्वर्य ओढ़े, सिंहपर आरूढ़ हुए दौड़ा आ रहा है और दूसरी ओरसे १४ वर्षसे कुछ कम या कुछ अधिक वयस्वाले, पर अपने निज-बोधकी सहज स्थितिमें रँगे हुए चार बालब्रह्ममूर्ति जड भींतको चलाते हुए उसकी अगवानीके लिये जा रहे हैं, यह अपूर्व दृश्य देखकर आकाशस्थ देव-देवियोंको बड़ा ही कुतूहल हुआ होगा! योगविद्या और आत्मविद्याके परस्पर बलाबलका निर्णय फिर एक बार श्रीसिद्धेश्वरके सम्मुख आलन्दीके मैदानमें होनेको था। श्रेष्ठ कौन है—ज्ञानी-भक्त या योगी? यही प्रश्न संसारके सामने इस प्रकार हल होनेको था। चाङ्गदेव केवल योगी थे और योगसिद्धिके चमत्कार संसारको दिखाकर अहङ्कारी बने थे और ज्ञानदेव भी योगी थे तथा योगसिद्धिके चमत्कार उन्होंने भी संसारको दिखाये थे। दोनोंके बीच जो कुछ अन्तर था वह अहङ्कार था। चाङ्गदेव अहङ्कारसे फूले हुए थे और ज्ञानदेव देहादि क्षुद्र अहङ्कारकी कौन कहे, 'अहं ब्रह्मास्मि' के परम अहङ्कारको भी पी गये थे। चाङ्गदेव विद्वान्, तपस्वी और योगी थे पर जिस स्वरूपानुभवके साथ अहङ्कारादि सब विकार नष्ट हो जाते हैं, वह स्वरूपानुभव—आत्मानुभव न होनेसे अहङ्कारी हो गये थे। ज्ञानेश्वरने 'चाङ्गदेव पैंसठी' वाला पत्र चाङ्गदेवके समीप भेजा, पर अहङ्कारसे वह

उससे कुछ बोध नहीं ग्रहण कर सके। सद्वैद्यका यह काम है कि रोगीका रोग दूर करे और तब उसे पौष्टिक अन्न देकर बलवान् बनावे। तदनुसार चाङ्गदेवका अहङ्कार पहले दूर करके तत्पश्चात् उन्हें आत्मबोध कराना चाङ्गदेवके गुरुका काम था। अहङ्कार जबतक नष्ट नहीं होता तबतक आत्मबोध गले नहीं उतर सकता और अहङ्कारको मारनेवाला गुरु ही होता है। और गुरु भी वही होता है जो शिष्यमें जो-जो गुण हों उन गुणोंमें तो गुरु हो ही, साथ ही स्वात्मदानसमर्थ भी हो। ऐसे समर्थ गुरु चाङ्गदेवके सौभाग्यसे उनके पास चले आ रहे थे। चाङ्गदेव केवल योगीके सामने झुक नहीं सकते थे, न केवल आत्मज्ञानसमर्थ गुरुकी शरणमें ही वह जाते। उन्हें ऐसे गुरुकी आवश्यकता थी जो उन्हींकी योगविद्यामें उन्हें जीते और फिर आत्मबोध करानेमें भी परम समर्थ हो। परमेश्वरने ऐसे ही गुरुको उनके पास भेजा। सिंहकी पीठपर सवार हाथमें साँपका चाबुक लिये चाङ्गदेव बड़ी शानके साथ ज्ञानदेवसे मिलने आये, पर जब उन्होंने देखा कि जड भींत सामनेसे चली आ रही है और ज्ञानदेव अपने भाई-बहिनके साथ उसपर बैठे आनन्दसे बातें कर रहे हैं तब तो उन्हें बड़ा आश्चर्य हुआ और फिर धीरे-धीरे उनका अहङ्कार गलने लगा। सिंह और साँप-जैसे प्राणियोंपर वह हुकूमत कर सकते थे, पर जडपर हुक्म चलानेकी करामात उनमें नहीं थी। सिंह और साँप सचेतन प्राणी हैं; उनमें मन, बुद्धि और इच्छाशक्ति है। इसलिये अपनी इच्छाशक्तिको

अत्यन्त प्रबल करके सिंह-जैसे क्रूर पशुको भी अपने वशमें कर लेना योगीके लिये असम्भव नहीं है, परन्तु निर्जीव जड मिट्टी और पत्थरकी बनी भींतको चलाना योगकी भी शक्तिके परे है। ऐसी शक्ति चाङ्गदेवमें नहीं थी और उन्होंने अपनी आँखों यह देखा कि वह शक्ति ज्ञानेश्वरमें है। इससे उनके अहङ्कारकी कमर टूट गयी। अहङ्कार हताश और गलितवीर्य हो गया। अब चाङ्गदेवके शरीरमें अपनी गुजर नहीं हो सकती यह जानकर उसने चाङ्गदेवके हृदयसे अपना डेरा-डण्डा उठाया। चाङ्गदेवका हृदय कोमल हुआ। रज-तमसे दबा हुआ सत्त्वगुण अब जोरके साथ ऊपर उठा। रज-तम दूर चले गये। सत्त्वगुणके सहज धर्म उनके तन-मन-प्राणमें प्रकट हुए। नेत्र उनके निर्मल हो गये। नेत्रोंसे प्रेमाश्रुधारा बहने लगी। शरीर रोमाञ्चित हुआ। कण्ठ रूँध गया। ऐसा मालूम हुआ जैसे विश्व-ब्रह्माण्डके इस पाञ्च-भौतिक फैलावको फैलानेवाले स्वयं परमात्मा ही सामनेसे आ रहे हैं और जब ज्ञानेश्वर महाराज बहुत समीप आ गये तब चाङ्गदेव-की देह जिसमेंसे देहभाव निकल चुका था, सिंहकी पीठपरसे नीचे खिसकी और बिल्कुल समीप आयी हुई भींतके पाँवों आ गिरी! ज्ञानेश्वर महाराज साक्षात् विष्णुभगवान्के अवतार थे। उनके दर्शन पाकर किसी सच्चे भक्तका देहभाव बना रह ही नहीं सकता था। चाङ्गदेवके अन्तःकरणका रूपान्तर हो गया। अब चाङ्गदेव पहलेके नहीं रहे। चाङ्गदेव जो योगी थे, अब भक्त हो गये। ज्ञानेश्वर महाराज भींतपरसे नीचे उतर आये। उन्होंने

चाङ्गदेवकी देह और आँखोंपर अपना हाथ फेरा। श्रीगुरुके पद्महस्तका स्पर्श होते ही चाङ्गदेवके हृदयाकाशमें ज्ञानसूर्यका उदय हो गया। चाङ्गदेवके हृदयमें ज्ञानदेव आकर बैठ गये।

धुलियाकी 'सत्कार्योत्तेजक सभा' समर्थ श्रीरामदास स्वामी और उनके सम्प्रदायके सन्तों और कवियोंके ग्रन्थ प्रकाशित करनेका सत्कार्य कई वर्षसे बराबर कर रही है। इस सभाने 'दासविश्रामधाम' नामक समर्थ-चरित्र-विषयक जो ग्रन्थ प्रकाशित करना आरम्भ किया है उसके सत्तरवें अध्यायमें ज्ञानेश्वर महाराजका चरित्र आया है। इसीमें चाङ्गदेव-ज्ञानदेव-संवादका एक बहुत ही सुन्दर पद मेरे मित्र श्रीशङ्कररावदेवने मुझे दिखाया। यह पद (यहाँ अनुवाद) नीचे देते हैं—

(मूल मराठी पद्यमें है। यहाँ उसका संवादरूपमें गद्यानुवाद दिया जाता है।)

चाङ्ग०—छोटे बच्चे! जल्दी आ। यह महत्त्व तुझे कहाँसे प्राप्त हुआ? तू तो जरा-सा बच्चा ही दीख पड़ता है।

ज्ञान०—ब्रह्म क्या छोटा-बड़ा भी होता है?

चाङ्ग०—ब्रह्म क्या है, तू जानता है?

ज्ञान०—घट-घटमें तो वही भरा हुआ है। उसमें भेद कहाँ? यही तो चारों वेद कहते हैं।

चाङ्ग०—तेरा भेदभाव कैसे नष्ट हो गया?

ज्ञान०—सद्गुरुने बोध कराया।

चाङ्ग०—बोध क्या होता है, मेरे सखा ?

ज्ञान०—आत्मस्वरूपमें देख ले, रे बावरे !

चाङ्ग०— जरा-सा बच्चा और इतना बुद्धिमान् ?

ज्ञान०—इतना बड़ा होकर इतनी छोटी बात ?

चाङ्ग०—क्या मेरा मन छोटा हो गया है ?

ज्ञान०—अज्ञानसे गर्व हो गया है !

चाङ्ग०—यह गर्व कैसे निकलेगा ?

ज्ञान०—सद्गुरुका दासत्व कर ।

चाङ्ग०—सद्गुरुकी कृपा क्या तुझे ही प्राप्त हुई ?

ज्ञान०—भूतमात्रमें भरी हुई है और फिर भी अशेष है ।

चाङ्ग०—तब औरोंको (क्यों नहीं प्राप्त होती ? उन्हें)
यमराज कैसे घसीट ले जाते हैं ?

ज्ञान०—वे अविश्वासमें डूब रहे हैं, इसलिये ।

चाङ्ग०—क्या विश्वास ही सार वस्तु है ?

ज्ञान०—पुराणोंका यही निश्चय है ।

चाङ्ग०—यदि मैं सद्गुरुकी शरणमें न जाऊँ ?

ज्ञान०—तो चौरासीके चक्करमें पड़ोगे !

चाङ्ग०—वृद्ध होनेपर भक्ति करूँ तो ?

ज्ञान०—पर आयु क्या तेरी आज्ञा मानेगी ?

चाङ्ग०—अच्छा, तो भजन किस कालमें करना चाहिये ?

ज्ञान०—सोऽहं मन्त्रमें कोई बन्धन नहीं है ।

चाङ्ग०—जप किस दिन किस मुहूर्तमें करना चाहिये ?

*ज्ञान*०—दिन और रातका कोई झगड़ा नहीं है।

*चाङ्ग*०—इस तरह यह तो बताओ, कितने लोग तरे, निरे बचे ?

*ज्ञान*०—उनकी कोई गणना नहीं, रे निपट गँवार ! तू तो जवाबपर जवाब दिये जाता है; जो कोई न कहे वही कहे जाता है ! चुप रह, नहीं तो डण्डोंसे खबर लूँगा, सारा अज्ञान तेरा उधेड़ डालूँगा। मेरा-तेरा वाद बहुत हुआ। पाँचों बच्चोंने बड़ा कोलाहल मचाया !

*चाङ्ग*०—पाँच बच्चे किसके ?

*ज्ञान*०—आत्माराम सखाके।

*चाङ्ग*०—क्या यह सारा खेल उसीका है ?

*ज्ञान*०—हाँ, खेल खेलकर भी वह अलग है।

*चाङ्ग*०—यह खेल तूने कैसे जाना ?

*ज्ञान*०—निवृत्तिदेवका प्रसाद फला !

चाङ्गदेवका गर्वज्वर उतरा और वह ज्ञानेश्वर महाराजका सत्संग करने लगे। चारों भाई-बहिन उन्हें बहुत प्यार करने लगे। सत्संगका ऐसा परिणाम हुआ कि उनका मन अन्तर्मुख हो गया। हरिपाठमें कहा है—

'योग-याग-विधिसे किसीको सिद्धि नहीं मिलती। ये व्यर्थकी उपाधियाँ और दम्भ-धर्म हैं। भावके बिना देव-दर्शन नहीं होते, यह निश्चय है। गुरु बिना अनुभवकी बात कैसे मालूम

हो ? तपके बिना भगवान्, दान बिना लाभ, एकान्त-प्रेमके बिना हित कौन बता सकता है ? ज्ञानदेव कहते हैं—सब दृष्टान्त यही बतलाते हैं कि सन्तोंका संग ही तरण-तारण है।'

ज्ञानेश्वर महाराजका यह उपदेश उन्हें पूरे तौरपर जँच गया और वह अन्य सब उपाधियोंको छोड़कर उन्हींके चरणोंमें रहते हुए उन्हींकी पूर्ण कृपाकी प्रतीक्षा करने लगे। ज्ञानेश्वरादि भाई-बहिन पूर्ण ब्रह्मनिष्ठ होते हुए भी सगुणोपासक थे। अखण्ड हरि-भजन, नाम-स्मरण और कथा-कीर्तनमें अपना समय लगाकर जगत्को आत्मोद्धारका मार्ग दिखाते थे। चाङ्गदेवको यह मार्ग जँचा और वह भी नाम-स्मरणमें रँग गये। उनके शिष्य कुछ कालतक उनके साथ थे। उन्हें इस बातका बड़ा आश्चर्य था कि हमारे गुरु गुरुत्व छोड़कर ज्ञानेश्वरके शिष्य हो गये। चाङ्गदेवका मन भी शिष्योंकी उपाधिसे अब उचाट हो चला था। उनके मनकी यह अवस्था जानकर ज्ञानेश्वर महाराजने एक ऐसा उपाय ढूँढ़ निकाला कि उससे सब शिष्य वहाँसे भागे। चाङ्गदेव प्रायः ही ज्ञानेश्वर महाराजसे यह प्रार्थना किया करते थे, कि 'पैंसठी' का अर्थ मुझे समझा दीजिये। पर महाराज टालते जाते थे, यह सोचकर कि अभी समय नहीं आया है। एक बार चाङ्गदेव बहुत ही पीछे पड़ गये तब महाराजने कहा, 'पैंसठीका अर्थ तो मैं तुम्हें समझा दूँगा पर उसके लिये पहले एक जीव बलि देना होगा।' चाङ्गदेवने अपने शिष्योंसे पूछा, 'तुमलोगोंमेंसे है कोई तैयार, जो मेरेलिये अपना बलि दे दे ? यदि कोई हो तो वह सवेरे मेरे पास आवे।'

यह सुनते ही शिष्योंके प्राण सूख गये। गुरुके लिये अपने प्राण-दान करनेवाला शिष्य उन भोजनभट्टोंमें कहाँसे मिलता ? सन्तोंके साथ रहनेवालोंको कवीर साहव बतलाते हैं कि, एक साथ तीन लाभ होते हैं—(१) लोग पैर पूजते हैं, (२) उत्तम भोजन मिलता है और अन्तमें (३) वैकुण्ठलोककी प्राप्ति होती है—

संतमिलनके तीन गुन हर कोइ लागे पाँव।
खानेको मिष्टान्न मिले आखिर वैकुंठहि जाव॥

वैकुण्ठलोक तो खैर कोई विरला ही पाता है, पर सन्तोंके साथ रहनेसे मिष्टान्न तो सभी चेलोंको मिलता है। चाङ्गदेवके पास ऐसे भोजनके साथी शिष्योंका जमावड़ा था। पर चाङ्गदेवकी वह वात सुनकर एक-एक करके सव शिष्य वहाँसे नौ दो ग्यारह हुए। एक भी शिष्य पास न रहा। ज्ञानेश्वर महाराजने ऐसा उपाय किया कि चौदह सौ शिष्योंमेंसे एक भी रहने न पाया और इस तरह चाङ्गदेवके सव पाश कट गये। काम पड़ेपर एक भी शिष्य काम न आया यह देख चाङ्गदेवने ज्ञानदेवसे कहा—

तनुमन आणि सिद्धीचें धन। यांसहित आलों शरण।
असत्य असेल हें वचन। तरी अन्तःकरण जाणतसां॥

—भक्तलीलामृत अ० ५। १५०

'तन, मन और सिद्धियोंके सम्पूर्ण धनके साथ मैं आपकी शरणमें आया हूँ। यह वचन असत्य हो तो आप अन्तःकरणको जानते हैं।'

चाङ्गदेवने कहा कि और किसीकी क्या जरूरत, 'मैं अपना जीव बलिदान करता हूँ।' चाङ्गदेवके मुखसे यह वचन सुनते ही ज्ञानेश्वर महाराजने कहा, 'मैंने भी कोई दूसरा बलि नहीं माँगा था। अपने जीवका बलिदान करो तभी 'पैंसठी' का अर्थ तुम्हारी समझमें आवेगा। यही मेरा अभिप्राय था। जीव-भाव जो छोड़ देगा वही पैंसठीका अर्थ जानेगा और अपने स्वरूप-का ज्ञान लाभ करेगा। अब शीघ्र ही मुक्ताबाई तुम्हें पैंसठीका अर्थ समझावेंगी, क्योंकि तुम्हारे गुरु होनेका मान उसीका है।'

इसके पश्चात् एक दिन मुक्ताबाई अपनी सहज स्थितिमें अर्थात् नग्न स्थितिमें स्नान कर रही थीं जब अकस्मात् वहाँ चाङ्गदेव पहुँचे। देखकर लज्जित-से हुए और सिर नीचा कर सिकुड़े हुए वहाँसे जाने लगे। यह देखते ही मुक्ताबाईने कहा, 'मर निगोड़े!' ये शब्द सुनकर चाङ्गदेव चले गये। मुक्ताबाईका जब स्नान हो चुका तब चाङ्गदेवने उनसे पूछा, 'मेरे बर्तावमें क्या कोई भूल हुई जो आपने मुझसे 'मर निगोड़े' कहा? ऐसा आपने क्यों कहा?' इसपर मुक्ताबाईने उत्तर दिया—

जरी गुरुकृपा असती तुजवरी। तरी विकार न येतां अंतरीं।
भिंतीस कोनाडे तैसियापरी। मानूनि पुढें येतासी!॥२०९॥
जनीं वनीं हिंडतां गाय। वस्त्रें नेसत असती काय?।
त्या पशू ऐशीच मी पाहे। तुज कां नये प्रत्यया!॥२१०॥

—भक्तविजय अ० २२

'यदि तुझपर गुरुकृपा होती तो ऐसा विकार तेरे अन्दर न उठता। दीवारमें जैसे आले होते हैं वैसा ही जानकर तू सामने आता। जनमें, वनमें गौएँ घूमती हुई क्या कपड़े पहने रहती हैं? उन पशु-जैसी ही मुझे देखना तुझे क्यों नहीं अनुभूत होता?'

यह उत्तर सुनकर चाङ्गदेव मन-ही-मन बहुत लज्जित हुए और उनकी बुद्धिपर ब्रह्माण्डका आपोशन किये हुई मुक्ताबाईकी वास्तविक योग्यताका प्रकाश पड़ा और अपनी वृत्तिके इस संकोच-पर उन्हें बहुत खेद हुआ, उन्होंने यह जाना कि ये चारों भाई-बहिन पूर्णत्वको प्राप्त हैं, मैं बहुत ही नीचेकी पैडीपर खड़ा हूँ। अब गुरु-कृपाका महत्त्व भी उनकी समझमें आ गया। ज्ञानेश्वर महाराजकी आज्ञासे मुक्ताबाईने चाङ्गदेवको महावाक्य-का उपदेश करके कृतार्थ किया, और 'पैंसठी' का अर्थ समझाकर उन्हें स्वानन्द साम्राज्यपदपर आरूढ़ किया। चाङ्गदेव जीवन्मुक्त अवस्थाका आनन्द भोगने लगे, मुक्ताबाईने चाङ्गदेवको ब्रह्मज्ञानो-पदेश करके अद्वैत-भक्ति-सुखका अधिकारी बनाया, इस बातके अनेक उल्लेख मुक्ताबाई और चाङ्गदेवके अभङ्गोंमें मिलते हैं। जिस वट-वृक्षके नीचे चाङ्गदेवको बोध प्राप्त हुआ उस वट-वृक्षको 'विश्रान्तिवट' कहते हैं। यह वृक्ष नगरपरिक्रमाके रास्तेपर है। चाङ्गदेव-जैसे जरठ योगीको मुक्ताबाईने आत्मबोध कराया जो उस समय अवस्थाके विचारसे यौवनमें पैर रख रही थीं! ऐसी वयस्में उनके ऐसे विषय-वैराग्य, समचित्तत्व, स्थितप्रज्ञता और अखण्ड ब्रह्मस्थितिका ध्यान करनेसे '*न प्रभातरलं ज्योतिरुदेति*

वसुधातलात्' इस कालिदासोक्तिका स्मरण होकर यही निश्चय होता है कि ये गुण दैवी विभूतियोंमें ही होते हैं। मुक्ताबाईके अभङ्गोंमें जहाँ-तहाँ चाङ्गदेवको 'चाङ्गयासुत' (बेटा चाङ्गा) कहा है। मुक्ताबाईने चाङ्गदेवको बोध कराया इसके भी चिह्न इन अभङ्गोंमें मिलते हैं, उन्होंने स्वयं एक स्थानमें कहा भी है कि, 'मुक्ताईके करोंसे नेत्रोंमें अञ्जन लगा लिया। चाङ्गियाने निधानका उपदेश पा लिया।' चाङ्गयासुतको पालनेमें सुलाकर मुक्ताई गाना गाती हैं—

(१)

निर्गुणकी डारपर पालना डाला। वहाँ मुक्ताईका लाल लेट गया। सोवो, सोवो, मेरे लाल, अब हठ न करो, लो मैं अनाहत ताली बजाती हूँ। वहाँ न निद्रा है, न जागृति, उन्मनीके भोगमें लक्ष्यको भेदकर निश्चिन्त सोना है। पालना बुनाकर पवनकी डोरसे मनको उसमें बाँधकर निःसंशय होकर पालो। इक्कीस सहस्र छः सौ बार नित्य जो (अजपा जप) चल रहा है उसे भी अपनी दृष्टिमें स्थिर करो। यहाँ न निद्रा है, न जागृति, यहाँ क्या सोना है? मुक्ताबाई कहती हैं, चाङ्गिया! अब पार उतरना है।

(२)

वह गुण भी नहीं, निर्गुण भी नहीं; वह शब्दातीत है। वहाँ, मेरे लाल, तुम सोवो। यह पालना डाला है हृदय कमलमें और पास मुक्ताई बैठी लोरी गा रही है। शान्ति, क्षमा, विदेह

इत्यादि कहकर उसका वर्णन करते हैं, उसका नाम रखते हैं, पर वह है अद्वैत। वटेश्वरसुत चाङ्गा अवधूत है, मुक्ताई उसे ज्ञान-दृष्टिसे शान्ति देती है।

(३)

भावपूर्ण भक्ति करके वैराग्य जोड़ोगे तो ब्रह्म-सुख पाओगे। ज्ञानतत्त्वमें बैठकर यह विचार करो कि निर्गुणमें निरामय आकार है। मेरे चाङ्गिया! ज्ञानवटेश्वरको पकड़ लो, मुक्ताई हृदयसे यह तुम्हें बोध करती है।

'फिर चलो, फिर चलो रे जीव! नहीं तो गोते खाओगे। मायानदीकी इस बाढमें बह जाओगे। भवनदीका पानी, प्यारे बड़े वेगसे खींचता है और बड़े-बड़े पैराकोंको उठाकर नीचे गिराता है। संसार क्षणभङ्गुर है, इसका कोई भरोसा नहीं। यह दुर्लभ नरतनु जब छूट जायगी तब पीछे पछताओगे। कहे मुक्ताबाई, मेरे लाल चाङ्गा, भीतरकी बात तुम्हें बताऊँ—सद्गुरुके चरण गहो, वे ही तुम्हें पार उतारेंगे।

समाधिप्रकरण

दिगम्बर ईश्वरकी वे विभूतियाँ चली गयीं, संसारमें अब उनकी कीर्तिभर रह गयी। इन कानोंसे वैराग्यकी जो बातें सुनीं, उन्हें सुनानेवाला अब कोई नहीं मिलेगा। लोग ज्ञान बतावेंगे, लक्षण भी बतला देंगे; पर निवृत्तिका साधन था वह नहीं मिलेगा। ऐसा कहनेवाले तो हैं कि परब्रह्म इन आँखों दिखा देंगे, पर ज्ञानदेवके पास जो युक्ति थी वह किसीके पास न मिलेगी। अर्थ समझावेंगे, परमार्थ बतलावेंगे; पर सोपानका एकान्त कहीं न मिलेगा। चङ्गे निष्काम योगी चाङ्गदेव भी केशवस्वरूपमें रँग गये। क्या कहूँ? कुछ कहना ठीक नहीं! मुक्ताबाई! तेरी बात तेरे ही साथ चली गयी!

—श्रीनामदेवराय

श्रीज्ञानेश्वर महाराजने आलन्दीमें शाके १२१८ (संवत् १३५३) दुर्मुखनाम संवत्सर मार्गशीर्ष कृष्ण १३ गुरुवारके दिन मध्याह्नमें समाधि ली और इसके पश्चात् एक-दो वर्षके अन्दर ही सोपानदेव, चाङ्गदेव, मुक्ताबाई और निवृत्तिनाथ भी समाधिस्थ हुए। श्रीज्ञानेश्वर महाराज परम योगी थे और जगदुद्धारका जो महत्कार्य उन्होंने २२ वर्षकी आयुमर्यादाके अन्दर किया वही

आगे भी अनेक शताब्दियोंतक उन्हींकी स्फूर्तिसे होता रहे, यही ईश्वरीय संकेत रहा होगा; इसी कारण उन्होंने जो समाधि ली वह जीते-जी ही ली। उनकी समाधिका अत्यन्त रसभरित वर्णन नामदेवरायने समाधिके अभंगोंमें किया है। इसके अतिरिक्त उद्धव-चिद्‌घनकृत भक्तकथामृतसार, महीपतिकृत सन्तलीलामृत, नरहरिभानुकृत भक्तकथामृत, निरञ्जनमाधवकृत ज्ञानेश्वरविजय आदि अनेक ग्रन्थोंमें समाधिका वर्णन है। पर नामदेवराय सदा ज्ञानेश्वर महाराजके सत्संगमें रहनेवाले प्रेमी भक्त थे और उन्होंने जो इस दिव्य प्रसंगका मनोहर वर्णन किया है वह आँखों देख-कर किया है। इसलिये हमने यहाँ इस प्रसंगका वर्णन करनेमें उन्हींके अभंगोंका आश्रय ग्रहण किया है। ज्ञानेश्वर महाराजके समकालीन विसोबा खेचर, नामदेव, जनाबाई, जनमित्र, चोखोबा आदि सन्तोंने ज्ञानेश्वर महाराजकी समाधिका समय 'शाके १२१८ दुर्मुखनाम संवत्सर मार्गशीर्ष कृष्ण १३ गुरुवार मध्याह्न' ही दिया है और ज्ञानेश्वरमण्डलके ये सन्त उस अवसरपर स्वयं उपस्थित थे, इसलिये इस समयके विषयमें कोई सन्देह नहीं रह जाता। इसके पश्चात्कालीन एकनाथ, उद्धवचिद्‌घन आदि सन्तों और कवियोंने भी यही समय माना है। इस प्रकार ज्ञानेश्वर महाराजकी समाधिका ठीक समय मिला है, यह हमलोगोंका महद्‌भाग्य ही समझना चाहिये। स्वयं ज्ञानेश्वर महाराजके स्वात्मपत्रमें भी यही समय दिया हुआ है।*

---

*इस दिन अंगरेजी तारीख २९ अक्तूबर सन् १२९६ ई० थी।

शाके ११९७ (संवत् १३३२) भाद्र कृष्ण ८ को ज्ञानेश्वर महाराजका जन्म हुआ और शाके १२१८ मार्गशीर्ष कृष्ण १३ को वह समाधिस्थ हुए, अर्थात् समाधिकालमें जन्मसे उनके २१ वर्ष ३ मास ५ दिन पूरे हुए थे। ज्ञानेश्वरी-जैसा अनुपम ग्रन्थ उन्होंने अपनी वयस्के १५वें वर्ष लिखा! ज्ञानेश्वरी, अमृतानुभव, योगवासिष्ठटीका, पासष्टी (पैंसठी) और हरिपाठादिके सैकड़ों अभंग उन्होंने रचे और यह सारी रचना उन्होंने २१ वर्ष वयस्के भीतर की। चाङ्गदेव-जैसे तपोबलसे १४०० वर्ष जीये हुए योगनिष्ठको उन्होंने अपने चरणोंमें शरणापन्न किया, भैंसेके मुँहसे वेद-मन्त्र कहलवाये, जड भींतको चलाया। ऐसे-ऐसे अलौकिक चमत्कार जिन्होंने सहज लीलासे दिखा दिये, जो समस्त समकालीन सन्तोंके लिये परम वन्दनीय हुए, जिनकी महिमा एकनाथ, तुकारामादिसे लेकर सभी सत्पुरुष गाते चले आ रहे हैं, ६०० वर्षसे जिनकी कीर्ति इस प्रकार गायी जा रही है और जो अखिल सन्त-समाजके शिरोमणिरूपसे शोभायमान हैं उन ज्ञानेश्वर महाराजको जो श्रीविष्णुका अवतार कहा गया है वह यथार्थ ही है। ज्ञानेश्वर महाराजके अवतार-चरित्रका विचार करते हुए मोरोपन्तने उन्हें श्रीविष्णुका 'ग्यारहवाँ अवतार' कहा है। नामदेव, उनके घरके लोग, जनाबाई, विसोबा खेचर, सांवता माली, गोरा और राका कुम्हार, जगमित्र, चोखा-मेला, बंका महार, चाङ्गदेव, नरहरि सोनार और स्वयं ज्ञानेश्वरके भाई-बहिनने ज्ञानेश्वरके सम्बन्धमें प्रेमपूर्ण, आदरयुक्त और हृद-यान्तस्तलसे जो उद्गार प्रकट किये हैं उन्हें देखते हुए यही मालूम

होता है कि ये सब महात्मा ज्ञानेश्वरको प्रत्यक्ष अपना आत्मा ही मानते थे; इन सबके मानो पुञ्जीभूत प्रेमकी वह प्रतिमा थे; इनके उत्साह, आनन्द और प्रीतिके मानो निधान थे; ये सब भक्त, और तो क्या, यही समझते थे कि हम सब लोग अवयव हैं और ज्ञानेश्वर हमारे अवयवी आत्मा हैं। ज्ञानेश्वरके साथ उनका भाव और व्यवहार ऐसा ही निरतिशय प्रेमका था। इनमेंसे प्रत्येक स्वयं पूर्ण था, पूर्ण भक्त था, प्रत्येकको प्राप्तव्य प्राप्त हो चुका था, प्रत्येक 'परागति' को पहुँच चुका था। ऐसे पूर्ण पुरुषोंके भी पूर्ण प्रेमके पूर्ण निधान हमारे ज्ञानेश्वर महाराज थे। यदि हम यह कहें कि ज्ञानेश्वर महाराज सूर्य थे तो इन अन्य सन्तोंको नक्षत्रोंकी उपमा देनेका दोष होगा, इसलिये हम यह कहते हैं कि ये सब सन्त सूर्य थे और ज्ञानेश्वर थे उनके अन्दरके प्रकाश! वह सूर्योंके सूर्य थे। वह उनके आनन्दके आनन्द, चैतन्यके चैतन्य और प्रेमके प्रेम थे। ज्ञानेश्वरकी तेजोमयी मूर्ति उनकी सब इन्द्रियोंको आनन्द प्रदानकर उन्हें जहाँके तहाँ स्तम्भित कर डालती थी। ज्ञानेश्वरके वचनमौक्तिक उनकी इन्द्रियोंके अलंकार होते थे। स्त्री-पुरुष-भेद भूलकर वे उन्हें 'ज्ञानाबाईमाई' कहकर आलिंगन करते थे।

विवेकसागर सखा माझा ज्ञानेश्वर॥
मरोनियां जावें या माझ्या पोटा यावें॥ २॥
ऐसें करी गा माझ्या भावा
सख्या माझ्या ज्ञानदेवा॥

जाइन ओवाळुनि । म्हणे जन्मों जन्मीं जनी ॥

[हिन्दी-अनुवाद]

विवेकसागर सखा मेरे ज्ञानेश्वर ।
मैं भले मर जाऊँ कोखमें तुमको पाऊँ ॥
ऐसा करो हे मेरे भाई ।
सगे मेरे ज्ञानसांई ॥
जाऊँ वलि मैं जना ।
जनम जनम सुखसदना ॥

इस प्रकारके प्रेमके गीत ज्ञानेश्वरके प्रेमसे भरी मञ्जुल ध्वनि-से गाती हुई नामदेवकी जना (जनाबाई) आनन्दसे नाचा करती थी ।

श्रीज्ञानराजें केला उपकार ।
मार्ग हा निर्धार दाखवीला ॥

इस प्रकारके उद्गार सेना नाईके मुखसे अनायास ही निकल पड़ते और उन्हें सुनकर भाविकोंके अन्तःकरण कृतज्ञ प्रेमसे नृत्य करने लगते ।

सखा माझा ज्ञानेश्वर ।
सन्त जनांचें माहेर ॥

यह कहते हुए ब्रह्मरसका अखण्ड पान करनेवाले परम भक्त भी ज्ञानेश्वरके दिव्य गुणोंके प्रेमपर मुग्ध हो जाते थे । ज्ञानेश्वरके साथ रहनेवाले भक्तोंका उनपर ऐसा अनुपम प्रेम था । ज्ञानेश्वरके दर्शनोंके लिये हजारों मनुष्य एकत्र हुआ करते थे और उन्हें सन्तोंका यह विलक्षण प्रेम देखकर अपने नेत्र कृतार्थ होनेका

अनुभव होता था। ज्ञानेश्वरके चरणोंपर अपने मस्तक रखकर सहस्रों जीव कृतार्थ हो गये। उनके दिव्य दर्शन जिन्हें प्राप्त हुए उनके सब पाप भस्म हो गये। उनके मुखसे निकलनेवाली सरस्वतीके प्रवाहमें जिन्होंने अवगाहन किया उनका पाप-ताप-दैन्य नष्ट हो गया। ज्ञानदेवने समाधिवाले अभंगोंमें कहा है—

जो जो दिवस उगवला तो तो ज्ञानदेवें सफल केला।

(जो-जो दिन उदय हुआ उसे ज्ञानदेवने सफल किया) उनके अवतारके सब क्षण जगदुद्धार-कार्यमें खर्च हुए। पीछे लोगोंकी उपाधि जब बहुत बढ़ी तब उन्होंने जीते-जी समाधि लेनेका विचार किया।

शाके १२१८ की कार्तिक शुक्ला दशमीको नित्यकी तरह स्थान-स्थानसे आये हुए सन्तमण्डल पण्ढरपुरमें जमा हुए। आषाढ़ी और कार्तिकी एकादशीकी यात्रा पुण्डलीकके समयसे ही चली आयी थी। पण्ढरीके चौरासीके शिलालेखसे यह प्रमाणित होता है कि ज्ञानदेव-नामदेवके पूर्वसे ही यह यात्रा हुआ करती थी। अस्तु! नामदेवराय और उनके साथी पण्ढरीमें ही थे। चोखामेला मङ्गलवेढासे आये। विसोबा खेचर औंढियानागनाथसे आये। इसी प्रकार गोरा कुम्हार, जगमित्र, सेना नाई आदि सन्त अपने-अपने स्थानोंसे जुलूसके साथ नामघोष करते हुए पण्ढरपुर पहुँचे। आलन्दीसे निवृत्तिनाथ, ज्ञानेश्वर, सोपानदेव, मुक्ताबाई और चाङ्गदेव आ गये। ज्ञानेश्वर महाराजने यथाविधि चन्द्रभागामें स्नान किया, पुण्डलीकके दर्शन किये और

श्रीविट्ठलरुक्मिणीके दर्शन करने मन्दिरमें गये। सब सन्त उन्हें मानते थे और उनके दर्शनोंके लिये सहस्रों मनुष्योंके झुण्ड उनके पीछे दौड़ा करते थे। देहकी उपाधिसे वह कभीके मुक्त हो चुके थे। चारों मुक्तियाँ उनके चरणोंमें लोटा करती थीं। पर उनकी लौकिक उपाधि बढ़ी—उनसे कोई पुत्र माँगता, कोई द्रव्य माँगता, कोई स्त्री माँगता इत्यादि। इस उपाधिके कारण उन्हें अब समाधि लेना ही अच्छा मालूम हुआ और उन्होंने अपनी यह इच्छा सब सन्तोंके सामने भगवान्को निवेदित की। ज्ञानेश्वर, नामदेवादि परम भक्तोंको सम्मुख देखकर भगवान्को भी प्रत्यक्ष प्रकट होनेकी इच्छा हुई। भगवान् हमारे-आपके लिये अप्रकट हैं, पर *'ज्ञानी तु आत्मैव मे मतम्'* इस भगवान्के वचनके अनुसार तद्रूप जो ज्ञानी सन्त हैं उनसे वह अप्रकट कैसे रह सकते हैं? कोई भी अपने लिये आप अप्रकट नहीं रह सकता। भगवान् और भक्त एक ही होते हैं, प्रेम-सुखके लिये दो बनते हैं। एकत्व-में भोग नहीं है, इसलिये भक्तिका आनन्द भोगनेके लिये भगवान् ही भक्त बनते हैं। सुवर्ण और अलङ्कार मिलकर जैसे एक सुवर्ण ही है, चन्द्र और चाँदनी जैसे एक चन्द्र ही है, कपूर और परिमल जैसे एक कपूर ही है, अथवा मिठास और चीनी जैसे एक चीनी ही है, उसी प्रकार भगवान् और भक्त एक भगवान् ही हैं। हम, आप एक दूसरेको देखते हैं, एक दूसरेसे बात करते हैं, एक दूसरेकी सङ्गतिका सुख लाभ करते हैं, भगवान् और भक्तका ऐसा ही परस्पर व्यवहार है। नामदेवादि भक्तोंके सामने ज्ञानेश्वर-ने समाधि लेनेका अपना विचार जब पाण्डुरङ्ग भगवान्से निवेदन

किया तब भगवान् भी प्रकट हुए और बोले, 'हे ज्ञानके सागर मेरे प्यारे! तुम प्रत्यक्ष ज्ञानकी मूर्ति हो। तुमने जीवोंके लिये पद-पदान्तरोंसे स्वानुभव सुलभ कर दिया है और इसीसे तुम मेरी पूर्ण कृपाके पात्र हुए हो। हे ज्ञानचक्रवर्ती! तुम्हारी इच्छा पूर्ण होगी।' यह कहकर भगवान्‌ने उन्हें गले लगाया। नामदेव सामने ही थे। ज्ञानेश्वर महाराज 'ज्ञानाञ्जन' समाधि लेंगे यह जानकर उन्हें बहुत दुःख हुआ। सब सन्त दुखी हुए, इस खयालसे कि अब ज्ञानेश्वर महाराज-का वियोग होगा, योगाभ्याससे जिनके करतल, चरणतल और नेत्र रातोत्पलके समान शोभा दे रहे थे, उनकी वह दिव्य मूर्ति अब बार-बार नेत्रोंके सामने न आवेगी, यह सोचकर सन्त रोने लगे; उनके नेत्रोंसे अश्रुओंके स्रोत बहने लगे। अस्तु, दशमीके दिन ज्ञानदेवने प्रस्थान किया, एकादशीको जागरण हुआ, द्वादशीको क्षीरपतिका महोत्सव किया। त्रयोदशीके दिन रुक्मिणी माताने स्वयं अपने हाथों ज्ञानदेवको पञ्चपक्वान्न भोजन कराया और भगवान्‌ने उन्हें वर दिया कि 'कार्तिक शुक्ल एकादशीको पण्ढरीमें जैसा महोत्सव होता है वैसा ही मार्गशीर्ष कृष्ण एकादशीको तुम्हारे लिये आलन्दीमें महोत्सव हुआ करेगा। शुक्ल एकादशी हमारी और कृष्ण एकादशी तुम्हारी।' सन्तोंने आनन्दसे जयध्वनि की और सब लोग भगवान्-समेत आलन्दीमें आये।

आगे समाधिका जो समारम्भ हुआ उसका बड़ा ही चित्त-वेधक वर्णन नामदेवने किया है। वह वर्णन मूल मराठीमें ही पढ़ने योग्य है। महीपति, निरञ्जनमाधव आदि कवियोंने नामदेव-

के ही आधारपर और उन्हींके ढंगसे वर्णन किया है। पर नामदेवकी वाणीमें जो प्रेम-रस है वह अलौकिक है। समाधि-प्रकरणके सम्बन्धमें नामदेवके २५० के ऊपर अभंग हैं। आलन्दी-क्षेत्रकी प्राचीन महिमा, ज्ञानेश्वरके प्रति भगवान्‌का और भक्तोंका—विशेषकर नामदेवका—अत्यन्त प्रेम, समाधि-प्रसङ्गमें ज्ञानेश्वरके वियोगसे सबके अन्तःकरणोंकी विह्वलता और उस प्रसंगका उदात्त और गम्भीर स्वरूप आदि बातोंकी ठीक-ठीक कल्पना नामदेवके स्वानुभव और प्रेम-रससे भरे हुए अभंगोंको भक्तिभावसे पढ़े बिना हो ही नहीं सकती। ज्ञानेश्वर महाराजको समाधि देनेके लिये पण्ढरपुरसे स्वयं विट्ठलभगवान् और रुक्मिणी माता आयीं। ज्ञानेश्वर और नामदेवके साथ समय-समयपर उनका वार्तालाप हुआ। पर इस बातकी कल्पना भी वे लोग नहीं कर सकते जो नामदेवकी भूमिकापर खड़े होना दूर रहा, उसकी कल्पना भी नहीं कर सकते! विट्ठल रखुमाई प्रेमके वश होकर सन्तोंके द्वारपर पड़े रहते हैं। भक्तको भगवान्‌के सिवा कोई सहारा नहीं और भगवान्‌को भी भक्तके बिना एक पल कल नहीं। भक्त-भगवान्‌के इस परस्पर प्रेमको स्वयं भक्त बनकर अनुभव किये बिना कोई भी नहीं जान सकता। यहाँ तर्क कुछ काम न देगा। तर्क यहाँ पंगु हो जाता है। संशय और कुतर्कसे जिनका हृदय सूख गया है उनको इसका स्वाद नहीं मिल सकता। कुतर्की और संशयसे ग्रस्त मनुष्य अभागे होते हैं। प्रेमामृत उनके गले जो नहीं उतरता इसका कारण यही है कि संशयराहु उन्हें ग्रसे रहता है। परमार्थ-साधनमें संशय बड़ा विघ्न है।

म्हणऊनि संशयाहूनि थोर।
आणिक नाहीं पाप घोर।
हा विनाशाची वागुर।
प्राणियांची ॥ २०३ ॥

जै अज्ञानाचें गद्ड पडे।
तैं हा बहुवस मनीं वाढे।
म्हणोनि सर्वथा मार्ग मोडे।
विश्वासाचा ॥ २०५॥

—ज्ञानेश्वरी अ० ४

[इसलिये संशयसे अधिक भयङ्कर और कोई पाप नहीं; यह प्राणियोंको पकड़कर मारनेवाला जाल है। जब अज्ञानका परदा गिरता है तब यह संशय मनमें बढ़ता जाता है, इससे विश्वासका मार्ग ही नष्ट हो जाता है।]

इस समय ऐसा ही अज्ञानका घनान्धकार छाया हुआ है और इससे विश्वासका मार्ग छूट गया है और इसी कारण नामदेव-जैसे साधु पुरुषोंके वचनोंपर भी अनेक विद्वानोंको अश्रद्धा होती है! तर्कपटु विद्वान् हाथी बनकर अपने ही मस्तकपर धूल उड़ाते हैं और भाविक श्रद्धालु प्रेमी पुरुष चींटी बनकर चीनी खाते हैं, यही तो संसारमें सर्वत्र देखनेमें आता है। तुकाराम-जैसोंको भी कहना पड़ा है कि, 'तार्किकोंका सङ्ग तज दो, नहीं तो सचमुच ही डूब जाओगे।' इसलिये सब प्रकारके संशय और कुतर्क त्यागकर सन्तोंके वचनोंपर पूरा विश्वास रखे और उन्हींके पदचिह्नपर अपना पद रखकर चलनेमें ही अपना कल्याण समझे।

अस्तु ! भगवान् और भक्त आलन्दीमें आये और इन्द्रायणी-में स्नान करके भक्तोंने नाम-मन्त्रकी रट लगाकर 'श्रीविट्ठलकी प्रत्यक्ष मूर्तिका पूजन किया।' आलन्दीमें भजन-कीर्तनकी धूम मची। कहा है, 'कीर्तनके द्वारा ज्ञानेश्वरने जगत्का उद्धार किया।' इस प्रकार ज्ञानेश्वर महाराजके दिखाये मार्गपर चलनेवाले सन्तोंने कीर्तनका रंग छा दिया और नाम-संकीर्तनसे पण्ढरीको ही आलन्दीमें ले आये, भगवान्ने आलन्दीका महत्त्व नामदेवको बताया—'इस पुरातन पञ्चक्रोशीमें पुराकालमें अनेक ऋषि-मुनियोंने तप किया है। यह शिवक्षेत्र है। ज्ञानेश्वरकी समाधिके लिये सर्वथा उपयुक्त स्थान है। ज्ञानेश्वरकी समाधिसे इस क्षेत्रकी महिमा और भी बढ़ेगी।' भगवान् और भक्त श्रीसिद्धेश्वर शंकरके पास आये। सोपानदेव पाण्डुरङ्गके चरणोंमें लिपट गये और भगवान्ने उनका समाधान किया। निवृत्तिनाथ उन्मनी अवस्थामें थे, वहाँ सात जन्म उनकी बैठक थी। वह उसी क्षण पलट गयी और उन्होंने भगवान्-की मूर्तिको निहारा। ज्ञानदेवने गुरुचरणोंमें अपना मन निमग्न किया और सोपानदेवको प्रेमसे गले लगाया। भगवान् श्रीविट्ठलने ज्ञानेश्वरसे कहा, 'अब समाधि लेनेके लिये बैठ जाओ'। उस समय

देवऋषिगण सकल। जय-जयकार ध्वनि मंजुल।
स्तुतिस्तोत्रें सकल। नक्षत्रादि गाती॥

'सब देवता और ऋषि मञ्जुल जय-जय ध्वनि करने लगे और नक्षत्रादि सब ज्योतिर्जगत् स्तुति-स्तोत्र गाने लगे।' सब समवेत भागवत आनन्दसे झूमने लगे, भगवान् कृतकृत्य हुए; पर नामदेव—

नामा असे शोकाकुलित।
चरणीं रत विट्ठलाच्या॥

नामदेव 'शोकाकुल' थे और 'श्रीविट्ठलके चरणोंमें रत थे।' 'ज्ञाना' जैसा रत्न अब नहीं मिलेगा, यह कहकर 'नामा' अत्यन्त व्यथित हुए।

भगवान्ने रुक्मिणी मातासे कहा—'देवी! इन नेत्रोंसे यही एक योगी देखा। त्रिलोकके लिये यही सञ्जीवन ज्ञानस्वरूप है। धन्य हैं वे लोग जिन्होंने इस धराधाममें इसे देखकर अपने नेत्र सफल किये। जिन्होंने ऐसा किया वे आनन्दसे नाचते हुए वैकुण्ठ-भुवनमें आप ही चले आवेंगे। जो इस स्थानकी यात्रा करेगा वह अपने सब गोत्रोंका उद्धार करेगा। इसके दर्शन-से सब कुल पवित्र होंगे। यह अलंकापुरी शिवपीठ है, यहाँ पहले नीलकण्ठ वास करते थे। ब्रह्मादिकने इसी स्थानमें बड़ा तप किया है। प्राणियोंके पाप-ताप हरनेके लिये पण्ढरीसे यह क्षेत्र अधिक सुगम है। कोपसे कलिकालके कुपित होनेपर भी अलंका-पुरीपर, उसका बस नहीं चलेगा।' भगवान् जब ऐसा कह रहे थे तब रुक्मिणी माता प्रेमसे गद्गद हो रही थीं। उन्होंने कहा कि, 'उस माताकी कोख धन्य है जिसने ज्ञानदेवको जन्म दिया।' नामदेव कहते हैं—'मेरे स्वामीने सब सन्तोंके समागमके बीच अलंकापुरीमें ये (उपर्युक्त) वचन कहे।'

ज्ञानेश्वर अब समाधिके लिये बैठनेको ही थे कि सन्त रोने लगे। सन्त ज्ञानी थे, इसमें सन्देह ही क्या है? ज्ञानेश्वरके मुखसे

उन्होंने यह वेदान्त भी सुना था कि 'यह सारा दृश्य उत्पन्न होता और नष्ट होता है, यह केवल मायाका दिखाव है, अन्यथा तत्त्व-वस्तु जो है वह अविनाशी है।' तथापि नेत्रोंके सामने जो सगुण मूर्ति खेला करती थी वह अब सदाके लिये दृष्टिके ओट हो जानेका जब प्रसङ्ग उपस्थित हुआ तब उनका ज्ञान पिघल गया। नामदेव कहते हैं—'भक्त विलाप करने लगे, उनके शोक-से तीनों लोक हिल गये। भगवन्! अब ज्ञानदेवकी-सी मूर्ति न देख पड़ेगी? सोपानदेव भगवान्के चरणोंपर लोट गये, मुक्ताईने भगवान्के चरण पकड़ लिये। सब सन्त पाण्डुरङ्गका स्तवन करने लगे।' नामदेव तो बहुत ही व्याकुल हो गये। ज्ञानदेवके वियोग-से अब कैसे जीयेंगे? उन्हें वह तीर्थयात्रा याद आयी जिसमें ज्ञानदेवके सत्सङ्गसे अपूर्व स्वसुखानुभव लाभ हुआ था। भक्ति, ज्ञान, वैराग्यकी वे अपूर्व बातें एक-एककर याद आने लगीं और उनका जी उथल-पुथल होने लगा। भगवान्ने उन्हें बहुत समझाया कि ज्ञानेश्वरको आत्मरूपमें देखो और पहचानो। पर उनका समाधान नहीं हुआ। उन्होंने 'जय, जय' शब्दसे भगवान् और ज्ञानदेवको वन्दन किया; पर ज्ञानदेवका वियोग होना जानकर उनका हृदय जो विकल हुआ उसे किसी तरह भी कल न पड़ी। उस हृदयसे 'त्राहि, त्राहि' की पुकार होने लगी। नामदेवने भगवान्से कहा, 'आप मेरे माता-पिता हैं, पर ज्ञानदेवके बिना यह संसार मुझे सूना मालूम होता है। जलके बिना मछली नहीं जी सकती—ज्ञानदेवके बिना नामा कैसे जी सकता है? आप सब जीवोंका पालन करते हैं, तब मुझे यह दुःख क्यों? आप

सामने खड़े हैं, फिर भी मेरी यह दशा !' विलाप करते-करते नामदेवकी देह जैसे सुन्न हो गयी ! तब भगवान्‌ने नेत्र खोले और चारों भुजाएँ फैलाकर उन्हें आलिङ्गन किया ।

निवृत्तिनाथकी नित्यसमाधि भी थोड़ी देरके लिये भङ्ग हो गयी; जैसे किसी स्रोतका बाँध कट गया हो और चारों ओरसे जल बहने लगा हो । क्षणकालके लिये उन्हें भी दुःख हुआ । बचपनमें माता-पिता छोड़ गये तब उन्हें जो दुःख नहीं हुआ वह इस समय हुआ । उन्होंने कहा—'माँ-बाप जब छोड़ गये तब यह सङ्कट नहीं आया था ।' तब नामदेवने भगवान्‌से कहा, 'भगवन् ! इस जलती आगमें निवृत्तिनाथका समाधान कीजिये ।'

श्रीज्ञानेश्वर महाराजकी गुरुनिष्ठा अपूर्व थी । ज्ञानेश्वरीमें सर्वत्र और मुख्यतः तेरहवें अध्यायमें 'आचार्योपासनम्' पदपर उन्होंने जो प्रेमरसभरी टीका की है वह उनकी गुरु-भक्तिका एक रूप है और दूसरा रूप है 'अमृतानुभव' के दो अध्यायोंमें श्रीनिवृत्तिनाथके तात्त्विक स्वरूपका जो गम्भीर विवरण किया है । ये दोनों विवरण जिन्होंने पढ़े हों उन्हें नामदेवकी इस वाणीमें इन अवतार-स्वरूप गुरु-शिष्यके अन्तिम संवादका महत्त्व अधिक प्रत्यक्ष होगा ।

नामदेव कहते हैं—'ज्ञानेश्वर हाथ जोड़कर स्वामी (निवृत्तिनाथ) से कहते हैं, 'हे दयालु ! आपने मुझे पाला-पोसा और मेरे लाड किये । आपके ही योगसे मैं स्वरूपाकार हुआ और मायानदीको पार कर गया ।' निवृत्तिनाथने हमलोगोंके

लिये अपना परम स्थान छोड़ा और मुँहपर हाथ फेरा। ज्ञानराजको ब्रह्ममें मिलाया ! हे भगवन् ! यह मुझसे नहीं देखा जाता ! निवृत्तिनाथने सर्वाङ्गसे उनका आलिङ्गन किया। उस समय सबके नेत्रोंसे आँसू गिरने लगे। इन्होंने कभी मर्यादाका उल्लङ्घन नहीं किया, गुरु-शिष्य-सम्बन्धको सिद्धितक पहुँचा दिया। गीतार्थका पूर्ण आनन्द लिया, सब गुह्य गोप्योंके हार पहन लिये। नेत्रोंका जो परम लाभ है, वह प्राप्त कर लिया। अब ऐसा कोई होनेवाला नहीं। सार-गुह्य निकाल लिया, वेदोंको निःसार कर दिया, वह उनकी गुह्यभरी परमार्थवाणी याद आती है। याद कर-करके सब सन्त व्याकुल हो रहे हैं, उनके नेत्र अश्रु-जलसे भरे हुए हैं !—उन अश्रुओंको वे अब रोक नहीं सकते !'

सोपानदेव और मुक्ताबाईके दुःखका तो नामदेव वर्णन ही न कर सके। माताके वियोगसे अनाथ बच्चे जैसे इधर-उधर भटकने लगते हैं वैसे ही ज्ञानदेवके बिना अनाथ हुए सोपान और मुक्ता सिसक-सिसककर रोने लगे—

'आह्मां मातापिता नित्य ज्ञानेश्वर।
नाहीं आतां थार विश्रान्तीसी॥

(हमारे माता-पिता ज्ञानेश्वर थे, अब हमारे लिये विश्रामका कोई आश्रय-स्थान न रहा।)

भगवान् पाण्डुरङ्गने सबको सान्त्वना दी और ज्ञानदेवकी प्रशंसा की—

'तुम्हारी वैखरी धन्य है जो तुमने बाईस वर्षकी इस अल्पवयस्में अपने सद्विचारके द्वारा जगदुद्धार किया।'

'जो-जो दिन उदय हुआ, वह ज्ञानदेवने सफल किया। ऐसे पद-पदान्तर कथन किये जिनसे आत्मारामको सन्तोष हुआ।'

'पहले असंख्य भक्त हो चुके हैं, आगे भी होंगे; परन्तु यह ज्ञानदेवका ही काम था जो असंख्य जीव-जन्तुओंका उद्धार कर गये।'

इस प्रकार स्वयं श्रीपण्ढरीनाथने ज्ञानेश्वर महाराजके बाईस वर्षके दृश्य चरित्रको गौरवान्वित किया। धन्य हैं वे ज्ञानेश्वर, निवृत्तिनाथ, सोपानदेव, मुक्ताबाईको जन्म देनेवाले माता-पिता और उनके सत्संगका महासुख लाभ करनेवाले नामदेवादि भक्त-राज! धन्य है उनका कुल! धन्य है वह आलन्दीक्षेत्र! धन्य है वह मराठी भाषा और ऐसे नर-रत्नोंको उत्पन्न करनेवाली महाराष्ट्रभूमि! और धन्य है ऐसी महाराष्ट्र-भूमिको धारण करने-वाली भारतभूमि!

पण्ढरीकी अपेक्षा आलन्दीक्षेत्र बहुत अधिक प्राचीन है। 'आलन्दी' के 'अलं ददाति' पदोंसे यह अर्थ निकलता है कि आलन्दी वह है जो 'अलं' कहानेतक सब मनोरथ पूर्ण करने-वाली है। आदिनाथ शंकरने यहाँ तप किया था और अगस्ति आदि सहस्रों तपस्वी यहाँ रहे हैं। इसकी पञ्चक्रोशीमें अनेक पवित्र स्थान भी हैं। आलन्दीके पूर्व ओर मातुलिंग अर्थात् मर्कलमें केशवराज हैं, दक्षिण ओर पूनेमें पुण्येश्वर हैं, पश्चिममें इन्दुरीके ब्रह्मेश्वर और उत्तरमें भीमातटवर्ती खेटक ग्राम (खेड) के सिद्धेश्वर हैं। ये सब शिवस्थान हैं। इनसे यह भी मालूम होता है कि प्राचीन समयमें यहाँ शिवोपासनाका ही विशेष

प्रचार था। ज्ञानेश्वरकी परम्परा भी आदिनाथसे ही आरम्भ होती है। यह श्रीनिवृत्तिनाथका विशेष अनुग्रह था जो ज्ञानेश्वरने श्रीकृष्णकी अर्थात् विट्ठलभगवान्‌की उपासना महाराष्ट्रमें विशेष-रूपसे प्रचलित की। अस्तु। ऐसे प्राचीन सिद्धक्षेत्र आलन्दीकी महिमा पहलेसे ही बहुत थी, पर ज्ञानेश्वरके पुण्यचरित्र और विशेषकर उनकी समाधिसे इसका माहात्म्य बहुत ही बढ़ गया। आलन्दीमें इन्द्रायणी (*इन्द्रस्य अयनं यस्यां* अर्थात् जिसके तटपर इन्द्रकी तपोभूमि है) नदी हैं और उनके तटपर श्रीसिद्धेश्वरका प्राचीन स्थान है। वहाँ श्रीसिद्धेश्वरकी बाईं ओर अजान वृक्षकी छायामें दो खण्डकी गुहा ज्ञानेश्वरने तैयार करायी थी, इसी गुहामें समाधि लेनेके लिये वह प्रस्तुत हुए। नामदेवने अपने पुत्रोंके द्वारा वह स्वच्छ स्थान झाड़ू देकर और भी स्वच्छ कराया। एकादशीको सबने हरिजागरण किया, नामदेवका हरि-कीर्तन हुआ, दूसरे दिन द्वादशीको पारण हुआ। द्वादशीको दोपहर-तक भोजन हो रहे थे। पीपलके चबूतरेपर ज्ञानदेवने भक्तजनों-सहित पारण किया। तीसरे पहर केन्दूरके भगवद्भक्त कान्हू पाठक अपने परिवारसमेत ज्ञानेश्वर महाराजके दर्शनोंके लिये आये। सब सन्तोंके आग्रहसे उन्होंने ही 'खिरापत'* का कीर्तन किया। तबसे यह अधिकार केन्दुरकर कुलमें ही चला आता है। त्रयोदशीके दिन तुलसीदल और बिल्वपत्र बिछाकर ज्ञानेश्वर महाराज-

---

* कथाके अन्तमें प्रसादके तौरपर जो मिठाई इत्यादि बाँटी जाती है उसे खिरापत कहते हैं।

का आसन तैयार किया गया। गुहाके द्वारपर प्रस्तरनिर्मित नन्दिमूर्ति थी सो हटायी गयी, उससे शिला-द्वार खुला। तब—

'ज्ञानदेव समाधिमें बैठ गये। सामने अजानवृक्षनिधि है। बाईं ओर सुवर्णका अश्वत्थ-वृक्ष शोभायमान है। उत्तरद्वार-के सामने निवृत्तिनाथ, सोपानदेव, विसोबाखेचर, नामदेव और मुक्ताबाई विराजमान हैं। समाधिमें बैठे ज्ञानदेव भगवान्‌की ओर देखते हैं और भगवान् कहते हैं—'जबतक शशि, सूर्य और तारे हैं जबतक यह भूमण्डल और यह जलधिजल है तबतक तुम्हारी यह समाधि निरन्तर स्थिर रहे; पीछे यथाकाल कल्पान्त होनेपर, मेरे हृदयमें आकर निवास करो।' (यह कहकर भगवान्‌ने भक्त-जनोंके लिये कहा कि—) 'जो कोई 'ज्ञानदेव' नामका जप करेगा वह ज्ञानको प्राप्त होगा।

इसके अनन्तर स्वयं श्रीविट्ठलने ज्ञानेश्वरके भावार्थदीपिका, अमृतानुभव और योगवासिष्ठ ग्रन्थोंकी स्तुति की। अनन्तर ज्ञानेश्वर महाराजने १०८ ओवियोंमें अन्तिम बार 'नमन' किया। तब सबने उनका जयजयकार किया। उस जयघोषके साथ, ज्ञानेश्वर महाराज समाधिको ओर जानेके लिये उठे। सबने उन्हें वन्दन किया। भगवान्‌ने उनके ललाटपर केशरयुक्त चन्दन लगाकर गलेमें पुष्पहार पहनाया, नामदेव बछड़ेकी तरह छटपटाने लगे। समाधि-स्थानकी परिक्रमा करके जब वह अन्दर प्रवेश करने लगे तब स्वयं भगवान्‌ने उनका हाथ अपने हाथमें लिया और यह कहते हुए कि 'संसारके लिये तुमने बड़े कष्ट उठाये' बड़े प्रेमसे

उन्हें अन्दर ले गये। सबने उनके नामका जयघोष करके दशों दिशाएँ गुँजा दीं। सब उनके गुण गाने लगे। नामदेवने कहा, 'इन्होंने जड मूढ़जनोंको अनुभवकी नौकापर बैठाकर पार पहुँचा दिया।' मतलब यह कि इन्होंने ग्रन्थ लिखकर लोकोद्धार किया सो तो किया ही पर उससे भी बड़ी बात यह की कि उन्होंने स्वानुभवकी नौकासे जड मूढ़जनोंको भवभयके पार पहुँचा दिया। एक हाथ उनका श्रीविट्ठल भगवान्‌के हाथमें था और दूसरा हाथ निवृत्तिनाथके हाथमें, और इस तरह श्रीगुरु और भगवान्‌ने मिलकर उन्हें समाधि-आसनपर बैठाया। ज्ञानदेवने कहा, 'भगवन्! आपने मुझे सुखी किया। अब पादपद्ममें निरन्तर रखिये।' तीन बार करकमल जोड़कर ज्ञानदेवने नेत्र बन्द किये। श्रीज्ञानेश्वर महाराजकी समाधिमूर्तिका मुख उत्तरकी ओर है। समाधिमें उत्तराभिमुख होकर वह पद्मासनपर बैठे थे। यह कथा प्रसिद्ध है और ज्ञानेश्वरीमें उन्होंने पहलेसे ही इसका निर्देश कर रखा था। आठवें अध्यायमें सर्वत्र उन्होंने इसी विषयका प्रतिपादन किया है। सगुण मूर्ति-प्रेमके कारण अन्य सन्त उनकी समाधिसे बहुत दुखी हुए। परन्तु ज्ञानेश्वर महाराज स्वयं पूर्णानन्दरूप थे। नामदेवने उनकी समाधिका इतना विस्तारपूर्वक वर्णन किया है पर कहीं एक वाक्य नहीं है जिससे यह अनुमान किया जा सके कि समाधिके समय ज्ञानेश्वर महाराजका चित्त किञ्चित् भी डाँवाडोल हुआ हो। सब वृत्तियोंको वह आत्मसात् कर चुके थे। हर्ष-शोकादि विकार उनके पास फटक नहीं सकते थे। शब्द जहाँ रुकता है, विचार थकता है, प्रणवका जो मूल है, योगद्रुमका

जो फल है, आनन्दका जो चैतन्य और आकारका परपार है, जो बन्ध-मोक्षका निर्वाण और पराके भी परेका शुद्ध तेजस्वरूप है वही जो हो गये उनके लिये जागृतिसे समाधिमें जाना कौन-सी बड़ी बात थी ? जिनकी जागृति ही समाधि थी उन्हें और समाधिका प्रयोजन ही क्या था ? परलोकलालनतत्पर श्रीज्ञानेश्वर महाराजकी समाधि केवल लोक-शिक्षाकी एक लीला थी। चारों देह, चारों वाचा, चारों अवस्थाएँ उनकी परमात्मस्वरूप ही थीं। वह नित्यमुक्त थे। सारे जीवनभर मनुष्यके जो लौ लगी रहती है वही उसे अन्तकालमें सूझती है। सारा जीवन जो वृत्तिशून्य योगेश्वरका ऐश्वर्य भोग कर रहे थे उन्हें समाधिकालमें वृत्तिक्षोभकी पीड़ा क्यों होने लगी ? भोक्तृत्वकी कल्पना ही जहाँ नहीं होती उस निरतिशय आनन्दको भोगते हुए वह समाधिमें बैठे।

बाहेर पद्मासन रचुनी। उत्तराभिमुख बैसोनी॥
जीवीं सुख सूनी। कर्म योगाचें॥ ९२॥
आंतु मिनलेनि मनो धर्में। स्वरूप प्राप्तीचेनि प्रेमें॥
आपो आप संभ्रमें। मिळावया॥ ९३॥

—ज्ञानेश्वरी अ० ८

अर्थात् 'बाहर पद्मासन लगाये, उत्तरकी ओर मुख किये, कर्मयोगका सम्पूर्ण सुख हृदयमें बटोरकर, आत्मस्वरूपकी प्राप्तिके प्रेमसे, सहज ही उसमें मिल जानेकी उत्कण्ठासे' ज्ञानेश्वर महाराज समाधिमें बैठे। भगवान् और निवृत्तिनाथ बाहर आये और समाधिपर शिला रखी गयी। सब सन्तोंने समाधिपर पुष्प चढ़ाये। नामदेवने

बड़े प्रेमसे पूजा की। नौ दिन सन्तोंने समाधिके समीप श्रीसिद्ध-लिङ्गके सम्मुख कीर्तन-महोत्सव किया। मार्गशीर्ष शुक्ल दशमीको भोजन-समारम्भ हुआ। त्रयोदशीके दिन सब सन्त अपने-अपने स्थानको चले गये और श्रीज्ञानेश्वर ब्रह्मबोधसे अक्षय सुखको प्राप्त हुए। ज्ञानेश्वर महाराजकी समाधिका महोत्सव प्रतिवर्ष आलन्दी-में हुआ करता है। तुकाराम महाराजके बाद इस उत्सवमें कुछ शिथिलता आ गयी थी, पर हैबतरावबाबाने फिर उसे जगाया।

ज्ञानेश्वर महाराजके समाधि लेनेके बाद एक वर्षके भीतर ही सोपानदेव, चाङ्गदेव, मुक्ताबाई और निवृत्तिनाथने एक-एक करके अपना अवतार-कार्य समाप्त किया। ज्ञानेश्वर महाराजका वियोग हुआ तबसे ये सन्त प्रायः तीर्थयात्रा ही किया करते थे और परस्परके सत्संगमें ब्रह्म-सुख अनुभव करते हुए रमते थे। सबसे पहले सोपानदेवने शरीर छोड़नेका निश्चय किया। सिंहगढ़ या कौंडिण्यगढ़ पूनेसे तेरह मीलपर है। उसके पादप्रदेशमें एक पुराना मन्दिर है। वहाँ कुछ काल ये लोग रहे, अनन्तर इन्द्रनील पर्वत अर्थात् पुरन्दरगढ़के समीप कऱ्हाडके संवत्सर (सासवड) ग्राममें आये और वहाँ पौष कृष्ण तेरसको नाम-संकीर्तन करते हुए सोपान-देवने शरीर छोड़ा। वहाँ कुछ काल रहकर सन्तमण्डली घूमते-फिरते पुण्यस्तम्भ उर्फ पुणताम्बे स्थानमें पहुँची। ज्ञानदेवके बाद इतनी जल्दी सोपानदेवको समाधिस्थ हुए देखकर इस नाशवान् शरीरसे मुक्ताबाईका जी उचाट हुआ और उन्होंने सोचा कि 'अब मेरेलिये भी रास्ता खुल गया है।' मुक्ताबाईका यह

हाल देखकर चाङ्गदेवने और भी जल्दी की। पुणताम्बे स्थान गोदावरीके तटपर है, प्राचीन तीर्थस्थान है, इसीलिये चाङ्गदेवने यहीं शरीर छोड़नेका निश्चय किया। चाङ्गदेवने जब समाधि लेनेका निश्चय किया तब उस समयके उनके उद्गार नामदेव प्रकट करते हैं—

'चौदह सौ वर्ष शरीर जतन किया। पर मेरा अज्ञान दूर नहीं हुआ। अहंकारने मेरा घर चौपट किया, स्वामीके साथ सेवामें चोरका-सा वर्ताव मैंने किया। आलन्दीमें जो मैं आया, अभिमान लेकर ही आया था। पर मुक्ताईने मेरा अज्ञान दूर किया।'

× × ×

'जब मुक्ताबाईको दया आयी तब उन्होंने दसों दिशाओंमें निजस्वरूप दिखा दिया। आगे-पीछे सर्वत्र सद्गुरुने स्वरूपमय कर डाला। तब मेरा अभिमान दूर हुआ। इनके उपकार मैं कहाँतक गाऊँ? इन्होंने भगवान्के साथ योग करा दिया। उठो, सन्त जनो, चलो, अब गौतमीमें स्नान करें।'

फाल्गुन कृष्ण एकादशीको हरिजागरण और द्वादशीको हरिकीर्तन होनेके बाद तेरसके दिन चाङ्गदेवने समाधि ली। सन्तोंने समाधिको तोपा और तुलसीपत्र और पुष्प चढ़ाये। पुणताम्बेमें पाँच दिन उत्सव करके ये लोग वहाँसे चले। 'निवृत्तिराजने कहा, चलो, अब उस महालया क्षेत्रमें जहाँ ज्ञानेश्वरी पूरी हुई।' तदनुसार सब लोग नेवासें स्थानमें आये। वहाँ ज्ञानेश्वरका स्मरण करके सब लोग अत्यन्त विह्वल हुए।

नेवासेमें रहते हुए नामदेवने निवृत्तिनाथसे प्रार्थना की कि, 'हमलोग जब यहाँतक चले आये हैं तब एक बार आपकी जन्म-भूमि आपेगाँवका भी दर्शन कर लें। वहाँ आपके परदादा त्र्यम्बकपन्तकी समाधि है, उसका भी अनायास ही दर्शन होगा।' निवृत्तिनाथने नामदेव तथा अन्य सबकी यही इच्छा जानकर 'तथास्तु' कहा और सब लोग आपेगाँव पहुँचे। अपने पूर्वजोंकी उस जन्म-भूमिके दर्शनकर निवृत्तिनाथ और मुक्ताबाई-को बहुत दुःख हुआ। नामदेव वर्णन करते हैं—

'निवृत्ति और मुक्ताईने जब वह स्थान नेत्रोंसे देखा तब उनका हृदय पूर्व-स्मृतिके जागनेसे क्षुब्ध हो उठा। कहने लगे, जब हमारे माता-पिता हमें छोड़कर यहाँसे चले गये, तब हम-लोग, हे पाण्डुरङ्ग! बहुत छोटे थे। निवृत्ति और ज्ञानेश्वर भिक्षा माँग लाते थे और सोपान मुक्ताईको सँभालते थे। हे प्रभु! तुम्हारी ही दयासे हमारे वे दिन बीते; पर हम मुनियोंका वह मेला अब न रहा! यह सोचकर (नामदेव कहते हैं कि) उनका मन बहुत ही व्याकुल हुआ। हे पाण्डुरङ्ग! इन्हें सान्त्वना दो।'

आपेगाँवमें आनेपर मुक्ताबाईको अपना बचपन याद आया। बचपनमें ही हमारे माँ-बाप हमें छोड़कर चले गये! तब निवृत्ति और ज्ञानेश्वर भिक्षाके लिये बाहर जाते और सोपानभाई मुझे खिलाते—सँभालते थे। अब वे दिन याद आते हैं; पर अब ज्ञानेश्वर नहीं है, सोपानभाई भी अब नहीं रहे! हमारा घर—हमारा मेला ही कट-छट गया! इन्हीं सब बातोंको सोचते-सोचते

मुक्ताबाईका गला भर आया, उनकी आँखोंसे अश्रुधारा बहने लगी। ज्ञानेश्वरादि भाई-बहिनकी उस मातृ-भूमिको 'वैष्णवोंने बहुत सम्मानित किया।' कुछ दिन वहाँ रहकर ये लोग वेरुलमें घृष्णेश्वरके दर्शन करने गये। यथासाङ्ग वेरुलकी यात्रा हुई। आपेगाँवसे प्रस्थान हुआ तबसे मुक्ताबाईके मनमें कुछ दूसरे ही विचार उठने लगे। नामदेव बतलाते हैं—

'मुक्ताबाई बहुत उदास हो गयीं और यह सोचने लगीं कि अब यह शरीर रखनेका कुछ काम नहीं है। उन्होंने अन्न-जल त्याग दिया। निवृत्तिराज इससे विकल हो उठे।'

निवृत्तिराज जान गये कि मुक्ताबाई अब बहुत कालतक यह शरीर न रखेंगी। सब लोग जब रास्ता चलते तब उन्हें बीचमें लिये चलते थे। 'उनकी चित्तवृत्ति निजस्वरूपमें निमग्न हो गयी। उन्हें देहकी सुधि न रही।' इसी अवस्थामें उन्हें सङ्ग लिये सब लोग तापी-नदीके किनारे आये। वैशाख मास था, दिनमें बड़ी कड़ी धूप पड़ती थी। यह गरमी दिन-दिन बढ़ती ही जा रही थी। इन लोगोंके कारण तापीके तटपर सन्तोंका मेला लगा था। दोनों किनारे झण्डे-ही-झण्डे दिखायी देते थे। वृक्ष फलोंसे लदे थे। जहाँ-तहाँ दूब-दर्भकी हरियाली छायी हुई थी, छोटे-बड़े आम्रादि वृक्षोंपर बैठे पक्षी वसन्त-समीरसे मस्त हो-कर गाते और मोर नाचते थे। भिन्न-भिन्न वर्णोंके कमल और उनपर गुञ्जारव करनेवाले भ्रमर देखकर वैष्णवजन बहुत ही प्रसन्न होते थे।

धन्य महत् नगर धन्य सोमेश्वर।
धन्य तापीतीर योगियांचें॥

इस धन्य भावसे सन्तजन उस एकान्त स्थानमें रम गये। महत् नगर अर्थात् माणेगाँव एदलाबादसे दो मीलपर है। उस स्थानमें रहते हुए एक दिन एकान्तमें निवृत्तिनाथने मुक्ताबाईको उनके ब्रह्मभावका स्मरण दिलाया। तब मुक्ताबाईने कहा—'जाना-आना कहाँ है? यह सारा तो अपना ही स्वरूप है, स्वामी!'

उदय आणि अस्त नाहीं स्वरूपासीं।
ऐसें मुनि ऋषी जाणताती॥ १॥
आम्हीं कधीं आलों स्वरूप सोडोनी।
जावें पालटोनी जेथिल तेथें॥ २॥
अन्तरबाहेर स्वामीचें स्वरूप।
स्वयें नन्दादीप उजलला॥ ३॥

यह कहती हुई मुक्ताबाई जब निजस्वरूपमें लीन हो रही थीं तब आकाशमें बादल गरजने लगे और बड़े जोरसे बिजली कड़कने लगी और मुक्ताबाई सहज-स्वरूपमें मिल गयीं। पिण्डमें ही पिण्डको आत्मसात् करके मुक्ताबाई जहाँ-की-तहाँ सदेह अदृश्य हो गयीं—

एक प्रहर झाला प्रकाश त्रिभुवनीं।
जेव्हां निरञ्जनीं गुप्त झाली॥

(एक प्रहरपर्यन्त तीनों भुवन जगमगा रहे थे जब मुक्ता निरञ्जनमें गुप्त हुई।) वह दिन ज्येष्ठ कृष्ण द्वादशीका था। इन

आँखोंसे उनके बाह्य स्वरूपको अभी-अभी देख रहे थे और इतनेमें ही वह अन्तर्धान हो गयीं, इससे सब सन्तोंके चित्त अत्यन्त विकल हुए।

होती ऐसी नाहीं झाली मुक्ताबाई।
सन्त ठायीं ठायीं स्फुन्दताती॥

वह स्थान अति रमणीक था, इसलिये सब सन्त वहाँ एक मास और रहे। मुक्ताबाई जहाँ गुप्त हुई वहाँसे दो मीलपर उनका देवालय बना है। चारों भाई-बहिनमें निवृत्तिनाथ सबसे बड़े थे, वे सबके पीछे गये। वारकरी सन्त-भक्त उनके सर्वथा निवृत्त-चित्तको ताल, मृदंगादि बजाकर, गायनादि तथा गीतार्थ-निरूपणके द्वारा रञ्जित करनेका प्रयत्न करते थे, तथापि—

ज्ञानराजें आमुचे निवविले डोळे।
आतां ऐसें खेळे कोणी नाहीं॥ १॥
ऐकावा हा अर्थ मुक्ताईच्या मुखीं।
आतां ऐसी सखी नाहीं कोणी॥ २॥
अविट बोलणें बोलावें अनादि।
जें गुह्य वेदीं सांपडेना॥ ३॥
कीर्ति आणि वैराग्य केलें सामराज्य।
गुरुत्वासी लाज नाहीं आली॥ ४॥
नाशिवन्त शरीर केलें अविनाश।
घडविला विलास अध्यात्मीचा॥ ५॥

अविट बोलणीं आठवती मनीं।
आतां त्रिभुवनीं दिसेनात ॥ ६ ॥

× × ×

जेष्ठाच्याही आधीं कनिष्ठाचें जाणें।
केलें नारायणें उफराटें॥
उफराटें फार कललें माझें मनीं।
वलचणीचें पाणी आढ्या आलें!॥

× × ×

(ज्ञानराजने मेरे नेत्रोंको जो सुख दिया वैसा खेल-खेलकर सुख देनेवाला अब कोई न रहा। अर्थ तो मुक्ताईके मुखसे ही सुनने लायक था, अब कोई ऐसी बहिन न रही जो अनादिकी वह मधुर बात कहे जो वेदोंमें भी न मिले। इन भाई-बहिनने कीर्ति और वैराग्यका साम्राज्य किया····अध्यात्मविलासके द्वारा नाशवान् शरीरको अविनाशी बना डाला। उनकी मीठी बातें याद आती हैं, पर वे तो अब त्रिभुवनसे अन्तर्धान हो गये। × × × बड़ोंके पहले छोटे चले जायँ, यह कैसी उलटी रीति नारायणने चलायी—उलटी गंगा बहायी!)

ये उद्गार श्रीनिवृत्तिनाथके मुखसे सुनकर नामदेवादि सन्तोंने जाना कि अब यह भी बहुत दिनके साथी नहीं हैं। ज्ञानेश्वरके साथ रहते हुए जो आनन्द उन्होंने प्राप्त किया उसका स्मरण करते हुए उन्होंने कहा—

देहा आधीं गेला प्राण माझा।

(देह छूटनेके पूर्व मेरा प्राण चला गया !) तब सब सन्तों-के नेत्रोंमें जल भर आया। निवृत्तिनाथको गहिनीनाथने जो रहस्य बताया था वह उन्होंने अपने सब भाई-बहिन तथा चाङ्गदेव, बिसोबा खेचर आदिको बाँट दिया था। निवृत्तिनाथ सब सन्तों-समेत लौटे और रास्तेमें सप्तशृंगीके पर्वतकी परिक्रमा करके तथा देवीके दर्शन करके त्र्यम्बकेश्वर आये और यहाँ उन्होंने आषाढ़ कृष्ण द्वादशीके दिन शरीर छोड़ा। निवृत्तिनाथका चला जाना क्या था ? नामदेव कहते हैं—

'सूर्यास्त हो गया और अन्धकार छा गया। योगेश्वर निवृत्तिराज अस्ताचलको चले गये ! वे विभूतियाँ चली गयीं, वे अनादि अवतार चले गये। भगवन् ! अब रह-रहकर उनकी याद आती है। अब धीरज धरते नहीं बनता, कण्ठ रुँध जाता है।'

त्र्यम्बकेश्वर-क्षेत्रमें कुछ काल रहकर नामदेव अपने बाल-बच्चों-समेत पण्ढरपुर गये और सब सन्त अपने-अपने स्थानको गये। संवत् १३५३ मार्गशीर्ष माससे संवत् १३५४के आषाढ़ मासतक लगातार आठ महीने ये सब संन्त एक साथ रहते हुए परस्पर सत्सङ्ग और प्रेमका स्वर्गीय सुख लेते-देते घूमते-फिरते थे। मार्गशीर्षमें ज्ञानेश्वर महाराजने समाधि ली, उसके बाद पौष मासमें सोपानदेवने, फाल्गुन मासमें चाङ्गदेवने, ज्येष्ठमें मुक्ताबाईने और आषाढ़में निवृत्तिनाथने इहलोककी यात्रा समाप्त की। इस प्रकार कुल आठ महीनेके भीतर ये पाँच महापुरुष इस क्षणभङ्गुर मृत्युलोकको छोड़कर चले गये और परब्रह्ममें मिल गये।

ये योगी तो चले ही गये, पर उनकी स्मृति-समाधियाँ रह गयीं। इन समाधि-स्थानोंमें बड़ी-बड़ी यात्राएँ होती हैं। ज्ञानेश्वर महाराजने मार्गशीर्ष कृष्ण तेरसको समाधि ली और अभीतक एकादशी-को होनेवाली यात्रा इस तेरसके दिन उनके समाधि-महोत्सवका समारम्भ देखकर तथा कीर्तन और कांदौकी लीला करके तब निवृत्त होती है। सोपानदेवने पौष कृष्ण तेरसको शरीर त्यागा, पर इस निमित्त होनेवाली यात्रा सासवडमें वैशाख शुक्ल एकादशीको हुआ करती है। चाङ्गदेव समाधिस्थ हुए फाल्गुन कृष्ण तेरसको और उसी दिन तापीतटपर चाङ्गदेवके जन्मस्थान 'चाङ्गदेव' गाँवमें तन्निमित्त यात्रा होती है। मुक्ताबाई ज्येष्ठ कृष्ण द्वादशीको अन्तर्धान हुईं और उसी दिन उनके गुप्त होनेके स्थानमें अर्थात् एदलाबादमें बड़ा मेला लगता है और भजन-कीर्तनादिका बड़ा आनन्द रहता है। निवृत्तिनाथ आषाढ़ कृष्ण द्वादशीको समाधिस्थ हुए, पर समाधि-उत्सवकी यात्रा माघ कृष्ण एकादशीको होती है। इस प्रकार ज्ञानदेव, मुक्ताबाई और चाङ्गदेवकी तिथियोंका पालन तो ठीक तरहसे होता है पर सोपानदेव और निवृत्तिनाथकी यात्राएँ समाधिके दिन नहीं होतीं, आगे-पीछे होती हैं। इसका कारण यह है कि वार-करियोंने यात्राका सुभीता देखकर तदनुसार ये दिन निश्चित किये हैं। आषाढ़ कृष्णमें यदि निवृत्तिनाथकी समाधिकी यात्रा की जाय तो आषाढ़ी एकादशीकी पण्ढरीकी यात्राके लिये फिरसे बाहर निकलना बड़ा ही कठिन होता है क्योंकि इसके लिये पूरे पन्द्रह दिनका भी अवकाश नहीं मिलता और फिर आषाढ़ कृष्ण एकादशीको त्र्यम्बकेश्वरमें जलका अकाल-सा रहता है। इन

कारणोंसे वारकरियोंने यहाँकी यात्रा माघ मासमें करनेकी प्रथा चला दी। सोपानदेवकी यात्राके सम्बन्धमें भी कुछ ऐसी ही बात है। सोपानदेवको वारकरी बड़े प्रेमसे सोपान काका या केवल काका (चाचा) कहकर पुकारते हैं। अस्तु, इस प्रकार ज्ञानेश्वरपञ्चायतन लगभग आठ महीनेके भीतर ही अदृश्यमान हुआ; तथापि इनके प्रति महाराष्ट्रका प्रेम आज भी पहले-जैसा ही ताजा बना हुआ है।

ज्ञानेश्वर महाराजके बाद जो उनके समकालीन सन्त समाधिस्थ हुए उनका अनुक्रम इस प्रकार है—

१—विसोबा खेचर, समाधिस्थ संवत् १३६६, सौम्यनाम संवत्सर, श्रावण शुक्ल एकादशी।

२—नरहरि सोनार, समाधिस्थ संवत् १३७० प्रमाथिनाम संवत्सर, फाल्गुन कृष्ण १।

३—बङ्का महार, समाधिस्थ संवत् १३७५, कालयुक्त संवत्सर, माघ शुक्ल १५।

४—जनमित्र, समाधिस्थ संवत् १३८७, कार्तिक शुक्ल ११।

५—चोखामेला, समाधिस्थ १३९५, बहुधान्य संवत्सर, ज्येष्ठ कृष्ण ५।

६—नामदेव, समाधिस्थ संवत् १४०७, विकृत नाम संवत्सर, श्रावण कृष्ण १३।

ज्ञानदेवादि भाई-बहिन बहुत ही थोड़े कालतक इस लोकमें आलोकित होकर चले गये। निवृत्तिनाथ सबसे पहले जन्मे और सबके पीछे समाधिस्थ हुए। समाधिके समय उनकी आयु थी

कुल २४ वर्ष ! अन्य सन्त दीर्घायु थे, यह ऊपर दिये हुए समाधि-कालसे मालूम होगा । नामदेवराय सबकी अपेक्षा अधिक दीर्घायु थे । समाधिके समय उनकी वयस् ८० वर्ष थी अर्थात् ज्ञानेश्वरकी समाधिके पश्चात् पूरे ५४ वर्ष नामदेवराय जीवित थे । पर इस तरह देखना देहदृष्टिका देखना है ! यथार्थमें ब्रह्म-निष्ठोंकी आयु ही क्या ? दिक्कालाद्यनवच्छिन्न जो चिन्मय स्वरूप है उस स्वरूपको जो प्राप्त हो गये वे सन्त भी दिक्कालाद्यनवच्छिन्न ही हैं ! दिशा और कालका अवच्छेद वहाँ कहाँ ? इसलिये मरण-के लिये उत्तरायण और शुक्ल पक्षकी प्रशस्तता या दक्षिणायन और कृष्ण पक्षकी अप्रशस्तताका विचार यहाँ नहीं रहता । जो मरणको ही मारकर अमर बने रहते हैं, उनका मरना ही क्या और कैसा ? वे मरनेके पहले ही मरकर अजर-अमर हुए रहते हैं । ज्ञानेश्वर महाराजने स्वयं ही कहा है—

'ब्रह्मनिष्ठ पुरुषोंके शरीरका नाम उपनाम कुछ रह नहीं जाता, इसलिये कब, कैसे उसका लय होता है यह खाली देखना-भर रह जाता है । इसलिये तन्निमित्त मार्ग ढूँढ़नेका क्या प्रयो-जन है ? कहींसे कहींको कोई जाता हो तब तो ? ऐसी तो कोई बात ही नहीं रहती; क्योंकि देश-कालादि सब कुछ वह स्वयं ही हो जाता है । घटके फूटनेपर घटाकाशको सीधा रास्ता मिले तो ही क्या वह महाकाशको प्राप्त होता है, नहीं तो क्या नहीं होता ? पूर्णबोध जहाँ है वहाँ रास्तोंका कोई झगड़ा नहीं है । सोऽहं-बोधको प्राप्त योगियोंके लिये कोई झगड़ा ही

नहीं है। कोई समय हो, देह रहो या जाओ, उससे अबाध ब्रह्म-भावमें कोई बाधा नहीं पड़ती।' (ज्ञानेश्वरी अध्याय ८)

ज्ञानेश्वरादि भाई-बहिनके समाधिस्थ होनेपर नामदेवके लिये जीना भार हो गया। कुछ वर्ष वह उनके सत्संगमें रहे, इससे बारम्बार उन्हींकी मूर्तियाँ उनके नेत्रोंके सामने आ-आकर छिप जाती थीं। एक बार नामदेव भगवान्‌से हठ कर बैठे कि, 'ज्ञानेश्वर जीवित समाधि लिये बैठे हैं तो भी उनके दर्शनोंके लिये मेरा जी व्याकुल हो रहा है; इसलिये जिस तरहसे हो मुझे उनकी दिव्य मूर्तिके दर्शन कराइये, मैं आँखें भरकर उन्हें देख तो लूँ।' नामदेव-जैसे लाडले भक्तका हठ भगवान् पूरा न करें तो और कौन करे? भगवान्‌ने उन्हें बहुतेरा समझाया कि, तेरा जो आत्मा है वही ज्ञानेश्वर है, और वही मैं हूँ। पर इससे नामदेवरायको चैन नहीं मिला। उन्होंने भगवान्‌से कहा कि यह ब्रह्मज्ञान आप अपने ही पास रखें, मुझे तो उससे मिलाइये जो मेरे जीवनका सहारा है। किसी तरह इस हठको नामदेवरायने नहीं छोड़ा। वह प्रसंग कैसा प्रेमरससे भरा हुआ है! नामदेव और भगवान्‌का वह परम सुखदायक संवाद हम भी सुनें—

'नामा कहता है, हे भगवन्! इस संसारमें इन आँखोंको ज्ञानदेवके दर्शन क्या फिर होंगे? ज्ञानका वियोग होनेसे हृद्रोग लग गया, इसलिये भगवन्! ऐसा प्रयोग कीजिये कि फिर भेंट हो। भगवन्! इसी समय मुझे मेरा ज्ञानदेव दिखाइये, उसके बिना

जी छटपटा रहा है। सन्त बिछुड़ गये, सखा दूर चले गये, अब इस पण्ढरपुरमें कैसे रहूँ ?'

× × ×

'ज्ञानदेव मेरे सुखके सरोवर थे, उसमें मछली होकर मैं निश्चिन्त विचरता था। दुर्दैव-तापसे वह जल सूख गया। हे रघुवीर ! अब कृपामेघ बरसाइये, ज्ञानदेवके बिना ये प्राण व्याकुल हो रहे हैं। भगवन् ! आप तो जगज्जीवन हैं।'

× × ×

'यह कहते-कहते नामाके नेत्रोंमें जल भर आया और वह भगवान्के सामने धरतीपर गिर पड़ा।'

× × ×

'भगवान् कहते हैं, नामदेव ! देख, ज्ञानदेव तो मैं ही हूँ। ज्ञानदेव और मैं दो नहीं हैं। ज्ञानदेव तो मेरा आत्मा है। मेरे अन्दर अपना मन रख दे, यह व्याकुलता छोड़ दे, द्वैतको तोड़ दे। अरे नामा ! समझ ले, अच्छी तरह बूझ ले।'

× × ×

'ज्ञानेश्वर आत्मरूप हैं। वही ज्ञानका सागर है। ज्ञानदेवमें दृढ भाव धर। तू स्वयं ही ज्ञानदेव हो जायगा।'

× × ×

यह निर्गुण-बोध उस प्रेममय सगुण-भक्तको नहीं जँचा। 'मेरा ज्ञानेश्वर मुझे दिला दो' यही रट वह लगाये था।

'नामदेवने कहा, भगवन् ! यह ब्रह्मज्ञान अपने अन्दर ही रखें। आप अपनी मायामें छिपे रहते हैं और ज्ञान भावनाके

ओटमें रहता है। हमें उस ज्ञानकी परवा नहीं, हमें तो सन्त-मिलन ही प्यारा है। सन्तमिलनसे प्रेम उमड़ आता है और प्रेमसे भगवान्‌से मिलना चाहिये। नामदेवमें जो कुछ है, प्रेम ही तो है, पर इसका रास्ता ब्रह्मने रोक रखा है।'

× × ×

'मुझे भक्तिरसप्रेम ही दो, यही प्रेम देकर जन्म दो। प्रेम यदि हाथ आ जाय तो जहाँ रहूँ वहीं पण्ढरी हैं। ज्ञानदेवसे मिलाइये, केवल ज्ञान मत बताइये। तब जगन्माता भगवान्‌से कहती हैं कि नामाको ना मत कीजिये। आपके कीर्तन-रंगमें रँगकर नाचनेवाला भक्त यही नामा ही तो है। कीर्तनमें इसके सिवा और कौन नाचेगा? इसकी आर्त पूर्ण कीजिये।'

नामदेवका पक्ष लेकर जब स्वयं जगन्माता खड़ी हुईं तब क्या पूछना है! भगवान्‌को नामदेवका हठ पूरा करना ही पड़ा। ज्ञानेश्वर महाराजके साक्षाद्दर्शन नामदेवको प्राप्त हुए।

'इन नेत्रोंसे जब ज्ञानदेवको देख लिया तब नामदेवको बड़ा हर्ष हुआ। नामदेवने उनके चरण पकड़ लिये और कहा, 'आप तो सद्गुरुराज हो गये। मेरा तिरस्कार मत कीजिये, मुझे दूर मत ढकेलिये। हे नाथ! अब मुझे छोड़ कहीं मत जाइये, मैं तो आपकी ही कोखका बछरू हूँ।'

नामदेवके प्रति ज्ञानेश्वरका प्रेम भी उमड़ आया—

'प्यारे हरिके दास उदास नामदेव! हृषीकेशसे तुम्हारी बड़ी प्रीति है। हरिके दासोंमें तुम निराले ही कहाओगे।

नामदेव ! तुम प्रेमकी प्रतिमा हो । तुम विट्ठल भगवान्‌के लाडले हो, हम सवपर तुम्हारी वड़ी कृपा है ।'

नामदेवकी कामना पूरी हुई । नामको ज्ञान मिला ! नाम और ज्ञानकी मैत्री निरन्तर है । नाम और ज्ञानके मिलनमें भगवान् प्रकट होते हैं । नाम, ज्ञान और भगवान् तीन भिन्न-भिन्न शब्द हैं, पर इन तीनों शब्दोंमें एक भगवान् ही विराज रहे हैं ! नामका हठ है ज्ञानसे मिलनेका, तो भगवान्‌को वह पूरा करना ही पड़ता है । नामसे ज्ञानका मिलन भगवान् ही कराते हैं । नामके पास भगवान् हैं और भगवान्‌के पास ज्ञान है । नाम ही ज्ञान है और ज्ञान ही भगवान् है । ज्ञानदेव और नामदेव कोरे देवसे भी वड़े हैं । सत्, चित्, आनन्द इन तीन पदोंमें जैसे एक ही परमात्मा है अथवा 'अमृतानुभव' में स्वयं ज्ञानेश्वर महाराजने जैसा कहा है कि कान्ति, काठिन्य और कनक तीनों मिलकर एक कनक ही हैं अथवा द्राव, माधुर्य और पीयूष तीनों एक पीयूष ही हैं, वैसे ही सतत एकरूपसे रहनेवाले ज्ञान, नाम और भगवान् इन तीनों पदोंसे जो लक्षित होते हैं उन देवाधिदेव भगवान् पाण्डुरङ्गको मेरा साष्टांग प्रणाम स्वीकार हो ।

उपासना और गुरुभक्ति
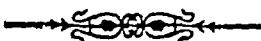
संसार-सा महान् दुःख जिसके मिलनेसे दूर हो जाता है और जो दयालु होकर ज्ञान-दान करता है उस गुरुका भजन कर।

—ज्ञानेश्वरी अ० १७-२०८

श्रीनिवृत्तिनाथको गहिनीनाथसे जो उपासना प्राप्त हुई वह उन्होंने ज्ञानेश्वरको दी। आदिनाथसे गहिनीनाथतक जो परम्परा चली आयी थी वह मुख्यतः योगमार्गके सम्बन्धमें थी। ये सभी नाथ योगेश्वर थे, पर श्रीनिवृत्तिनाथने अपने गुरुकी आज्ञासे अपने भाई-बहिनको श्रीकृष्णकी उपासनाकी दीक्षा दी और तभीसे महाराष्ट्रमें भागवत-धर्म या भक्तिमार्गका प्रचार हुआ। योगमार्गकी परम्पराको भी ज्ञानेश्वर महाराजने जारी रखा था। तथापि महाराष्ट्रमें भागवत-धर्मका जो प्रचार हुआ उसके आद्यप्रवर्तक ज्ञानेश्वर महाराजको ही समझना चाहिये। योग-विद्यामें यह किसीसे कम नहीं थे। भैंसेसे वेदमन्त्र कहलवाना, जड भींतको चलाना इत्यादि चमत्कार उन्होंने अपने योग-बलसे ही दिखाये थे। उन्होंने अपनी योग-विद्या सत्यामलनाथ नामक अपने एक शिष्यको दी और इसी परम्परामें आगे चलकर शिवदिनकेसरी नामक विख्यात ग्रन्थकार, मठाधिपति और भगवद्भक्त हुए। ज्ञानेश्वर महाराजने ज्ञानेश्वरीमें छठे अध्यायके १२ से १६ तकके श्लोकोंपर जो टीका की है वह योगप्रधान है। श्रीमत् शंकराचार्यने इस प्रसंगमें योगविषयक

कोई निर्देश या संकेत नहीं किया है; तथापि इसी प्रसङ्गमें ज्ञानेश्वर महाराजने योगानुभवकी यथेष्ट वर्षा की है। कुण्डलिनीको जगानेका साधन बतलाकर तथा कुण्डलिनीका विस्तारपूर्वक वर्णन करके उन्होंने कुछ सिद्धियोंके सम्बन्धमें अपना मत भी स्पष्ट प्रकट किया है। कहा है—

'तब वह समुद्रपारका दृश्य भी देख लेता है, स्वर्गका नाद भी सुन लेता है और चींटीके मनका हाल भी जान लेता है। आकाशमें उड़ता है, जलपर चलता है, पर जलका स्पर्श पैरोंको नहीं होने देता; ऐसी-ऐसी अनेक सिद्धियाँ प्रसङ्गसे आ जाती हैं।'

ऐसी अनेक सिद्धियाँ ज्ञानेश्वर महाराजके चरणोंपर लोटा करती थीं। तथापि जगदुद्धारका जो सीधा मार्ग उन्होंने दिखाया उसमें योग अथवा सिद्धियोंको कोई प्रधानता नहीं दी। योगबलसे चौदह सौ वर्ष जीये हुए चाङ्गदेवको आत्म-प्राप्ति नहीं हुई थी। यह उदाहरण उनके सामने ही मौजूद था। इस प्रकारकी एकदेशीय योगशक्तिसे परमार्थका विशेष साधन नहीं होता। एक स्थानमें उन्होंने कहा भी है कि 'योगयाग-विधिसे कोई सिद्धि नहीं होती। व्यर्थ ही उपाधि और दम्भ बढ़ता है।' योगशास्त्र झूठा नहीं है, सिद्धियाँ भी झूठी नहीं हैं; पर आत्मप्राप्तिके साधनमें उनका कोई उपयोग नहीं है, प्रत्युत वे विघ्नस्वरूप ही हैं। भागवत-धर्ममें योगसिद्धिका कोई प्राधान्य नहीं है। योगकी कवायदसे भगवान् नहीं मिला करते। श्रीमद्भागवतके ग्यारहवें स्कन्धके पन्द्रहवें अध्यायमें सिद्धियोंका विस्तार पूर्वक वर्णन किया

गया है पर इसी वर्णनके अन्तमें (श्लोक ३२–३५) यह बतलाया है, 'जितेन्द्रिय और भगवद्ध्यानरत पुरुषके लिये कोई भी सिद्धि दुर्लभ नहीं है; तथापि जो उत्तमयोग (अर्थात् जीव और परमात्माका योग याने मिलन) का अभ्यास करनेवाले हैं उनके लिये ये सिद्धियाँ अन्तरायस्वरूप हैं और इसलिये इनकी इच्छा न करनी चाहिये; जो भगवान्‌के साथ तन्मय हो जाना चाहते हैं उनके लिये तो ये सिद्धियाँ समय व्यर्थ नष्ट करनेवाली होती हैं; इसलिये सब सिद्धियोंके स्वामी, योग, ज्ञान, मोक्षके निधान जो स्वयं श्रीहरि हैं उन्हींकी शरणमें अनन्य भावसे जाना चाहिये।'

अन्तरायान् वदन्त्येता युञ्जतो योगमुत्तमम्।

इस भागवत-वचनके अनुसार ही सन्तोंका अनुभव है। इस सम्बन्धमें एकनाथ महाराज कहते हैं—

'मेरा स्वरूप शुद्ध अद्वैत है। वहाँ सिद्धियोंके जो मनोरथ हैं वे सब केवल लोकरञ्जनके लिये हैं। उनमें कोई परमार्थ नहीं है। निर्हेतुक होकर मेरा भजन करनेसे मैं शीघ्र प्राप्त होता हूँ। यहाँ यदि सिद्धियोंमें मन लग जायगा तो मैं प्राप्त होनेवाला नहीं। सब योगोंका भण्डार, वेदान्तका धाम और सिद्धियोंका परम सार तो है भगवान्‌की आचारसहिता भक्ति।'

योग, कर्म, वेदान्त (ज्ञान) से जो भगवान् प्राप्त होते हैं उन्हींसे अनन्य प्रेम, उन्हींके अखण्ड नामस्मरणमें तल्लीनता और सर्वत्र सब प्राणियोंमें, सब पदार्थोंमें भगवद्भाव ही तो मुख्य भागवत-धर्म है और इसीका उपदेश गैनीनाथने निवृत्तिनाथको और

निवृत्तिनाथने ज्ञानेश्वर महाराजको दिया। यह कहना तो बड़े साहसका काम होगा और यह सर्वथा सच भी नहीं है कि सब नाथ केवल योगी थे और ज्ञान और भक्तिसे उनका कुछ भी सम्पर्क नहीं था तथापि यह तो स्पष्ट ही है कि पहलेके नाथ योगको ही जैसे प्रधान अङ्ग मानते थे वैसे ही निवृत्तिनाथ और उनके शिष्य-प्रशिष्य मुख्यतः भक्ति और नामस्मरणका ही भरोसा करते थे। योग-प्रक्रिया सबके लिये सुगम भी नहीं है, विरला ही कोई शिष्य इस मार्गपर चल सकने योग्य मिल सकता है। भक्ति-मार्गकी यह बात नहीं है। सुजान-अजान, पढ़-अपढ़, छोटे-बड़े, पुण्यात्मा-पापात्मा, प्रज्ञावन्त-मूढ़ सभीके लिये यह तारक है। भगवान्‌ने गीतामें अर्जुनसे और भागवतमें उद्धवसे कहा है कि भक्ति-मार्ग ही अत्यन्त श्रेयस्कर है। गीता और भागवतके भरोसे भक्तजन विगत सात-आठ सौ वर्षसे भक्ति-पन्थका जय-जयकार कर रहे हैं।

निवृत्तिनाथ और उनके भाई-बहिनके मुख्य उपास्य देव 'श्री-कृष्ण' अर्थात् पण्ढरीके श्रीरुक्मिणीवर विट्ठल ही थे। इस सम्बन्धमें प्रमाणस्वरूप उन्हींकी उक्तियाँ यहाँ देते हैं—

निवृत्तीचें ध्येय कृष्ण हाची होय।
गयनिनाथें सोय दाखविली॥
निवृत्तीचें धन गोकुळीं श्रीकृष्ण।
यादव सहिष्णु हरि माझा॥

(निवृत्तिका ध्येय तो श्रीकृष्ण ही है और इसका रास्ता बताया है गैनीनाथने। निवृत्तिका धन गोकुलमें श्रीकृष्ण है।

सहिष्णु यादव वासुदेव ही मेरे हरि हैं।) इत्यादि उद्गार श्रीनिवृत्तिनाथके ही अभङ्गोंमें मिलते हैं। सोपानदेवने एक अभङ्गमें कहा है—

'श्रीकृष्णकी ओर ले जानेवाले रास्तेपर ही मैं चल रहा हूँ।'

मुक्ताबाईने भी कहा है—

'सम्यक्, तारक श्रीविट्ठल ही हैं। श्रीनिवृत्तिनाथने यह स्पष्ट ही बता दिया है।'

ज्ञानेश्वर महाराजके अभङ्गोंमें योगके संकेत करनेवाले भी कुछ अभङ्ग हैं। पर श्रीकृष्ण या श्रीविट्ठलकी भक्तिके अभङ्ग ही बहुत अधिक हैं। निवृत्तिनाथके ३५० अभङ्गोंमें श्रीकृष्ण-प्रेमसे ओत-प्रोत अभङ्ग ही सबसे अधिक हैं। उनके साम्प्रदायिक अभङ्ग तीसरे प्रकरण (४-४३-४४) में दिये हुए हैं। उनमें भी अन्तमें यही कहा है कि 'यह कुल कृष्ण-नामसे पावन हो गया।' दूसरे एक स्थानमें कहा है—

निवृत्तीचें गोत्र कृष्णनामें तृप्त।
आनन्दाचें चित्त कृष्णनामें॥

अर्थात् 'निवृत्तिका गोत्र कृष्ण-नामसे परितृप्त हो गया। यह चित्त कृष्ण-नामसे आनन्दमय हो गया।'

ज्ञानेश्वर महाराजने अपनी कृष्ण-भक्तिसे ही कृष्णगीता अर्थात् भगवद्गीता प्राकृत जनोंके उद्धारार्थ मराठी-भाषामें कही और कृष्णके अर्थात् रुक्मिणीवर विट्ठलके मुख्य क्षेत्र श्रीपण्ढरपुरकी बार-बार वारी (यात्रा) करके विट्ठल-नामका जयघोष किया और

कराया, और महाराष्ट्रमें भागवत-धर्मको हरा-भरा कर दिया। इस सम्बन्धमें श्रीनिवृत्तिनाथके उद्गार श्रवण कीजिये—

प्राणिया उद्धार सर्व हा श्रीधर। ब्रह्म हें साचार कृष्णमूर्ती॥१॥
तें रूप भीवरें पाण्डुरङ्ग खरें। पुण्डलीकनिर्द्धारें उभें असे॥२॥
युग अट्ठावीस उभा हृषीकेश। पुण्डलीक सौरस पुरवीत॥३॥
निवृत्तीचें गूज पाण्डुरङ्ग वीज। विश्वजनकाज पुरे कोडें॥४॥

(प्राणियोंका उद्धार जो कुछ है सब यह श्रीधर है। यह कर्म-सहित ब्रह्म साक्षात् श्रीकृष्ण-मूर्ति है। वह रूप इस भूमण्डलपर सचमुच पाण्डुरङ्गका रूप है जो पुण्डलीकके निर्द्धारसे यहाँ खड़ा है। अट्ठाईस युगोंसे भगवान् हृषीकेश इसी तरह खड़े हैं। पुण्डलीकके प्रेमकी मांग पूरी कर रहे हैं। निवृत्तिकी जो गुप्त बात है वह यही है कि विश्वजन-कार्यका वीज पाण्डुरङ्ग हैं, वही सबकी सब इच्छाएँ पूरी करते हैं।)

गैनीनाथने निवृत्तिनाथको कृष्ण-प्रेमका वीज बताया और उन्हें उनके परम गुरु गोरक्षनाथने भी आशीर्वाद दिया। निवृत्तिनाथको गोरक्षनाथका साक्षात् दर्शनलाभ हुआ था। निवृत्तिनाथने ही अपने एक अभङ्गमें कहा है कि 'निवृत्तिको गैनीदेवने सम्पूर्ण उपदेश दिया और गुह्यभाव गोरक्षनाथने बताया।' अस्तु, जो 'राम-कृष्ण' मन्त्र निवृत्तिनाथको मिला वही उन्होंने अपने शिष्यों-के द्वारा संसारको दिया है। नामस्मरण छोड़ उद्धारका और कोई मार्ग नहीं है—

रामकृष्ण मन्त्र जनासी उद्धार।
आणीक साचार मार्ग नाहीं॥

इस प्रकार उन्होंने अपने अनेक प्रेमभरे अभङ्गोंमें कहा है। श्रीनिवृत्तिनाथके उपदेशानुसार ज्ञानेश्वर प्रभृति शिष्यगण बड़े आनन्दसे नाचते-गाते हुए पण्ढरीकी यात्रा करते और विट्ठल-नाम-संकीर्तन करते हैं, यह देखकर उन्हें बहुत हर्ष होता था। एक अभङ्गमें उन्होंने कहा है—

'सोपानका खेल, ज्ञानदेवका स्वानन्द, मुक्ताईका भाव सब विट्ठलराज ही तो हैं। उनके करताल और मृदङ्गसे विट्ठल-नाम ही निकलता है। खेचरका प्रेम भी श्रीविट्ठलसे ही है। निवृत्तिनाथ ज्ञानदेवसे कहते हैं कि पुण्डलीकके साथ हरी खेला करते हैं।'

ये भाई-बहिन किस प्रकार उत्कट प्रेमसे अखण्ड नाम-जप किया करते थे कि—

'सुमनोंकी सुगन्धपर मोहित होकर भ्रमर जैसे इन्द्रियोंका मार्ग भूल जाते हैं वैसे ही ये सन्त विट्ठल-ध्यानसे तृप्त होकर नित्य हरि-चरणोंमें एकान्त करते हैं। न इन्हें दिनकी सुध रहती है, न रातकी, अखण्ड हरि-चिन्तनमें ही पड़े रहते हैं। हरीमें लीन होकर प्रेम-कल्लोलका अनुभव करते, हरिके राजहंस बने अमृत पान करते हैं। विट्ठल-नामका प्रचण्ड घोष करते हुए नामके ही सुमनसे हरिका पूजन करते हैं। निवृत्ति उसी एकान्त-में तल्लीन हो गया और हरिके सङ्गसे प्रपञ्चसे मौन हो गया।'

निवृत्तिनाथने दधिकांदौके अभङ्गोंमें यह वर्णन किया है कि उस समयके सन्त किस प्रकार एकत्र होकर प्रेमसे विट्ठल-नाम—कांदौ-

सेवन करते थे। सर्वत्र निवृत्तिनाथने यही वर्णन किया है कि विश्वरूपमें भगवान् ही सजे हैं, सब भूतोंमें भगवान् ही विराज रहे हैं, यही भाव चित्तमें रखकर 'राम-कृष्ण हरिनाम' मन्त्रका अखण्ड घोष करो; निन्दा और छल सन्तोषपूर्वक सहकर हरिगुण गाओ; नामस्मरणके सिवा उद्धारका और कोई उपाय नहीं है; सदाचारसे रहो और 'हरि-हरि' कहो यही एकमात्र उपाय है। यह उपदेश उन्होंने सबको दिया; पर ज्ञानेश्वर महाराजने गुरु-कृपाके पूर्ण पात्र होकर वह सम्पूर्ण उपदेश आत्मसात् कर लिया और उसे शतगुण करके संसारको दिखा दिया। ज्ञानेश्वर महाराजको इस प्रकार निवृत्तिनाथसे श्रीकृष्णकी उपासनाका रहस्य प्राप्त हुआ। जिन श्रीगुरुने अमोल ब्रह्मबोध करा दिया, विश्वात्मभाव जगा दिया, नामामृत पान कराया, गीताभाष्य करनेकी स्फूर्ति प्रदान की और सबसे अधिक यह कि ज्ञानेश्वर-नाम अन्वर्थक किया उन श्रीसद्गुरुके प्रति इन शिष्योत्तमका क्या भाव था, यह अब देखें।

श्रीज्ञानेश्वर महाराजके चरित्रमें 'गुरु-भक्ति' का बड़ा माहात्म्य है। ज्ञानेश्वरी ग्रन्थ उन्होंने नेवासेमें निवृत्तिनाथके सामने ही कहा और निवृत्तिनाथके प्रसादसे ही उन्हें पूर्ण ब्रह्मानुभव प्राप्त हुआ और इस कारण ज्ञानेश्वरीमें जितने मङ्गलाचरण हैं वे सब गुरु-भक्तिके अमृतरससे ओत-प्रोत हैं। गुरु-प्रसादसे ही पूर्णबोध हुआ और मेरा उद्धार हुआ यही उनका अनुभव था। और उन्होंने बार-बार यही कहा है कि श्रीगुरुके प्रसादके बिना आत्म-प्राप्तिके अन्य सब साधन व्यर्थ हैं और गुरुका प्रसाद ही

एक ऐसा साधन है कि इसी एकमें अन्य सब साधन सिद्ध होते हैं।

गृह-त्याग, भस्म-धारण, जटा-भार, जप, तप, अनुष्ठान, यज्ञ, दान, वेद-शास्त्राध्ययन आदि सब साधन हैं; परन्तु सद्गुरुनाथके पद्महस्तका मस्तकको स्पर्श जबतक नहीं होता तबतक शान्ति-सुख नहीं मिल सकता। आगे यही बतलाते हैं—

कां सांडिसी गृहाश्रम। कां सांडिसी क्रियाकर्म।
कासया सांडिशी कुळींचे धर्म। आहे तें वर्म वेगळेंची॥१॥
भस्मउधळण जटाभारू। अथवा उदास दिगंबरू।
न धरी लोकांचा आधारू। आहे तो विचारू वेगळाची॥२॥
जप तप अनुष्ठान। क्रियाकर्म यज्ञदान।
कासया इंद्रियां बंधन। आहे तें निधान वेगळेंची॥३॥
वेदशास्त्र जाणीतलें। आगमीं पूर्ण ज्ञान झालें।
पुराणमात्र धांडोलिलें। आहे तें राहिलें वेगळेंचि॥४॥
शब्दब्रह्में होसी आगला। म्हणसी न भियें कलिकाला।
बोधेंवीण सुखसोहला। आहे तो जिव्हाला वेगळाची॥५॥
याकारणें श्रीगुरुनाथु। जंव मस्तकीं न ठेवी हातु।
निवृत्तिदास असे विनवितु। तंव निवांतु केविं होय?॥६॥

(गृहाश्रम किसलिये छोड़ते हो? क्रिया-कर्म छोड़नेका क्या काम है? कुलधर्म भी क्यों छोड़ते हो? [इनके छोड़नेसे क्या होगा?] जो बात है वह तो कुछ और ही है। भस्म रमानेसे, जटा-भार बढ़ानेसे, उदासी या दिगम्बर-वेश धारण

करनेसे क्या होगा? संसारके लोगोंको अपना आधार मत बनाओ; क्योंकि वहाँका जो विचार है वह तो कुछ और ही है। जप, तप, अनुष्ठान, क्रिया, कर्म, यज्ञ, दान, इन्द्रिय-दमन आदि यह सब किसलिये? वह निधान तो कुछ और ही है। वेद शास्त्र जाना, आगमका पूरा ज्ञान हो गया, सब पुराणोंको छान डाला; पर जो बात रह गयी वह तो कुछ और ही है। शब्दब्रह्मका परिचय पा लोगे, कहोगे कलिकालसे अब मुझे कोई भय नहीं रहा, पर बोधके बिना यह सब किस काम आवेगा? वह जीका जो आनन्द है वह तो कुछ और ही है। इसलिये निवृत्तिदास (ज्ञानेश्वर) की यही विनय है कि जबतक श्रीसद्गुरुनाथ मस्तकपर हाथ न रखें, तबतक वह शान्ति-सुख कैसे मिलेगा?)

आगे फिर निवृत्तिके धर्मका क्या ही सुन्दर वर्णन करते हैं—

'हे ईश्वर! तुम्हें मैंने भुला दिया था, इसीसे दृष्टिपर परदा पड़ा था, विषय-ग्रन्थियोंमें मैं बँधा था और उससे विह्वल हो रहा था, दृष्टि ऐसी अन्ध हो गयी कि यह काल मुझे निगल जाना चाहता था; पर दैवयोगसे एकाएक कृपालु निवृत्तिनाथ मिल गये। निवृत्तिका धर्म जागा, उससे परदा फट गया, ज्ञानका निजबोध हुआ, सब विज्ञानरूप हो गया। सद्गुरुरूप माताने तीनों लोकमें विश्व-रूप देखनेकी अद्वैत-भावकी दिव्य दृष्टि दी, उससे द्वैत कहीं रही नहीं गया। उपदेश निजब्रह्म हुआ, ज्ञानाञ्जनकी छाया हुई; चिद्रूप दीपको देखा, वहाँ तन, मन शान्त हो गये। यह दान जो उन्होंने दिया, इसीका स्वाद सबसे मधुर है; अब देहदृष्टि चली

गयी, देह ही विलीन हो गयी और विदेहवृत्ति स्फुरित हुई, विज्ञान प्रकट हुआ, ज्ञेय-ज्ञाता विलीन हो गये, दृश्य तदाकार हो गया, ममता समाप्त हो गयी। प्रपञ्च कुछ रही नहीं गया, एकाकार वृत्ति हुई, मैं-मेरा कहीं न रहा...., सद्गुरुबोधसे उपरति हुई, वहाँ प्रकृति सञ्चरित थी, धर्म-मार्गपर चलनेके लिये शुद्ध पन्थकी लाठी उन्होंने हाथमें दी। ऋषि-मुनि वेद-मार्गसे गये, उसी मार्गसे मैं भी चला, विषयान्धको यह सब नहीं दीख पड़ता, इसलिये स्पष्ट करके कहा है।....'

सब भूतोंमें श्रीहरिको देखो, यह बतलाकर सद्गुरु श्रीनिवृत्तिनाथने, ज्ञानेश्वर महाराज बतलाते हैं कि,

'राम-कृष्ण मन्त्रसे मेरे सब अङ्गोंका प्रोक्षण किया। तब सर्वत्र हरिरूप दिखायी देने लगा।'

ज्ञानेश्वरीमें गुरु-भक्तिके उल्लेख

ज्ञानेश्वरीमें श्रीनिवृत्तिनाथके सम्बन्धमें ज्ञानेश्वर महाराजके जो अत्यन्त प्रेम, निष्ठा और आदरके उद्गार हैं उनका अब संक्षेपमें विचार करें। ज्ञानेश्वरी, अमृतानुभव तथा अभङ्गोंमें उनकी अपार गुरु-भक्ति जहाँ-तहाँ प्रकट हुई है। श्रीगुरुकी सगुण मूर्ति सदा सन्निध और सम्मुख ही थी और उसके द्वारा इन्हें ब्रह्मज्ञान प्राप्त हुआ था। इस सगुणरूप और निर्गुण ब्रह्मज्ञानका तादात्म्य इनके अन्दर इतना पूर्ण हुआ था कि इन गुरुस्तवनात्मक अभंगोंमें कहीं श्रीनिवृत्तिनाथकी सगुण मूर्तिको सम्बोधन कर, कहीं गुरुगम्य ब्रह्म-वस्तुको सम्बोधन कर तथा कहीं स्वानन्दमय आत्मारामको

सम्बोधन कर उन्होंने गुरुकी स्तुति की है। उनकी अपूर्व गुरु-भक्तिको मैं पामर क्या बखान सकता हूँ ? उनकी बात उन्हींकी वाणीसे हम-आप श्रद्धापूर्वक प्रेमसे सुनें और सद्गुरु-चरणोंमें अनन्य भावसे यह प्रार्थना करें कि गुरु-भक्तिका यह मधुर अनुभव हमें भी प्राप्त हो।

(१) ज्ञानेश्वरीके उपोद्घातमें महाराज गुरुका इस प्रकार चिन्तन करते हैं—

'सद्गुरु मेरे हृदयमें हैं, जिनकी कृपासे मैं संसार-सागरको पार कर गया। इसलिये विवेकके भी ऊपर उनका स्थान है। सद्गुरु मुझे ऐसे मिले जैसे किसीके नेत्रोंको वह अञ्जन मिल जाय जिससे दृष्टि खुल जाय और फिर चाहे जहाँका गुप्तधन सामने आ जाय। अथवा यह कहिये कि वह चिन्तामणि ही हाथ लग गया जिससे सब मनोरथ पूर्ण होते हैं। ज्ञानदेव कहते हैं, श्री-निवृत्तिनाथ ऐसे ही पूर्णकाम हैं। इसलिये जो समझदार हैं उन्हें गुरुका भजन करना चाहिये, उसीसे कोई भी कृतकार्य हो सकता है, जैसे मूलको सींचनेसे शाखा-पल्लव आप ही प्रफुल्लित होते हैं।........'

इस नमनमें उन्होंने जैसे कहा है कि मैं पूर्णकाम हुआ, संसार-सागरको पार कर गया, वैसे ही सतरहवें अध्यायमें उन्होंने कहा है—

तैसा तुझिया प्रणतीं।
मी पूर्ण जालों श्रीनिवृत्ति॥

[हे निवृत्तिनाथ ! तुझे प्रणाम करके मैं पूर्ण हो गया ।]

एक अभङ्गमें वह कहते हैं कि 'पीठपर जब स्वयं श्रीगुरु हैं तब औरोंकी बात ही क्या है ? जो स्वयं राजकन्या है उसे भीख माँगनेका क्या काम ? वह तो जो इच्छा करे वही हो । कल्पतरुके नीचे जो बैठा हुआ है उसे फिर कमी क्या ? (ज्ञानदेव कहते हैं) मैं तर गया, गुरुकृपासे मैं सचमुच ही तर गया ।'

(२) फिर छठे अध्यायके आरम्भमें कहते हैं—

'जो बुद्धिको ढूँढे नहीं मिलता पर इन्द्रियोंसे छिपकर जो मिलता है उसे मैं श्रीनिवृत्तिदीपके प्रकाशमें देखूँगा । जो आँखोंसे नहीं देखा जा सकता वह आँखोंके बिना देखा जा सकता है यदि अतीन्द्रिय ज्ञान प्राप्त हो । पर यदि सद्गुरुकी कृपा हो जाय तो क्या नहीं हो सकता ? इसलिये ज्ञानदेव कहते हैं, सद्गुरुकी महिमा अपार है। इस कारण मैं अनिर्वाच्यको वाणीमें ले आऊँगा, अरूपका रूप देखूँगा, जो अतीन्द्रिय है उसको इन्द्रियोंद्वारा भोग कराऊँगा ।'

(अतींद्रियपरी भोगवीन । इंद्रिया करवीं ॥३६॥)

इसी अध्यायके अन्तमें महाराज कहते हैं, 'श्रीनिवृत्तिनाथको ज्ञानबीज बोना था । उसके अनुकूल सामग्री भी जुट गयी । आपलोग श्रोता, मैं वक्ता और श्रीगुरु महाराज प्रेरणा करनेवाले । सत्त्वगुणकी वृष्टिसे त्रिविध ताप बह गये और आप श्रोताओंकी चित्तवृत्तियाँ विमल हो गयीं । इसपर फिर अवधानका सुवर्ण-संयोग होनेसे श्रीनिवृत्तिनाथको ज्ञान-बीज बोनेकी उत्कण्ठा हुई । वह बीज

बोनेके लिये उन्होंने बड़े प्रेमसे मुझे वक्ता बनाया और मेरे मस्तकपर हाथ रखकर वह ज्ञानबीज मेरे अन्दर डाल दिया।'

दसवें अध्यायके आरम्भमें उन्होंने अपने 'आराध्यलिंग' श्री-सद्गुरुनाथका बड़ा ही सुन्दर स्तवन किया है—

नमो विशदबोधविदग्धा[1]। विद्यारविन्दप्रबोधा[2]।
पराप्रमेयप्रमदा— । विलासिया[3] ॥ १ ॥
नमो संसारतमसूर्या । अपरिमित परमवीर्या ।
तरुणतरतुर्या— । लालनलीला[4] ॥ २ ॥
नमो जगदखिलपालना । मंगलमणिनिधाना[5]।
सज्जनवनचंदना । आराध्यलिंगा ॥ ३ ॥

आगे फिर गुरुकी महिमा बखान करते हैं—

जी दैविकी उदार वाचा । जैं उद्देश दे 'नाभि' काराचा ।
तैं नवरससुधाब्धीचा । थाउ लाभे ॥ ७ ॥

'श्रीसद्गुरु अपनी उदार दैवी वाणीसे 'अभय' दान करते हैं तब नवरसोंके सुधासागरकी थाह मिलती है।'

हे असो दिठी जयावरि झलके । कीं हा पद्मकार माथांपारुखे ।
तो जीवचि परी तुके । महेशेशीं ॥ ६ ॥

१–विमल आत्मबोध करानेमें अतिदक्ष। २–ब्रह्मविद्यारूप कमलका विकास करनेवाले। ३–परा वाणीके अर्थरूप स्त्रीके साथ विलास करने-वाले। ४–तरुणी तुरीया अवस्थामें रमनेवाले। ५–कल्याणरूप रत्नोंके निधि।

'और तो क्या, जिसपर श्रीसद्गुरुकी कृपा-दृष्टि होती है या जिसके मस्तकको उनके वरद हस्तका स्पर्श होता है वह जीव हो तो भी शिवके समत्वको प्राप्त होता है।'

(४) बारहवें (भक्तियोगवाले) अध्यायके मङ्गलाचरणमें महाराजने सद्गुरुकी कृपा-दृष्टिका स्तवन किया है। उसमें भी अपने योगानुभवका उल्लेख करके वरदान माँगा है। यहाँ सचमुच ही आनन्दकी वर्षा कर दी है—

'हे शुद्ध! हे उदार! हे प्रसिद्ध! हे अखण्ड आनन्द बरसानेवाले! तुम्हारी जय हो। विषय-व्यालकी पकड़में जो आ जाता है, वह उठ ही नहीं सकता; पर तेरी कृपा-दृष्टिसे विषय-व्याल भी निर्विष हो जाता है। ताप तब किसको तपा सकता है, शोक किसको जला सकता है जब तुम प्रसाद-रस-कल्लोल उत्पन्न करते हुए महाप्रवाहके साथ आते हो?'

श्रीसद्गुरुसे महाराज क्या माँगते हैं?—

'हे मातः! मेरे इस ग्रन्थमें नवरसके सागर भर दो, इसे उत्तम रत्नोंका आकर बना दो और भावार्थोंके गिरिवर उत्पन्न कर दो। (११) हे मातः! मुझे ऐसा बना दो कि जहाँ-तहाँ मैं श्रीकृष्णके गुणगान करूँ और श्रोता श्रवण-राज्यपर बैठ कर सुनें। (१५) मराठीभाषारूप नगरमें ब्रह्मविद्याकी समृद्धि करो और ऐसा करो कि इसका आदान-प्रदान सबके लिये सुखकर हो।'

(५) तेरहवें अध्यायके ज्ञान-लक्षण-प्रसङ्गमें *'आचार्योपासनम्'* पदपर महाराजने बड़ी बहार दिखायी है । *'आचार्योपासनम्'* शब्द वाणीसे निकलते ही उनकी गुरु-भक्ति उमड़ आयी और अन्तःकरणका बाँध तोड़कर अखण्ड वक्तृत्वके द्वारा प्रवाहित होने लगी । उस प्रसङ्गकी बानवे ओवियाँ हैं जो उनके श्रीमुखसे अनायास निकल पड़ी हैं । गुरु-सेवाको उन्होंने 'दुखी जीवको ब्रह्मस्वरूप करनेवाली समस्त सौभाग्योंकी जन्मभूमि' कहा है और फिर यह बतलाया है कि गुरु-भक्त किस प्रकार गुरु-भक्तिमें तल्लीन हो जाता है, किस प्रकार वह गुरुका स्मरण करता है, कैसे ध्यान करता है ? कैसे पादसेवन करता है, गुरुको सर्वस्व अर्पण करके अपने उत्कट प्रेमके द्वारा किस प्रकार गुरुपूजनका सब उपकरण स्वयं ही बन जाता है, कैसे गुरुका दास्य करता है, कैसे गुरुके गुण-गानमें रँग जाता है ? महाराज स्वयं परम गुरु-भक्त थे । उसी अत्युत्कट गुरु-भक्तिका परमरस इस वर्णनमें भरा हुआ है । वर्णन इतना सरस है कि मूल ही और सो भी बारंबार पढ़कर ही उसका आनन्द लिया जा सकता है । श्रीसद्गुरु यदि दूर देशमें हों तो उनके दर्शन करने या उनकी वार्ता सुननेके लिये सच्चा भक्त शिष्य किस प्रकार उत्कण्ठित होता है, इस प्रसङ्गमें कहते हैं—

'गुरुका स्थान जिस देशमें होता है वही देश उसके हृदयमें रहता है जैसे विरहिन सदा अपने हृदयमें प्राणपतिका चिन्तन किया करती है (३७५) । उस ओरसे बहती हुई जो बयार आती है उसे भी वह आलिङ्गन करता है और कहता है—गुरुदेव!

अब पधारिये और इस गृहको पवित्र करिये (३७६) । (गुरु-आज्ञासे ही जो शिष्य अपने गाँव और घरमें है, गुरु-आज्ञाके विना जो इन्हें छोड़कर नहीं जा सकता, वह कहता है कि गुरु-आज्ञाका) यह वन्धन कव खुलेगा और कब गुरुस्वामीके दर्शन होंगे ! (यह वियोग तो अब सहा नहीं जाता) एक-एक पल युगसे भी वड़ा मालूम होता है (३७९) !'

हृदयशुद्धिके परमशुचि देशमें आनन्दके देवालयमें श्रीगुरु-लिंगपर वह ध्यानामृतका अभिषेक करता है—

'कभी गुरुको अपनी भक्तिके वलसे माता वना देता है और फिर स्तनपानके आनन्दका अनुभव करता माताके वक्षस्थलपर शिशुवत् लोट-पोट करता है (३९६) । अथवा चैतन्यतरुके नीचे गुरुको कामधेनु बनाकर उसके स्तनोंसे लगकर स्वयं वत्स बन जाता है । (३९७) अथवा कभी इसी ध्यानमें मग्न होता है कि गुरु-कृपाके स्नेह-सलिलमें मैं मीन होकर तैर रहा हूँ (३९८) । और कभी गुरुको पक्षिणी बनाकर उसकी चोंचसे तृण ले लेता है अथवा कभी गुरुको भवसमुद्रमें स्वयं तैरकर शिष्यको तारने-वाला तरण-तारण समझकर उसकी कमरसे लिपट जाता है (४०१) ।'

यह श्रीसद्गुरुके ध्यानका अन्तर्भोग हुआ । ऐसी ही ब्रह्म-सेवा है और गुरुभक्तकी यह उत्कण्ठा रहती है कि, मैं ही गुरुका सारा परिवार वनकर उनकी सेवा करूँ । श्रीगुरुका भवन मैं वनूँ, द्वार मैं वनूँ, द्वारपाल मैं वनूँ, छत्र और छत्रधारी भी मैं ही

बनूँ, श्रीगुरुपर चँवर धरनेवाला, दीप दिखानेवाला और ताम्बूल देनेवाला भी मैं ही बनूँ—

'गुरुका आसन, वस्त्र, अलङ्कार चन्दनादि उपचार मैं बनूँगा ॥ ४२१ ॥ मैं ही रसोई बनाकर गुरुकी थाल परोसूँगा, मैं ही सेज साफकर बिछाऊँगा और फिर मैं ही उनके पैर दबाऊँगा ॥ ४२४ ॥ श्रीगुरुके नेत्र स्नेहसे जो-जो रूप देखें वे सब रूप मैं बनूँगा ॥ ४२८ ॥ उनकी रसनाको जो-जो रस रुचें वे सब रस मैं बनूँगा और गन्ध बनकर घ्राणसेवा करूँगा ॥ ४२९ ॥ इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ बनकर मैं श्रीगुरुके तन और मनकी सम्पूर्ण सेवा अपने हाथमें कर लूँगा ॥ ४३० ॥'

जबतक जीता हूँ तबतक तो इस प्रकार श्रीगुरुकी सेवा करूँगा ही, पर मरनेपर भी श्रीगुरु-चरणोंसे अलग नहीं रहूँगा—

इये शरीराची माती ।
मेळवीन तिये क्षिती ।
जेथ श्रीचरण उमे ठाती ।
श्रीगुरुचे ॥४३२॥
माझा स्वामी कवतिकें ।
स्पर्शत जिये उदकें ।
तेथ लया नेईल निकें ।
आपीं आप ॥४३३॥

'इस शरीरकी मिट्टी मैं उसी भूमिमें मिला दूँगा जिस भूमिपर मेरे श्रीसद्गुरुके श्रीचरण अङ्कित होंगे ॥ ४३२ ॥ मेरे स्वामी अपने

आनन्दमें जिस जलको स्पर्श करेंगे उसी जलमें अपने शरीरका रस मिला दूँगा ॥ ४३३ ॥'

गुरुभक्तकी गुरुनिष्ठा कितनी असीम होती है यह आगे बतलाते हैं—

'वह गुरुका दास्य करनेमें अपना शरीर कृश कर डालता है और गुरुके प्रेमसे पुष्ट होता है; वह गुरुकी आज्ञाका मानो निवास-स्थान बन जाता है ॥ ४४३ ॥ वह गुरुके कुलसे कुलवान् होता है, गुरुबन्धुओंके सौजन्यसे सुजन होता है, गुरु-सेवाका ही एकमात्र उसे व्यसन होता है ॥ ४४४ ॥ गुरु-सम्प्रदाय-धर्म ही उसका वर्णाश्रम-धर्म और गुरु-परिचर्या ही उसका नित्य-कर्म होता है ॥ ४४५ ॥ गुरु ही तीर्थ, गुरु ही देवता, गुरु ही माता और गुरु ही उसके पिता होते हैं; गुरुसेवाके अतिरिक्त और कोई मार्ग वह नहीं देखता ॥ ४४६ ॥ श्रीगुरुका द्वार ही उसका सर्वस्व सार होता है और गुरुके जो अन्य सेवक होते हैं उन्हें वह सहोदर बन्धुओंके समान प्यार करता है ॥ ४४७ ॥ उसके मुखमें गुरु-नामका ही मन्त्र होता है। गुरुवाक्यके बिना वह और किसी शास्त्रको स्पर्श भी नहीं करता ॥ ४४८ ॥ श्रीगुरुचरण चाहे जैसे जलको स्पर्श करें, वह उस जलमें तीनों लोकके तीर्थोंकी यात्रा कर लेता है ॥ ४४९ ॥ श्रीगुरु जब चलते हैं तब उनके चलनेसे पैरोंके पीछे जो धूलिकण उड़ते हैं उन्हें भी वह कैवल्यसुखके साधक जानकर प्रेमसे ग्रहण करता है ॥ ४५१ ॥'

गुरुभक्तिकी इतनी बड़ी महिमा ? *'आचार्योपासनम्'* का पद क्या और उसका इतना बड़ा विस्तार ? यह बात तो कुछ प्रसङ्गके बाहरकी-सी हुई, ऐसी शङ्का श्रोताओंके मनमें उठ सकती है । इसलिये महाराज बतलाते हैं कि, 'गुरुसेवामें मैं हाथसे लाचार हूँ, भजनावधानमें मैं अन्धा हूँ, परिचर्यामें पंगु हूँ, गुरुके गुणगान-में गूँगा (गूँगा ही तो यह सब कह रहा है !) और आलसी हूँ; तथापि गुरुसेवा मुझे अत्यन्त प्रिय है ॥ ४५८ ॥'

(६) चौदहवें अध्यायमें श्रीगुरुके व्यापक स्वरूपका स्तवन (१ । १५) करके आगे (१६ । ३०) गुरुप्रसादकी याचना की है—

जयजय आचार्या । समस्तसुरवर्या ।
प्रज्ञाप्रभातसूर्या । सुखोदया ॥ १ ॥
जयजय सर्वविसांवया । सोहंभावसुहावया ।
नाना लोक हेलावया । समुद्रा तूं ॥२॥
आइकें गा आर्तबन्धू । निरन्तर कारुण्यसिन्धू ।
विशदविद्यावधू- वल्लभाजी ॥ ३ ॥

इसमें गुरुको समस्त सुरोंके श्रेष्ठ, प्रज्ञा-प्रभातके सूर्य, सबके विश्रान्तिस्थान, सोहंभाव उदय करानेवाले, नाना लोक हिलाने-वाले समुद्र, करुणासिन्धु, ब्रह्मविद्यावधूके वल्लभ कहकर स्तुति की है । फिर कहा है कि पृथ्वी, रवि, चन्द्र, अनिल, वायु आदि-के प्रकाशक और प्रेरक आप ही हैं, आपके दर्शन जबतक नहीं होते तभीतक वेदोंकी वाणी है । इत्यादि अनेक प्रकारसे परम

पुरुषरूप श्रीसद्गुरुकी स्तुति करके ज्ञानेश्वर महाराज आगे कहते हैं—

अगा विश्वैकधामा । तुझा प्रसादचन्द्रमा ।
करूं मज पूर्णिमा । स्फूर्तीची जी ॥ २३ ॥
जी अवलोकिलियां मातें । उन्मेषसागरीं भरतें ।
वोसंडेल स्फूर्तीतें । रसवृत्तींचे ॥ २४ ॥

'हे अखिल विश्वके परम धाम ! तेरा प्रसादचन्द्र मुझे अपनी पूर्णिमा बना दे जो ज्ञानस्फूर्तिकी पूर्णिमा है ॥ २३ ॥ पूर्णकलाकी पूर्ण छटा देखकर मेरे अन्दर उन्मेष-सागर उमड़ आवेगा और नव-रस स्फूर्तिमान् होकर बाहर बहने लगेंगे ॥ २४ ॥'

ज्ञानेश्वर महाराजका यह भाषण सुनकर सद्गुरु निवृत्ति-नाथ बोले—'स्तुति करते-करते द्वैत मत स्थापित न करो, प्रत्युत ग्रन्थका अर्थ खोलकर बता दो।' ज्ञानेश्वर महाराजने उत्तर दिया—'मैं इसी आज्ञाकी प्रतीक्षा कर रहा था; 'पर यह मैंने किया या मुझसे हो गया' ऐसा कुछ भी नहीं है । यह कहकर ज्ञानेश्वर महाराजने ग्रन्थकर्तृत्वका सारा भार श्रीसद्गुरुके चरणों-पर रखा और तब ग्रन्थ कहने लगे । इस प्रसङ्गसे पहली पन्दरह ओवियोंमें उन्होंने गुरु-स्तुति की है और उसके बादकी पन्दरह ओवियोंमें वरयाचना और गुरु-शिष्य-संवाद है । इन सब ओवियों-का एक साथ विचार करनेसे यह मालूम होता है कि सामने बैठे हुए सद्गुरु श्रीनिवृत्तिनाथकी सगुण मूर्ति तथा विश्वात्मक परात्पर पुरुषोत्तम परमात्मा दोनोंका पूर्ण ऐक्य श्रीज्ञानेश्वर महाराजके अन्तःकरणमें हो चुका था ।

'सगुण निर्गुण एक गोविन्दु रे'

× × ×

साकार निराकार वस्तु सद्गुरु आमुचा।
तेणें या देहाचा केला उद्धारु रे॥

'सगुण-निर्गुण दोनों एक गोविन्द श्रीहरि ही हैं।' × × × 'साकार-निराकार आत्मा जो कुछ है वह हमारे सद्गुरु ही हैं। उन्होंने ही तो इस देहका उद्धार किया।' ज्ञानेश्वर महाराजका यही सिद्धान्त था। सगुण-निर्गुणकी एकता और स्वरूप-भेद बतलाते हुए बारहवें अध्यायमें (पचीसवीं ओवीमें) उन्होंने कहा—'सौ भरी सोना जिस कसौटीपर कसा गया हो उसी कसौटीपर उसी सोनेमेंसे एक भरी सोना अलग निकालकर कसा जा सकता है। इसलिये रूप व्यापक हो अथवा एकदेशीय, बात एक ही है।' गुरुनामके 'निवृत्ति' पदसे वह श्रीगुरु निवृत्तिनाथ तथा निर्गुण परब्रह्म दोनोंको एक साथ अनुभव करते थे। 'अमृतानुभव' ग्रन्थ (२।६१) में उन्होंने यह भी कहा है कि, 'शिष्य और गुरु-नाथ इन दोनों शब्दोंका अर्थ दोनों जगह श्रीसद्गुरु ही है।

म्हणोनि शिष्य आणि गुरुनाथु।
या दोनी शब्दांचा अर्थु।
श्रीगुरुचि परि होतु। दोहो ठायीं॥

तात्पर्य, परब्रह्म परमात्मा, ब्रह्मबोधक सद्गुरु और बोधेच्छु सत् शिष्य इन तीनोंके अन्दर एकताका जो तन्तु है, जो पूर्ण एकत्व है उस एकत्व और एकताके आसनपर ही बैठकर जो

देखेगा वही श्रीज्ञानेश्वरीके श्रीगुरुस्तवनका रहस्य अच्छी तरह समझ सकेगा। उपास्य और उपासकमें जब कोई भेद नहीं रहा तब उपासना कहाँ रही ?—इस तरहकी शंका द्वैतवादी पण्डितोंके मनमें उठा करती है। परन्तु ज्ञानेश्वर महाराजने अपने ग्रन्थमें स्थान-स्थानमें इसका समाधान किया है और एकनाथ, तुकारामादि सन्तोंने भी अभेद-भक्ति ही सर्वत्र गायी है। अठारहवें अध्यायकी ११५१ वीं ओवीमें महाराज कहते हैं—

अद्वैतीं भक्ति आहे। हें अनुभवाचि जोगें, नव्हे।
बोला ऐसें॥

(अद्वैतमें भक्ति है, यह अनुभव करनेकी बात है, बोलनेकी नहीं)। अमृतानुभवके नवें प्रकरणमें यह बात समझानेके लिये बड़ा ही सुन्दर दृष्टान्त दिया है। पर्वतकी गुफामें एक शिवालय खुदा हुआ है। वहाँ क्या देखते हैं ?—एक ही पत्थरके अन्दर देवता, देवालय और देवभक्त सभी हैं।

देव देऊळ परिवारु। कीजे कोरूनि डोंगरु।
तैसा भक्तीचा वेव्हारु। कां न व्हावा ? ॥४१॥

देवता, देवालय और परिवार जैसे एक ही पहाड़के अन्दर खोदे जाते हैं वैसे ही भक्तिका व्यवहार भी एकत्वमें क्यों नहीं हो सकता ? हो सकता है और अवश्य हो सकता है। '*शिवो भूत्वा शिवं यजेत्*' का अभिप्राय भी यही है। तुकाराम महाराजने कहा है—

अभेदूनि भेद राखियेला अंगीं। वाढावया जगीं प्रेमसुख।

अर्थात् भेदको अभेद करके रखा जिसमें संसारमें प्रेम-सुखकी वृद्धि हो। एकनाथ महाराज कहते हैं—

देवो देवपणें दाटला। भक्त भक्तपणें आटला।
दोहींचाही अंतु आला। अभेदो जाला अनन्तु॥

'अर्थात् देव देवत्वमें घनीभूत हुए, भक्त भक्तपनमें मिल गये; इस तरह दोनोंका ही अन्त हुआ और अभेद अनन्त होकर प्रकट हुआ।' यह अभेद-भक्तिका मर्म है। ज्ञानेश्वर महाराजने भी कहा है (अ० १५)—

साडेपंधरेलीं मिसलावें। तें साडेपंधरेंचि होआवें।
तेंवि मी जालिया संभवे। भक्ति माझी॥५६७॥

'साडेपन्द्रहके सोनेमें याने उत्तम सुवर्णमें उत्तम सुवर्ण मिलनेसे ही वह उत्तम सुवर्ण होता है वैसे ही मद्भक्ति मद्रूप होनेसे ही हो सकती है।'

यही क्यों, विभक्तिमें सच्ची भक्ति हो ही नहीं सकती! महाराज प्रश्न करते हैं—

हा गा सिंधूसि आनी होती। तरी गंगा कैसेनि मिळती।
म्हणोनि मी न होतां भक्ती। अन्वय आहे?॥५६८॥

'अरे देख तो सही, यदि गंगा समुद्रसे भिन्न होती तो क्या वह कभी उसमें मिल सकती? वैसे ही मद्रूप हुए विना मेरी भक्ति कैसे हो सकती है?'

समुद्रका कल्लोल जैसे समुद्रके साथ सर्वथा अनन्य होता है वैसे ही श्रीहरिके साथ अर्थात् श्रीगुरुदेवके साथ सर्वथा अनन्य

होना ही सच्ची भक्ति है । अभेद भक्तिका यह रहस्य ध्यानमें रखते हुए श्रीज्ञानेश्वर महाराजके उन उद्गारोंका मनन करना चाहिये जो उद्गार उन्होंने परब्रह्मरूप श्रीसद्गुरुके प्रति निकाले हैं । तात्पर्य—ब्रह्मवस्तु, ब्रह्मबोधक श्रीसद्गुरु और बोधपात्र सत्-शिष्य तीनोंमें एकात्मभाव है ।

(७) पन्द्रहवें अध्यायके मंगलाचरणमें (१ । २८) श्री-गुरुचरणोंका ही मानसपूजन करके महाराजने यह बतलाया है कि श्रीगुरुकृपासे इस वाणीको कैसा अलौकिक वैभव और सौभाग्य प्राप्त हुआ । श्रीगुरुचरणोंका ध्यान करते हुए बतलाते हैं कि हृदयकी चौकीपर श्रीगुरुकी पादुका रखें, ऐक्य-भावकी अञ्जलिमें सर्वेन्द्रियोंके पुष्प रखकर अर्घ्य प्रदान करें, एकनिष्ठताके जलसे धूतनिर्मल वासनाका चन्दन लगावें, प्रेमरूपी सोनेकी पैजनी श्रीगुरुके कोमलचरणोंमें और भक्तिके नूपुर उनकी उँगलियोंमें डालें, आनन्द परिमलसे भरे हुए सत्त्वका अष्टदल गुरुचरणोंपर अर्पण करें, 'अहं' भावका धूप दें, 'नाहं' भावका दीप दें, समरस अर्थात् ऐक्य-भावसे उन्हें आलिंगन करें, अपने तन और प्राणकी पादुका श्रीगुरुचरणोंमें पहनावें और उसपर फिर भोग और मोक्ष न्योछावर करें । इत्यादि श्रीगुरु-चरण-ध्यानका प्रसंग मननपूर्वक पढ़ते हुए पाठकोंके भी समाधि लग जाती है । इतना गाढ़ा रंग प्रत्येक पदमें भरा हुआ है ।

पन्द्रहवें अध्यायके अन्तमें पुरुषोत्तम-स्वरूपका यथातथ्य वर्णन करनेके पश्चात् महाराज कहते हैं—

आतां विश्वात्मक माझा। स्वामी श्रीनिवृत्तिराजा।
तो अवधारू वाक्यपूजा। ज्ञानदेव म्हणे ॥५९९॥

'अब मेरे विश्व-व्यापक सद्गुरु श्रीनिवृत्तिनाथ मेरा यह वाक्-पूजन ग्रहण करें।'

(८) सोलहवें अध्यायका मंगलाचरण (१।४०) बहुत बड़ा है। उसका प्रसंग यहाँ छेड़नेसे बहुत बड़ा विस्तार होगा, इसलिये दो एक ओवियाँ ही यहाँ देकर समाप्त करते हैं—

मावलवीत विश्वाभास। नवल उदयला चंडांश।
अद्वयाब्जिनीविकास। वंदूं आतां ॥१॥
जो अविद्याराती रुसोनियां। गिळी ज्ञानाज्ञानचांदणिया।
तो सुदिन करी ज्ञानिया। स्वबोधाचा ॥२॥

श्रीसद्गुरुको सूर्यकी उपमा देकर कहते हैं—'विश्वाभास-का नाश करनेवाले, अद्वैतज्ञानरूपी कमलिनीका विकास करने-वाले नवलसूर्यको अब वन्दन करते हैं। जो अविद्यारूप रात्रिको दूर करके ज्ञान और अज्ञान दोनों तारकाओंको निगल जाता है और जो ज्ञानीजनोंके लिये आत्मबोधका सुदिन कर देता है।' उस सद्गुरु-सूर्यके विषयमें आगे कहते हैं—बुद्धि और बोधके चक्रवाकोंकी जोड़ी भेदनदीके किनारे वियोगको प्राप्त होती है। दोनों एक दूसरेसे बिलग जाते हैं और दो किनारोंपर दोनों चिल्लाते हैं। चिदाकाशमें प्रकाशमान इस सूर्यके उदय होनेसे ये दोनों वियोगी फिर मिलते हैं और ऐक्यका आनन्द प्राप्त होता है—

तया चक्रवाकांचें मिथुन। सामरस्याचें समाधान।
भोगवी जो चिद्गगन। भुवनदिवा ॥६॥

वह सद्गुरु ऐसे हैं कि, 'उन बुद्धिबोधरूपी चक्रवाकोंकी जोड़ीको चिद्गगनमें भुवनदीप होकर समरस अर्थात् ऐक्यका समाधान प्राप्त कराते हैं,' यह कहकर आगे यों नमन करते हैं—

'अहोरात्र अर्थात् ज्ञानाज्ञानके परे जो ज्ञानसूर्य हैं उन्हें कोई देखना भी चाहे तो कैसे देखे ? उसके लिये प्रकाश्य कुछ भी नहीं है। वह स्वयं प्रकाशक है। ऐसे उन चित् सूर्य श्री-निवृत्तिनाथको मेरा बारंबार प्रणाम है।'

(९) सतरहवें अध्यायके मङ्गलाचरणमें १८ ओवियाँ हैं। इनमें 'आराध्यलिंग श्रीगुरुराज' का ही स्तवन है।

विश्वविकासित मुद्रा। जया सोडवी तुझी योगनिद्रा।
तया नमोजी गणेंद्रा। श्रीगुरुराया ॥१॥
त्रिगुण त्रिपुरीं वेढिला। जीवत्वदुर्गीं आडिला।
तो आत्मशम्भूनें सोडविला। तुझिया स्मृती ॥२॥

'हे श्रीगुरुराज ! विश्वरूपसे प्रफुल्लित मुद्रा जिन आपकी योगनिद्रासे निकलती है उन सब गणोंके नायक आपको मेरा प्रणाम है।'

'त्रिगुणरूप त्रिपुरसे घिरे हुए और जीवदशाके दुर्गमें कैद हुए जीवको (हे गणेन्द्र गुरुराज !) आपके ही स्मरणसे आत्मशम्भू मुक्त करते हैं।'

आपको इस प्रकार पहले ही गणेन्द्र कहा है। इससे लोग आपको वक्रतुण्ड कहनेमें भी न चूकेंगे। आप वक्रतुण्ड भी हैं, पर किसके लिये ?

जे तुम्या विखीं मूढ। तयां लागीं तूं वक्रतुण्ड।
ज्ञानियांसी तरी अखण्ड। उजूचि आहासी ॥३॥

'जो आपके विषयमें मूढ़ हैं उनके लिये आप टेढ़े मुँहवाले हैं। पर ज्ञानियोंके लिये आप सदा ही सरल सुमुख ही हैं।'

आपके दिव्य नेत्र सूक्ष्म हैं, पर उनके उन्मेष-निमेषमें विश्वकी सृष्टि और संहार हुआ करता है ॥ ६ ॥

हे सद्गुरुनाथ! आपसे जो सम्बन्ध जोड़ता है उसका संसारसे नाता टूटता है। आपके स्वरूपमें मिलते ही संसार छूट जाता है। जो ध्यान भी भुला देता है (ध्याता, ध्यान और ध्येयकी त्रिपुटी खड़ी नहीं करता) उसीसे आप स्नेह करते हैं। आपको अपनेसे अलग करके जो आपको पानेका उपाय करते हैं उनसे आप दूर ही रहते हैं ॥ १२ ॥

आप सहज सिद्ध हैं, ऐसे आपको जो नहीं जानता, संसार-में उसकी सर्वज्ञताका डंका बजता है। वेदकी वाणी भी आप नहीं सुनते इससे तो यह मालूम होता है कि आपकी राशिसे ही आपका 'मौन' नाम निकला होगा! तब मैं आपकी स्तुति कैसे करूँ? आप ईश्वर और मैं सेवक, यह भाव धारण करूँ तो आपके अखण्डैक रसत्वमें बाधा पड़ती है और आपका इस प्रकार द्रोह होता है! इसलिये मैं अब आपका कुछ भी नहीं होता। सर्वथा कुछ भी न होना ही हे अद्वय! आपको प्राप्त होना है। आपका यह रहस्य, हे आराध्य लिंग! मैंने समझ लिया। इसलिये अब आपसे अलग न होकर समुद्रमें जैसे लवण घुल जाता है वैसे ही मैं आप-को नमन करता हूँ। इससे अधिक अब और क्या कहूँ! (१४-१८)

(१०) अठारहवें अध्यायके मङ्गलाचरणकी २९ ओवियाँ तो अति ही उत्तम हैं ।

जयजय देव निर्मल । निजजनाखिलमंगल ।
जन्मजराजलदजाल । प्रभंजन ॥ १ ॥
जयजय देव सकल । विगतविषयवत्सल ।
कलितकालकौतूहल । कलातीत ॥ ३ ॥
जयजय देव निष्कल । स्फुरदमन्दानन्दबहल ।
नित्य निरस्ताखिलमल । मूलभूत ॥ ५ ॥
जयजय देव विशुद्ध । अविद्योद्यानद्विरद ।
शमदममदनमदभेद । दयार्णव ॥ ७ ॥

इस प्रकार विविध विशेषणोंसे उस निर्विशेषको सम्बोधन करना भी ठीक प्रतीत नहीं हुआ । तब महाराज कहते हैं—

जिहीं विशेषणें विशेषिजे । तें दृश्य नव्हे रूप तुझें ।
हें जाणें मी म्हणोनि लाजे । वानणा इहीं ॥१२॥

'जिन विशेषणोंसे आपकी स्तुति करता हूँ उनसे उत्पन्न होनेवाला दृश्य आपका यथार्थ रूप नहीं है, यह मैं जानता हूँ इससे इस स्तुतिसे लज्जित होता हूँ ।'

इसपर प्रश्न होता है कि फिर ऐसी स्तुति क्यों करते हो । इसका उत्तर देते हैं—

'हे सद्गुरुनाथ ! समुद्रकी मर्यादा प्रसिद्ध है । पर यह मर्यादा तभीतक है जबतक सुधाकरका उदय नहीं हुआ ।' चन्द्रोदय होते ही समुद्र उमड़े बिना कैसे रह सकता है ? ॥ १३ ॥

सोमकान्तमणि अपने उदकसे चन्द्रको अर्घ्य नहीं देता, प्रत्युत चन्द्र ही उससे अर्घ्य दिलाता है। वसन्तका आगमन होते ही वृक्ष पल्लवित होने लगते हैं, अथवा रविकरका स्पर्श होते ही पद्मिनी लोक-लाज छोड़कर प्रफुल्लित होती है 'वैसे ही'—

तैसा तूतें जेथ मी स्मरें। तेथ मीपण मी विसरें।
मग जाकलिला ढेंकरे। तृप्त जैसा ॥१७॥

'जहाँ मैं तेरा स्मरण करता हूँ वहाँ मैं अपना मैंपन विसर जाता हूँ तब भोजन करके तृप्त हुए मनुष्यके जैसे उसकी इच्छाके विना ही डकार-पर-डकार आने लगती है, वही मेरी अवस्था हो जाती है।'

'मैंपन' रखकर यदि मैं आपकी स्तुति करूँ तो गुण और दोष अलग-अलग करके देखना होगा। परन्तु ऐसा करूँ तो—

तरी तूं एकरसाचें लिंग। केविं करूं गुणागुणीं विभाग?।
मोतीं फोडूनि सांधितां चांग। कीं तैसेंचि भलें? ॥२०॥

'आप एक रसके लिङ्ग हैं, गुण और अगुणका विभाग कर ही कैसे सकता हूँ? मोतीको तोड़कर फिर उसे जोड़नेके वजाय उसे न तोड़ना ही क्या अधिक अच्छा नहीं है?'

आणि बाप तूं माये। इहीं बोलीं ना स्तुति होये।
डिंभोपाधिक आहे। विटाल तेथें ॥ २१ ॥

'और यदि मैं आपको माँ-बाप कहकर पुकारूँ तो यह भी आपकी यथार्थ स्तुति न होगी, उलटे मेरे लड़कपनकी उपाधिका आपको छूत लगेगा।'

तात्पर्य—

स्तुति कांहीं न बोलणें। पूजा कांहीं न करणें।
सन्निधि कांहीं न होणें। तुभया ठायीं॥ २५॥

'कुछ न बोलना ही आपकी स्तुति है; कुछ न करना ही आपकी पूजा है और कुछ न होना ही आपका सान्निध्य है।'

ज्ञानेश्वरीके उपसंहारमें ग्रन्थकर्तृत्वाभिमानका परिहार करते हुए महाराज कहते हैं—

'वह सर्वोपकारी समर्थ सद्गुरु श्रीनिवृत्तिनाथ मेरे अन्दर प्रवेश करके सब कर्म कर रहे हैं। इसलिये अनायास ही यह गीता मैं संसारको मराठी भाषाके द्वारा बतला रहा हूँ, इसमें आश्चर्य ही क्या है? पर्वतपर गुरु (द्रोणाचार्य) की मिट्टीकी मूर्ति स्थापित करके उनकी सेवा करनेवाले धीवर (एकलव्य) ने त्रिलोकमें ख्याति लाभ की थी। चन्दनके आसपासके वृक्ष चन्दनमय हो जाते हैं। वसिष्ठका काषायवस्त्र सूर्यनारायणके तेजसे प्रतिस्पर्धा करने लगा। ये बातें तो प्रसिद्ध ही हैं। पर वसिष्ठका काषायवस्त्र निर्जीव था और मैं सजीव हूँ, और मेरे सद्गुरुनाथ धनी हैं जो कृपाकटाक्षमात्रसे अपने पदपर बैठा लेते हैं। (१७२९—१७३३) इस प्रकार गुरुपरम्परासे प्राप्त हुआ समाधिरूप धन मेरे प्रभुने ग्रन्थरूपमें ग्रथितकर मुझे सौंप दिया। अन्यथा मैंने कुछ सीखा नहीं, कुछ पढ़ा नहीं, प्रभु सद्गुरुकी सेवा भी मैं नहीं जानता; ऐसा ग्रन्थ भला मैं क्या निर्माण कर सकता? परन्तु सच्ची बात यह है कि सद्गुरुनाथने मुझे निमित्त

करके इस ग्रन्थके बहाने संसारका संरक्षण किया। (१७६४—१७६६)

'अमृतानुभव' में गुरु-भक्तिके उल्लेख

अमृतानुभव ग्रन्थके दूसरे अध्यायमें सद्गुरुके वाच्य (सोपाधिक) और लक्ष्य (निरुपाधिक ब्रह्म) स्वरूपको लक्ष्य करके बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है।

आतां उपायवनवसंतु। जो आज्ञेचा अहेवतंतु।
अमूर्तचि परि मूर्तु। कारुण्याचा ॥ १ ॥

स्वस्वरूपानुभवके श्रवण-मननादि जो उपाय बतलाये गये हैं उन उपायरूप वनके लिये सद्गुरु वसन्तके समान हैं; अर्थात् वसन्तका आगमन होते ही वन फल-फूलोंसे सुसमृद्ध होता है, उसी प्रकार श्रवण-मननादि उपायोंके सफल होनेका संयोग एकमात्र श्रीसद्गुरुसमागम है। वही ब्रह्मविद्याका सौभाग्यसूत्र है। वह अव्यक्त है पर कारुण्यरूपसे मूर्तिमान् है।'

मोडोनि मायाकुंजरु। मुक्तमोतियाचा चोगरु।
जेववीता सद्गुरु। निवृत्ति वंदू ॥ २ ॥

'मायारूप हाथीको मारकर उसके गण्डस्थलके मुक्तमोती (अर्थात् नित्य-मुक्त आत्मभाव) का भोजन करानेवाले सद्गुरु श्रीनिवृत्तिनाथको मैं वन्दन करता हूँ।'

इस काममें अर्थात् बद्धको मुक्त करनेमें श्रीसद्गुरुको बहुत कष्ट उठाने पड़ते होंगे? उत्तर देते हैं, नहीं—

जयाचेनि अपांगपातें। बद्ध मोक्षपणी आतें।
भेटे जाणतया जाणते। जयापाशीं ॥ ४ ॥

कैवल्यकनकाचिया दाना। जो न कडसी थोरसाना।
द्रष्ट्याचिया दर्शना। पाढाऊ जो ॥५॥

'कैवल्य (मोक्ष) रूप सुवर्ण दान करते हुए वह छोटे-वड़े-का भेद नहीं किया करते।' कैवल्य अर्थात् केवल, चिन्मात्र वस्तु, गुण-धर्म-रहित निर्मल निरञ्जन वस्तु। सद्‌गुरु इसीका दान करते हैं याने इसीका स्मरण कराते हैं, 'तत्त्वमसि' की याद दिलाते हैं, वस्तुरूप तो सहज सिद्ध ही है; सद्‌गुरुको केवल मार्गदर्शक होना पड़ता है। 'द्रष्टा तो आत्माराम है, सद्‌गुरु उसके दर्शनके पथ-प्रदर्शक हैं।'

सद्‌गुरुको केवल मार्गदर्शक कहा इससे कोई यह न समझे कि सद्‌गुरुकी सामर्थ्य-महिमा कुछ कम हुई।

सामर्थ्याचेनि यिकें। जो शिवाचेंही गुरुत्व जिंके।
आत्मा आत्मसुख देखें। आरसा जिये ॥६॥

'सद्‌गुरुकी सामर्थ्य इतनी है कि वह शिवजीका गुरुत्व भी जीत लेते हैं।' अविद्योपाधि जीव मायोपाधि शिवके अधीन है। पिण्डका चालक जीव है, ब्रह्माण्डके चालक शिव हैं। इस तरह जीवसे शिव सर्वथा श्रेष्ठ हैं। पर शिवका यह गुरुत्व जीवसापेक्ष है। परन्तु हैं दोनों ही उपाधिमें। केवल सद्‌गुरु उपाधिके परे हैं, इस कारण उनकी दृष्टिमें जीव और शिव दोनों ही एक-से-ही वद्ध हैं। जैसे दो कैदी हों, एकके पैरोंमें वेडियाँ पड़ी हों और दूसरा केवल नजरवन्द हो; पर स्वतन्त्र मनुष्यकी दृष्टिमें दोनों ही कैद हैं; वैसे ही जीव और शिव दोनों ही उपाधिविशिष्ट

होनेसे बद्ध ही हैं; इनकी बद्धतामें जो तरतमभाव है वह नित्य-मुक्त सद्‌गुरुकी दृष्टिमें कोई चीज नहीं है। 'जीवात्माके आत्म-सुखके लिये सद्‌गुरु ही दर्पण हैं।'

जो भेटलियाचि सवें। पुरति उपायाचे धांवे।
प्रवृत्तिगंगा स्थिरावे। सागरीं जिये॥८॥

'उनकी भेंट होनेसे वह (साधक) साधनोंके भी आगे दौड़ता है और प्रवृत्ति-गंगा निवृत्ति-सागरमें मिलकर स्थिर हो जाती है।'

जिसके अनवसरमें अर्थात् अभानमें या विस्मरणमें जीव द्रष्टा बनकर जगत्‌को दृश्य बना लेता है और जिसकी भेंट होते ही अनेक नामरूपात्मक जगत् अस्तंगत हो जाता है, वही सद्‌गुरु-का सच्चा स्वरूप है। तात्पर्य, आत्मस्वरूपमें तन्मय होते ही द्रष्टा, दृश्य, दर्शनकी त्रिपुटी लोप हो जाती है और आत्मस्वरूपका विस्मरण होते ही वही त्रिपुटी अपना फैलाव फैलाती है। स्वरूप है तो जगत् नहीं और जगत् है तो स्वरूप नहीं। स्वरूपके लोपमें जगत्‌का भास है और जगत्‌के लोपमें स्वरूपका प्रकाश है। तब इस लोप और प्रकाशमें शिष्य और गुरुका भी भेद कहाँ रहा?

एकपण नव्हे सुसास। म्हणूनि गुरुशिष्याचें करूनि मिस।
पाहणेंचि आपली वास। पाहत असे॥१३॥

'एकत्वमें श्रीसद्‌गुरुको कल नहीं पड़ी, इसलिये उन्होंने गुरु-शिष्यका यह बहाना किया है और आप ही गुरु और आप ही शिष्य सजकर आप ही अपनेको देख रहे हैं!'

शिव शिवा सद्‌गुरु। तुजला गूढा काय करूं ?।
एकाही निर्धार धरूं। देतासी कां॥ ३७॥

शिव-शिव ! दर्शन, नमन, स्तवन इनमेंसे आप किसीके भी विषय नहीं बनते। मन, बुद्धि, इन्द्रियोंको आप छिपाकर बैठे हैं, इससे अपने स्वरूपके विषयमें आप मुझे कोई भी निश्चय नहीं करने देते ! आपसे प्रेम किये बिना रहा नहीं जाता और जीवन लिये बिना (जीवदशा नष्ट किये बिना) आप उस प्रेमको ठहरने ही नहीं देते !

नवें अध्यायमें श्रीगुरुके उपकार स्मरण करके प्रेममय अन्तःकरणसे कहते हैं—

शिव शिवा समर्था स्वामी। केवढिये आनंदभूमि।
घेपे दीजे एकें आम्हीं। ऐसें केलें॥ ६४॥
चेतचि मा चेवविलें। निदैलेचि मा निदविले।
आम्हींच आम्हां आणिलें। नवल जी तुम्हें॥ ६५॥

नित्य स्फुरद्रूप जो आत्मभाव है उसे जगाकर आत्मत्वसे नित्य निवृत्त जो अविद्या है उसकी निवृत्ति की और मेरा ही आत्मभाव मुझे प्राप्त करा दिया, यह समर्थ श्रीनिवृत्तिनाथने मुझपर कितना महान् उपकार किया !

ग्रन्थविवेचन

म्हणोनि माझे नित्य नवे । श्वासोच्छ्वासही प्रबंध होआवे ।
श्रीगुरुकृपा काय नोहे । ज्ञानदेवो म्हणे ॥
(ज्ञानेश्वरी १८-१७३५)

(—इसलिये मेरे नित्य नये श्वास-उच्छ्वास भी काव्य ही होने लगे हैं । ज्ञानदेव कहते हैं कि श्रीगुरुकृपासे क्या नहीं हो सकता ?)

श्रीज्ञानेश्वर महाराजका चरित्र-कथन तो इस ग्रन्थके आठवें अध्यायमें ही समाप्त हो गया । उसके पश्चात् उनके चरित्रकी जो मुख्य बात थी अर्थात् गुरु-भक्ति उसीका पिछले अध्यायमें उन्हींके वचनोंके आधारपर विवेचन किया गया । अब इस अध्यायमें, ज्ञानेश्वर महाराजने जड जीवोंके उद्धारके लिये ग्रन्थ-रूपसे जो अक्षय धन सञ्चित कर रखा है, उसका किञ्चित् विचार करें । सामान्यतः किसी भी ग्रन्थकारके चरित्रमें उसके ग्रन्थोंका विचार करते हुए उन ग्रन्थोंके गुण-दोष-विवेचनके लिये एक स्वतन्त्र अध्याय लिखना पड़ता है । पर यह सामान्य नियम ज्ञानेश्वर महाराजके ग्रन्थोंपर नहीं घट सकता । महात्माओं-के ग्रन्थोंमें दोष नहीं हुआ करते, इसलिये ऐसे ग्रन्थोंमेंसे दोष ढूँढ़ निकालना बन ही नहीं सकता; गुणोंको ही ठीक-ठीक समझ लेना इतना कठिन है कि किसी भी प्राकृत जीवकी बुद्धि-

के लिये वह असम्भव है। इसलिये गुणोंका यथाउचित आदर कर सकना भी नहीं बन सकता। इसलिये ऐसे महात्माओंके चरित्रमें 'गुण-दोष-विवेचन' अध्याय चरित्रकार लिख ही नहीं सकता। ज्ञानेश्वर महाराजके ग्रन्थोंका समादर भी हम क्या कर सकते हैं? जो स्वयं सब सद्गुणोंकी कसौटी बनकर उत्पन्न हुए उन्हें या उनके ग्रन्थोंको किस कसौटीपर कसा जाय? उनके ग्रन्थोंमें लोकोत्तर प्रेम है, प्रसाद है, वक्तृत्व है, दिव्यत्व है, जड जीवोंके उद्धारकी विकलता है; और नहीं क्या है? अवतारी विभूतिके सब गुण उनके अन्दर थे और वे सब उनके ग्रन्थोंमें सर्वत्र प्रकट हुए हैं। धर्म-संस्थापनाके लिये अवतरे (उतरे) हुए परमात्म-विभूतिके सब गुण उनके चरित्रमें और उनके ग्रन्थोंमें स्पष्ट दिखायी देते हैं। उनके ग्रन्थ क्या हैं, उन्हींके कथनानुसार ब्रह्मरससे ओत-प्रोत 'आबालसुबोध' अक्षर हैं—

तेणें आबालसुबोधें। ओंवियेचेनि प्रबंधें।
ब्रह्मरससुस्वादें। अक्षरें गुंफिलीं॥

(ज्ञानेश्वरी १८।१७४२)

—और सचमुच ही उनके ग्रन्थ आबालसुबोध हैं। लोग कहते हैं कि ज्ञानेश्वरीमें ५६ भाषाओंके शब्द हैं और यह भाषाका अत्यन्त क्लिष्ट-ग्रन्थ है। पर अध्यात्म-विषयका जिसे कुछ ज्ञान है और जो प्रेमी है उसके लिये ज्ञानेश्वर महाराजके ग्रन्थ कठिन नहीं हैं। ज्ञानेश्वरी हो या अमृतानुभव अथवा हरिपाठ हो या चाङ्गदेवपैंसठी अथवा उनके स्फुट अभङ्ग ही सही—कहीं भी

कोई क्लिष्टता नहीं है। जिसे वेदान्त या अध्यात्मविषयका कोई परिचय ही न हो अथवा सत्संगसे जिसका प्रवेश ही इस विषयमें न हुआ हो उस परम्पराशून्य मनुष्यके लिये अवश्य ही ये ग्रन्थ कठिन हो सकते हैं। आधुनिक शिक्षापद्धतिसे तथा अपने कुलके पारमार्थिक आचार-विचारोंका संसर्ग छूट जानेसे भी परम्परागत विचार तथा प्राचीन शब्द भी आज अपरिचित हो गये हैं। पर यह दोष ग्रन्थोंका नहीं, परिस्थितिका है। ज्ञानेश्वर महाराजकी वाणीमें जो सरलता, प्रसाद और धारा-प्रवाह है उसे देखते हुए उनके ग्रन्थोंको क्लिष्ट या कठिन नहीं कहा जा सकता। हम सामान्यजन योगकी क्रियाएँ नहीं जानते, इससे योगविषयक संकेतोंके अभंग अथवा कुण्डलिनी आदि वर्णनके प्रसंग, अनुभव न होनेसे, समझनेमें कठिन मालूम हो सकते हैं। उसी प्रकार उनके ग्रन्थ छः शताब्दि पहलेके हैं, इससे उनमें व्यवहृत अनेक शब्द इस समय प्रचलित नहीं हैं और कई शब्द ऐसे भी हैं जो भिन्न-भिन्न प्रान्तोंकी भाषाओंमें आज भी मिलते हैं। अध्यात्मका विचार और अनुभव इस समय बहुत ही दुर्लभ हो गया है, इस कारण उनके ग्रन्थ और भी कठिन मालूम होते हैं। ऐसे-ही-ऐसे आगन्तुक कारणोंसे उनके ग्रन्थ दुर्बोध हो जाते हैं अन्यथा वे 'आबालसुबोध' ही हैं। ज्ञानेश्वरीमें ५६ भाषाएँ नहीं बल्कि एक ही सरल-सुलभ मराठी भाषा है।

ज्ञानेश्वरीमें मराठी भाषा और महाराष्ट्र-देशके विषयमें प्रेम-अभिमानके अनेक उद्गार हैं।

'ये मऱ्हाठियेचिया नगरीं । ब्रह्मविद्येचा सुकाल करी'
(अ० १२-१६)

—अर्थात् इस मराठी भाषाकी नगरीमें ब्रह्मविद्या ऐसी भर दो कि कोई कमी न रहे । ज्ञानेश्वरीके उपसंहारमें राजा रामदेव-राय जाधव (यादव) का उल्लेख है, वहाँ भी *'गोदावरीच्या कुलीं । महाराष्ट्रमण्डलीं'* शब्द आये हैं । छठे अध्यायकी प्रस्तावनामें कहा है, 'मेरे बोल मराठी हैं पर अमृतको जय करनेवाले रस-भरित अक्षर मैं उनमें मिलाऊँगा ।' (६ । १४)

विभूति-विस्तार-योग बतलाते हुए महाराज बड़े प्रेमसे कहते हैं—

'देशी भाषा याने मराठी भाषा नागरी भाषा होनेसे इसमें शान्तरसने शृंगाररसको जीत लिया है और मेरी ये ओवियाँ साहित्यशास्त्रके लिये भी अलंकार हुई हैं । मूल संस्कृत श्लोक और उसपर मेरी मराठी ओवियाँ, दोनोंको यदि कोई सूक्ष्म रीतिसे मिलाकर देखेगा और आशय ध्यानमें रखेगा तो मूल कौन है और भाषान्तर कौन है यह भी वह नहीं समझ सकेगा । शरीरके अवयवोंकी सुन्दरतासे जैसे अवयव ही आभूषणोंके लिये आभूषण बन जाते हैं और यह कोई नहीं बता सकता कि किससे कौन सुशोभित है* (याने किसकी शोभाका कौन कारण है), वैसे ही

---

* यह वर्णन पढ़कर संस्कृतज्ञ पाठकोंको कालिदासका स्मरण हुए बिना न रहेगा । यही कल्पना कुमारसम्भव और विक्रमोर्वशीय काव्योंमें दो बार आ चुकी है । 'अन्योन्यशोभाजननाद्बभूव साधारणो भूषण-भूष्यभावः' (कुमारसम्भव) । दूसरा प्रसङ्ग—रघुवंशका पहला श्लोक

मराठी भाषा और संस्कृत समान योग्यताके कारण एक ही भावार्थके सुखासनपर विराजमान हैं।' (४२–४५) ज्ञानेश्वरीको जिन सहृदय पाठकोंने पढ़ा होगा उन्हें ज्ञानेश्वर महाराजके इन उद्गारों-की यथार्थता और अधिक बतलानेकी आवश्यकता नहीं। फिर ग्यारहवें अध्यायमें महाराज कहते हैं—'इस विश्वरूपदर्शनके अध्यायमें शान्तरसके घर अद्भुतरस पाहुन होकर आया है और ब्याहके बरातियोंके समान अन्य रसोंका यथा उचित सम्मान किया गया है।'

मराठी भाषाके साम्राज्यमें शान्तरसको ज्ञानेश्वर महाराजने मूर्धाभिषिक्त करके प्रथम स्थान दिया है, यह बात ध्यानमें रखने-योग्य है। ज्ञानेश्वर महाराजने पुरोहितके नाते महाराष्ट्र सारस्वत राज्यमें शान्तरसको ही राजसिंहासनपर बैठाया और तबसे ६०० वर्ष हो गये, महाराष्ट्रके सन्त-कवियोंने शान्तरसके इस अग्रमानकी रक्षा की है और शान्तरसकी छायामें भक्ति-ज्ञान-वैराग्यने समूचे महाराष्ट्रमण्डलको अपने अधीन रखा है। अस्तु, महाराज आगे कहते हैं—

'संस्कृत-भाषाके दुर्लंघ्य प्राचीरोंको तोड़कर मेरे श्रीगुरुने मराठी शब्दोंसे यह सुगम पथ तैयार किया है, इस पथसे चलकर

है, 'जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ' और अमृतानुभवकी पहली ओवी है, 'ऐसींइयें निरुपाधिकें। जगाचीं जियें जनकें। तियें वन्दिलीं मिया मूलिकें। देवोदेवी।' इन दोनों अवतरणोंमें कितना मनोहर साम्य है! ज्ञानेश्वरने कालिदासके ग्रन्थ पढ़े थे या नहीं, मालूम नहीं; पर उनमें कालिदासका भी अन्तर्भाव था इसमें सन्देह नहीं।

चाहे जो सद्भावमें स्नान कर सकता है और विश्वरूप प्रयाग-माधवके दर्शन करके संसारको तिलोदक दे सकता है।' तेरहवें अध्यायमें फिर कहते हैं—

'शृंगार जो सबको बहुत प्रिय है उसके मस्तकपर पैर रखनेवाला शान्तरस अब मैं प्रकट करूँगा। वह नवेली परम-प्रिया मराठी भाषा अब मैं दिखाऊँगा जो साहित्य सिखावेगी और माधुर्यमें अमृतको भी फीका कर देगी। शान्तरससे परिपूर्ण सुधाकरसे मेरी ओवियाँ स्पर्धा करेंगी और रस-रङ्ग छा देंगी। उससे तामस-वृत्तिके पिशाचोंके मनोंसे भी सात्त्विक प्रेम झरने लगेगा। शुद्धचित्त पुरुषके तो श्रवण करते ही समाधि लग जायगी। ऐसा सुरम्य वाग्विलास अब आरम्भ करें। गीतार्थसे विश्वको भर दें। संसारको आनन्दसे घेर लें। उससे विवेकका दारिद्रय दूर होगा, श्रवणेन्द्रिय और मनको चैतन्यलाभ होगा और जो चाहे ब्रह्मविद्या-की इस खानको पा सकेगा। परमतत्त्व ये नेत्र देख सकेंगे, सुखका उदय होगा, आत्मबोधकी वर्षामें विश्व डूब जायगा। यह सब कुछ होगा। मैं अपने ग्रन्थमें मार्मिक शब्दोंका प्रयोग करके प्रत्येक पदसे गीतार्थ प्रकट करूँगा और उपमादिकोंकी रेल-पेल कर दूँगा। यह सब मैं करूँगा। कारण, इतनी बड़ी क्षमता देकर मेरे श्रीगुरुने मुझे पूर्ण विद्यावन्त किया है।' (११५६–११६६) अस्तु।

श्रीज्ञानेश्वर महाराजके चार ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं—भावार्थ-दीपिका अर्थात् ज्ञानेश्वरी, अमृतानुभव, हरिपाठके अभङ्ग और

चांगदेवपासष्टी। इसके अतिरिक्त हालमें उनके सात-आठ सौ अभङ्ग और मिले हैं। नामदेवने समाधिवाले अभङ्गोंमें योगवासिष्ठ-पर ज्ञानेश्वरकी टीकाका नाम लिया है। पर यह ग्रन्थ अभीतक कहीं नहीं मिला है*। ज्ञानेश्वरीके जो कर्ता हैं वही अभङ्गोंके हैं। ज्ञानेश्वरीकी अपेक्षा अभङ्गोंकी भाषा सरल है, इससे कुछ काल पहले यह मत निकल पड़ा था कि ज्ञानेश्वर एकके बजाय दो हुए होंगे। उस समय इसकी बहुत चर्चा हुई थी। इन सब ग्रन्थोंको बार-बार और बहुत अच्छी तरहसे देखनेपर मुझे यह विश्वास हो गया है कि पूर्वपरम्परासे जो बात हमलोग मानते आये हैं वही सही है, अर्थात् यही कि ज्ञानेश्वरी और अमृतानुभव जिनकी रचनाएँ हैं उन्हींके मुखसे हरिपाठ और अन्य अभङ्ग निकले हैं। इसपर आक्षेप यह किया जाता है कि हरिपाठ तथा अन्य अभङ्गोंकी भाषा ज्ञानेश्वरीकी भाषाकी अपेक्षा बहुत सरल और नवीन है, तथा हरिपाठादि अभङ्गोंमें पण्ढरी और विठ्ठलका माहात्म्य और प्रेममय वर्णन है जो ज्ञानेश्वरीमें नाममात्रके लिये भी नहीं है। ये आक्षेप विचारने योग्य हैं इसमें सन्देह नहीं। पर इन आक्षेपोंका समाधानकारक उत्तर भी दिया जा सकता है। भाषाका प्रश्न अनेक शोधकोंको बड़े महत्त्वका मालूम होता है और यह महत्त्वका प्रश्न है भी; परन्तु ज्ञानेश्वर महाराजके ग्रन्थकी एक भी असल प्रति आजतक नहीं मिली है, इसलिये इस विषयमें

---

* ज्ञानेश्वरकृत योगवासिष्ठके नामसे एक वाहियात-सी पुस्तक धूलियाकी सत्कार्योत्तेजक सभाने प्रकाशित की थी। पर वह ज्ञानेश्वरकृत नहीं है, यह बात सभाने पीछे स्वीकार की।

केवल तर्क और कल्पनाकी चौकड़ी भरना ठीक नहीं है । ज्ञानेश्वरीकी भाषा हरिपाठादि अभङ्गोंकी अपेक्षा कठिन और अधिक प्राचीन मालूम होती है । पर इसमें एक बात विचारनेकी है । ज्ञानेश्वरी श्रीएकनाथ महाराजके समयसे ही विशेष प्रसिद्ध हुई, इससे उसकी भाषाकी दुर्बोधता ज्यों-की-त्यों रह गयी । और फिर ज्ञानेश्वरी ग्रन्थ बहुत बड़ा है, हरिपाठादि अभङ्गोंकी यह बात नहीं । ये अभङ्ग सहस्रों मनुष्योंके नित्य-पाठमें रहे हैं, इससे इनकी भाषा भी नवीन हो गयी है । हरिपाठके अभङ्ग भक्ति-प्रधान, सुलभ और सब प्रकारके लोगोंके कण्ठगत होनेसे उनकी भाषा भी बदलती गयी है, ग्रन्थोंकी भाषा जितनी अपने मूलरूपको पकड़े रहती है उतनी उन अभङ्गोंकी भाषा नहीं रह सकती जो आबाल-वृद्ध, स्त्री-पुरुष सबके नित्य-पाठमें रहा करते हैं । ज्ञानेश्वर महाराजके समयकी ज्ञानेश्वरी और हरिपाठादि अभङ्ग दोनोंकी असल प्रतियाँ यदि आज मिलें तो यह बहुत सम्भव है कि इन दोनोंकी भाषा एक-सी ही मिले । परन्तु ज्ञानेश्वरी बहुत कालतक पोथीके अन्दर ही रही और हरिपाठादिकी तरह वह सबके कण्ठगत हो यह किसी समय भी सम्भव नहीं है, इस कारण ज्ञानेश्वरीका प्राचीनत्व अधिक सुरक्षित है । यह भाषाके सम्बन्धमें बात हुई, अब उपास्यदेवके नामोल्लेखकी जो बात है उसका विचार करें । ज्ञानेश्वरी और अमृतानुभवमें पण्ढरीके विट्ठलभगवान्‌का नामतक नहीं है, केवल श्रीगुरुकी ही महिमा वर्णित है । यह भी कोई बड़ा भारी कूट नहीं है । ज्ञानेश्वर महाराजने नेवासेमें श्रीनिवृत्ति महाराजके सामने ज्ञानेश्वरी कही और जब मुकुन्दराजका उदाहरण

देकर श्रीनिवृत्तिनाथने ज्ञानेश्वर महाराजको स्वतन्त्र ग्रन्थ बनानेको कहा तब उन्होंने अमृतानुभवकी रचना की। ज्ञानेश्वरी और अमृतानुभव ग्रन्थ साक्षात् श्रीगुरु निवृत्तिनाथकी प्रेरणासे उन्हींके सामने तैयार हुए, इससे उनमें श्रीगुरुकी महिमाका ही वर्णन होना स्वाभाविक था। हरिपाठकी वह बात नहीं है। ज्ञानेश्वरी और अमृतानुभव नेवासेमें समाप्त करके कुछ काल बाद ज्ञानेश्वर महाराज तीर्थयात्राके लिये निकले और पण्ढरीमें आये। पण्ढरीमें श्रीविट्ठलमन्दिरके जीर्णोद्धारका कार्य अभी-अभी पूरा हुआ था। वह उन्होंने देखा। नामदेवादि विट्ठलभक्तोंकी बातें सुनीं और देखीं। इस क्रमसे उनका विट्ठल-प्रेम जो उन्हें अपनी उपासनासे जैसा प्राप्त हुआ था, द्विगुण हो उठा और सुजान-अजान सबके लिये रचे हुए हरिपाठमें उन्होंने सबके परमप्रिय उपास्य श्रीविट्ठलके प्रति ही अपने प्रेमोद्गार प्रकट किये। तात्पर्य, ज्ञानेश्वर महाराजके दो मुख्य ग्रन्थ श्रीगुरुके सामने निर्माण हुए और उस समयतक उन्होंने पण्ढरीकी यात्रा और नाम-सङ्कीर्तनमें स्वयं कभी योग नहीं दिया था। इस कारण इन दो ग्रन्थोंमें उन्होंने श्रीसद्गुरुकी ही महिमा वर्णन की है और हरिपाठ (हरिपाठके अभङ्ग वारकरियोंकी सन्ध्या ही हैं!) मुख्यतः जिनके लिये रचा गया वे लोग विट्ठलोपासक थे। इसलिये उसमें श्रीविट्ठलभगवान्‌की ही महिमा गायी गयी है। बात एक ही है। *'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म'* स्वरूप श्रीगुरु निवृत्तिनाथ हुए तो और पण्ढरीके भगवान् श्रीविट्ठल हुए तो, ज्ञानेश्वर महाराजकी भावनामें दोनों एक ही थे, इसमें सन्देह ही क्या है?

अब सबसे पहले ज्ञानेश्वरीका जरा विस्तारके साथ विचार करें। ज्ञानेश्वरी ग्रन्थ मराठी भाषामें जैसे कालक्रमसे प्रथम है वैसे ही योग्यताक्रमसे भी प्रथम ही है। धर्मग्रन्थ कहिये, काव्य कहिये, व्यवहारनीतिका ग्रन्थ कहिये, किसी भी दृष्टिसे इस ग्रन्थकी ओर देखिये, इसका सिंहासन हिला सकनेवाला दूसरा कोई ग्रन्थ नहीं निर्माण हुआ। कोई तो ज्ञानेश्वरीके सिद्धान्त और विषयप्रतिपादनकी शैली देखकर ही झूमने लगेगा, कोई भाषा-गौरव और उपमा-दृष्टान्तादिकी यथातथ्य योजना देखकर उछल पड़ेगा, कोई दृष्टान्तोंके द्वारा प्रकट होनेवाले ज्ञानेश्वर महाराजके व्यवहार-ज्ञानको देखकर चकित होगा, कोई महाराजकी असीम गुरु-भक्ति और उनकी वाणीका अद्भुत प्रेम देखकर उसमें रँग जायगा, कोई कर्म-ज्ञान-उपासनाके सिद्धान्त, शास्त्र और व्यवहारका समन्वय देखकर सन्तुष्ट होगा। जो जिस-किसी भी दृष्टिसे ज्ञानेश्वरीको देखना चाहेगा, उसमें उसे परम समाधान प्राप्त होगा इसमें सन्देह नहीं। ज्ञानेश्वरीका अन्तरङ्ग सन्त-सज्जनोंको सन्तुष्ट करेगा और भाषासौष्ठव रसिकोंका चित्त रञ्जन करेगा। इसके पद भी मधुर हैं, अर्थ भी मधुर हैं। ज्ञानेश्वरीके पाठकोंमें कोई पद-माधुर्यके भोक्ता हो सकते हैं, कोई अर्थ-माधुर्यके भी। इन्हीं दो प्रकारके पाठकोंको मानो लक्ष्य करके ज्ञानेश्वर महाराजने स्वयं ही कहा है कि ज्ञानेश्वरीमें 'जो अध्यात्मशास्त्र है उसके अधिकारी वे ही हैं जो अन्तरङ्ग जानें; और लोग तो केवल वाक्चातुर्य देखकर ही सुखी होंगे।' (अ० १८। १७५०) ज्ञानेश्वरीमें परमार्थ और प्रपञ्च दोनों बताया है। सिद्धान्तोंके

द्वारा परमार्थ और दृष्टान्तोंके द्वारा प्रपञ्च सिखाया है। उपमा, रूपक और दृष्टान्तके द्वारा महाराजने व्यवहारनीतिका बोध कराया है। सुवर्णके मणि सुवर्णके ही तन्तुसे जैसे गूँथे जायँ वैसे ही अध्यात्मतन्तुसे सांसारिक प्रपञ्च ऐसी सुन्दरतासे गूँथा गया है कि प्रपञ्च और परमार्थ एक दूसरेसे अलग किये ही नहीं जा सकते, यही बोध ज्ञानेश्वरीके पाठकोंको प्राप्त होता है। यह ग्रन्थ इतना सर्वाङ्गपूर्ण है कि व्यवहारज्ञान और परमार्थ दोनोंको एक साथ जाननेकी इच्छा रखनेवालोंके लिये यही एक ग्रन्थ पर्याप्त है। अस्तु। ज्ञानेश्वर महाराजके समय सोनेकी दर १५) १५॥) अथवा अधिकसे अधिक १६) थी; 'त्रिमालिक धवलार' अर्थात् तीन खण्डके पक्के, साफ-सुथरे मकान थे, फ़ूसकी झोपड़ियाँ थीं; चौरस्तों-पर दूकानें थीं; अन्नसत्र थे; जादूगर और बहुरूपिये थे; टकसाल, सिक्के और चमड़ेके नोट, पोले गहने, सोने और मोती-के जेवर थे; मन्दिर, मठ, दीपमाला, नौबतखाने, संन्यासी, वार-विलासवास, गेंदके खेल थे; इस तरह उस समय देशकी परिस्थिति क्या थी यह जाननेके लिये जो ज्ञानेश्वरीको देखेगा उसे उस कालकी देश-परिस्थितिका बहुत कुछ ज्ञान होगा। ज्ञानेश्वरीमें कृषि, ज्योतिष, सूपशास्त्र, मृगया आदिके सम्बन्धमें विविध ज्ञान स्थान-स्थानमें बिखरा हुआ है। ज्योतिष-शास्त्रका जो यह सिद्धान्त है कि सूर्य वास्तवमें गतिमान् नहीं बल्कि पृथ्वीके परिभ्रमणके कारण चलता हुआ मालूम होता है।

(आणि उदो अस्ताचेंनि प्रमाणें।
जैसें न चलता सूर्याचें चालणें॥)

यह सिद्धान्त ज्ञानेश्वरीमें है। समुद्रके जलसे मेघ बनते हैं, पर्जन्यरूपसे वे पृथ्वीपर आते हैं, उनसे नदियाँ भरती हैं, ये नदियाँ समुद्रमें मिलती हैं और समुद्रसे फिर मेघ उत्पन्न होते हैं; भौतिक-विज्ञानका जो यह वाष्पीभवनका सिद्धान्त है वह ज्ञानेश्वरीमें मौजूद है। भौतिक-शास्त्र या इतिहास अथवा भाषाके विद्यार्थी भी ज्ञानेश्वरीके अध्ययनसे लाभ उठा सकते हैं। ज्ञानेश्वर महाराज-जैसे योगेश्वर भौतिक-शास्त्रोंको विना पढ़े ही उनके सिद्धान्तोंको ठीक-ठीक जानते हैं। सूक्ष्ममें आसन लगाकर जो बैठता है वह स्थूलको यथातथ्य जानता है। उसे स्थूलका अध्ययन करनेकी कोई आवश्यकता नहीं होती। इस प्रकार कोई किसी भी दृष्टिसे ज्ञानेश्वरीका अध्ययन करे, उसे उसके मतलब-भर लाभ हुए विना न रहेगा।

ज्ञानेश्वरीकी शुद्ध प्रति ढूँढ़नेके अनेक प्रयत्न, श्रीएकनाथ महाराजके समयसे अबतक, हुए। इनमें सबसे अधिक यशस्वी और सर्वमान्य प्रयत्न श्रीएकनाथ महाराजका ही हुआ। एकनाथ महाराजने ज्ञानेश्वरीका संशोधन किया और पैठणमें ज्ञानेश्वरीपर प्रवचन करनेकी प्रथा चलायी। एकनाथ महाराजके पहले भी ज्ञानेश्वरी महाराष्ट्रमें मौजूद थी और महाराष्ट्रके लोग उसे श्रद्धाकी दृष्टिसे देखते भी थे। तथापि ज्ञानेश्वरीकी वास्तविक योग्यता एकनाथ महाराजने ही जँचा दी और उससे महाराष्ट्रियोंको उसका चसका और लगा दिया। उन्होंने ही—

> 'विश्रांतिचें स्थान संतांचें माहेर।
> तें या भूमिवर अलंकापूर॥'

(अर्थात् विश्रान्तिका स्थान और सन्तोंका अपना वास-स्थान इस भूमिपर अलङ्कापुर याने आलन्दी ही है) यह कहकर ज्ञानेश्वर महाराजकी समाधि-भूमि आलन्दीकी महिमा बढ़ायी। इन्हींके समयसे आलन्दीकी यात्राका बहुत अधिक प्रचार हुआ और ज्ञानेश्वर महाराजके विषयमें महाराष्ट्रकी अत्यन्त पूज्यबुद्धि बड़े वेगसे बढ़ने लगी। एकनाथ महाराज शाके १५०५ (संवत् १६४०) में आलन्दीकी यात्रा करके लौट गये, तबसे यहाँकी यात्रा बहुत लोग करने लगे। यात्रियोंकी संख्या प्रतिवर्ष बढ़ती हुई देखकर शाके १५१६ में (याने एकनाथ महाराजकी यात्राके ११ वर्ष बाद) आम्बेकर देशपाण्डेने ज्ञानेश्वर महाराजकी समाधिके ऊपर समाधि-मन्दिर बनवा दिया। वह समाधि-मन्दिर आज भी वैसा ही बना हुआ है। कहते हैं कि इसकी एक तरफकी भींत पीछे श्रीतुकाराम महाराजने अपने हाथों उठायी थी। समाधिके सामनेका भव्य सभामण्डप शिंदे (सेंधिया) सरकारके कारिन्दा रामचन्द्र मल्हारने शाके १६८२ (संवत् १८१७) में बनवा दिया। एकनाथ महाराजने ज्ञानेश्वरीका संशोधन करके, उसपर प्रवचनकर तथा आलन्दीकी यात्राको विशेषरूपसे प्रोत्साहितकर अपने आपको ज्ञानेश्वर महाराजके ऋणसे मुक्त किया। एकनाथ ज्ञानेश्वरके अवतार कहे जाते हैं। इसलिये इन्होंने जो कुछ संशोधन-सुधार किया वह स्वयं ज्ञानेश्वर महाराजके किये संशोधन-सुधारके समान ही विश्ववन्द्य हुआ है। कुछ विद्वानोंका यह मत है कि मूल ज्ञानेश्वरीमें किमियासम्बन्धी कुछ ओवियाँ थीं, उन्हें एकनाथ महाराजने उसमेंसे निकाल दिया

और कुछ अपनी ओवियाँ उसमें जोड़ दीं; पर यह मत प्रमाण-युक्त नहीं है। एकनाथ महाराजने ज्ञानेश्वरीके 'पाठान्तरमें शुद्ध अबद्ध' हुए पाठ पूर्ववत् सुसंगत किये, मूल ओवियोंमें कोई रद-बदल नहीं किया। जिन एकनाथ महाराजने ज्ञानेश्वरीके सम्बन्धमें यह कहा कि यह अमृत परोसकर रखी हुई थाल है, इसमें अपनी ओवी मिलाना अमृतमें क्षार मिलाना है वही एकनाथ महाराज उसमें अपनी ओवियाँ मिलाते, यह सम्भव नहीं था। ज्ञानेश्वरीकी कुछ ओवियोंमें, काल-दोषसे, कुछ शब्द इधर-उधर हो गये थे। एकनाथ महाराजने उन्हें ठीक किया। यह संशोधन उन्होंने किया, पर अपनी ओवियाँ उसमें नहीं मिलायीं। इसी तरहका प्रयत्न एकनाथके पश्चात् काशीमें रहनेवाले, नगर-जिलेके रघुनाथ-शिष्य भास्कर नामक व्यक्तिने किया। इन्होंने ४०० ओवियोंका एक स्वतन्त्र परिशिष्ट ज्ञानेश्वरीमें जोड़ा है। इस परिशिष्टसे यह अनुमान किया जा सकता है कि किस कारणसे ज्ञानेश्वरीमें अशुद्ध पाठ आ गये। भास्कर कहते हैं, 'ज्ञानेश्वरीके लेखकोंको कहीं किसी शब्दका अर्थ बोध नहीं हुआ, कहीं शब्दों-परसे मात्राएँ उड़ गयीं और इस तरह लेखकोंके प्रमादसे कई ओवियाँ अशुद्ध हो गयीं। ज्ञानेश्वरीकी अनेक प्रतियाँ हुई, बालमति लेखकोंके जो मन भाया वैसा उन्होंने लिखा और इससे शब्द इधर-उधर हो गये।' पर भास्करने भी यह नहीं कहा कि किसीने अपनी ओवियाँ भी ज्ञानेश्वरीमें मिला दीं। एकनाथ महाराजने भी ज्ञानेश्वरीकी अनेक प्रतियाँ एकत्र की थीं; और जो ओवियाँ जहाँ 'पाठान्तरमें अबद्ध' दिखायी दीं उन्हें उन्होंने शुद्ध करके

ज्ञानेश्वरीकी नवीन प्रति तैयार की। इसी श्रीएकनाथ महाराजद्वारा संशोधित प्रतिके पाठ महाराष्ट्रमें प्रचलित हैं।

ज्ञानेश्वरीके उपोद्घात-उपसंहारमें ज्ञानेश्वर महाराजने महाभारत और महाभारतके कर्ता महर्षि व्यास तथा गीताशास्त्रकी जो स्तुति की वह बहुत ही आनन्ददायक है। महाभारतको 'सकलकथाजन्मस्थान, प्रमेयमहानिधि, नवरससुधाब्धि, सर्वविद्या-मूलपीठ, अशेष शास्त्रोंका आश्रयस्थान' आदि विशेषणोंसे विभूषित करके आगे कहते हैं कि महाभारत सब धर्मोंका मातृस्थान, सन्त-सज्जनोंका केवल हृदय और सरस्वतीका लावण्य-रत्न-भाण्डार है, यही नहीं प्रत्युत विशाल व्यास-बुद्धिके द्वारा साक्षात् भारती (सरस्वती) ही भारतरूपसे प्रकट हुई है और इसीलिये इस महाभारत-ग्रन्थमें 'चातुर्य सयाना हुआ है, सिद्धान्त सुरुचिपूर्ण बना है, सुख सौभाग्यसे हृष्ट-पुष्ट हुआ है, रस शानदार हुए हैं, कलाकौशल तेजस्वी हुआ है, शब्दश्री शोभायमान हुई है, विवेकतरु फूले हैं और महाबोध सुकुमार बनकर सबके लिये सुगम और सुसेव्य हुआ है। पुराण भी अपनी पूर्ण प्रतिष्ठाके लिये छोटे बनकर आख्यानरूपसे भारतमें प्रविष्ट हुए। इस प्रकार वेद, शास्त्र, पुराण सबका सार निकालकर भगवान् वेदव्यासने यह अपूर्व भारताख्य पक्वान्न तैयार किया।'

म्हणऊनि महाभारतीं नाहीं। तें नोहे लोकीं तिहीं।
येणेंकारणें म्हणिपे पाहीं। व्यासोच्छिष्ट जगत्रय॥

'इसलिये महाभारतमें यदि कोई चीज नहीं है तो वह तीनों लोकोंमें कहीं नहीं है। इसीलिये कहते हैं कि जगत्रय व्यासोच्छिष्ट है।'

ऐसा महाभारतग्रन्थ और उसमें भी अमूल्य गीतारत्न जिन भगवान् वेदव्यासने संसारको दिया उनकी बुद्धिकी महिमा कौन बखान सकता है और उनके उपकारोंकी गणना भी कौन कर सकता है ?

भानुतेजें धवळलें। जैसें त्रैलोक्य दिसे उजळलें।
तैसें व्यासमती कवळलें। मिरवे विश्व ॥३६॥

'भानुतेजसे प्रकाशमान त्रैलोक्य जैसे उज्ज्वल दिखायी देता है वैसे ही व्यासकी बुद्धिमें समाया हुआ होनेसे यह विश्व सजा हुआ है।'

वेद, शास्त्र, पुराणोंका सार महाभारत और महाभारतका सार गीताशास्त्र है। उस गीताशास्त्रमें सम्पूर्ण शब्द-ब्रह्म प्रकट हुआ है।

आतां भारतकमळपराग। गीताख्य प्रसंग।
जो संवादला श्रीरंग। अर्जुनेसीं ॥५०॥
नातरी शब्दब्रह्माब्धि। मथियला व्यासबुद्धि।
निवडलें निरवधि। नवनीत हें ॥५१॥

'अब गीताका जो प्रसंग है वह भारतकमलका पराग—प्रत्यक्ष भगवान् श्रीरंगका अर्जुनके साथ संवाद है। अथवा यह कहिये कि शब्द-ब्रह्मके महासागरको व्यासबुद्धिने मथकर उसमेंसे यह अनन्त नवनीत निकाला है।'

गीताकी महिमा कितनी बड़ी है—

जे अपेक्षिजे विरक्तीं। सदा अनुभविजे सन्तीं।
सोहंभावें पारंगतीं। रमिजे जेथ ॥५३॥

'यह वह स्थान है जिसकी इच्छा विरक्त किया करें, सन्त जिसका सदा अनुभव किया चाहें और जो पारंगत हैं वे सदा जहाँ रमण करते रहें।'

यह जिस गीताकी महिमा है वह सामान्य ग्रन्थोंकी तरह खरोचकर फेंकनेकी चीज नहीं है बल्कि शरच्चन्द्रकलाके कोमल अमृतकणोंको जैसे चक्रवाक पक्षीके बच्चे कोमल मनसे ग्रहण करते हैं वैसे ही यह गीतामृत गीताके श्रोता (या पाठक) चित्त लगाकर धैर्यसे पान करें ।

हें शब्देंवीण संवादिजे । इन्द्रियाँ नेणतां भोगिजे ।
बोला आदि झोंबिजे । प्रमेयासी ॥५८॥

यह गीतामृतका 'संवाद शब्दोंके विना ही करना होगा, इन्द्रियोंके न जानते ही इसका भोग करना होगा, मुखसे शब्द निकलनेके पूर्व ही प्रमेयको आलिङ्गन देना होगा ।'

चाञ्चल्य छोड़कर 'गम्भीर और स्थिर अन्तःकरणसे' जो गीता-श्रवण या पाठ करेगा उसीको गीता सुनने या पाठ करनेका अधिकार है ।

गीताशास्त्र संसारको जीतनेका शास्त्र है—

साचचि बोलाचें नव्हे हें शास्त्र ।
पै संसार जिणतें शस्त्र ।
आत्मा अवतरवी ते मंत्र ।
अक्षरें इयें ॥ अ० १५ । ५७७ ॥

'सचमुच ही यह वाग्विलास करनेका शास्त्र नहीं, संसारको जीतनेका शस्त्र है । इसके अक्षर वे मन्त्र हैं जिनसे आत्माका अवतार होता है ।'

गीता सब मोह नष्ट करनेवाली ज्ञानवल्ली है—

हें घोलों काय गीता। हे माझी उन्मेषलता।
जाणे तो समस्तां। मोहा मुके॥ अ० १५।५८३॥
हें गीतानाम विख्यात। सर्व वाङ्मयाचें मथित।
आत्मा जेणें हस्तगत। रत्न होय॥ अ० १८।१३२३॥
कीं गीता हे सप्तशती। मन्त्रप्रतिपाद्य भगवती।
मोहमहिषा मुक्ती। आनन्दली असे॥१६६७॥
कीं श्लोकाक्षरद्राक्षलता। माण्डव जाली आहे गीता।
संसारपथश्रान्ता। विसंवावया॥ १६७० ॥
कीं निजकान्ता आत्मया। आवडी गीता मिळावया।
श्लोक नव्हती बाह्या। पसर कां जो॥१६७४॥

'गीताकी मैं क्या प्रशंसा करूँ! यह मेरी ज्ञानवल्ली है। इसे जो जानता है वह समस्त मोहसे मुक्त होता है। सम्पूर्ण वाङ्मय (साहित्य) या वेद मथकर गीता-नाम विख्यात हुआ है। इससे आत्मारूपी रत्न हाथ लगता है। अथवा गीता सप्त-शती-मन्त्रोंसे प्रतिपादित साक्षात् भगवती ही है जो मोहरूपी महिषा-सुरको मुक्ति देकर आनन्दित हो रही है। अथवा संसारपथके थके हुए पथिकोंको विश्राम दिलानेके लिये गीता श्लोकाक्षररूप द्राक्षोंकी लताका मण्डप ही है। अथवा ये श्लोक नहीं, अपने पति आत्मारामसे प्रेमपूर्वक मिलनेके लिये गीताने अपने हाथ फैलाये हैं।'

गीताके सात सौ श्लोकोंमें सभी एक दूसरेसे बढ़कर सरस होनेके कारण, ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं कि कौन श्लोक उत्तम

है और कौन कनिष्ट, इसका कोई निश्चय नहीं किया जा सकता। दीपोंमें अगला-पिछला क्या ? सूर्य छोटा और बड़ा क्या? अमृतका समुद्र गहरा और छिछला क्या ? दीप जैसे दीप ही है, उसमें अगले-पिछलेका कोई भेद नहीं; सूर्य सूर्य ही है, उसमें छोटा-बड़ा कोई नहीं; समुद्र समुद्र ही है, वह गहरा है या छिछला, यह प्रश्न ही नहीं होता; वैसे ही गीताका प्रत्येक श्लोक गीताका श्लोक है। गीताशास्त्रकी एक विशेषता यह है कि इसमें श्रीकृष्ण ही वाच्य हैं और श्रीकृष्ण ही वाचक हैं। इसमें जो फल 'अर्थमें है वही पाठमें है'। अन्य ग्रन्थोंमें जैसे 'अर्थ ही सार है और शब्द व्यर्थ है' वैसा इसमें नहीं है; क्योंकि सम्पूर्ण गीता भगवान्की वाङ्मयी मूर्ति है—

म्हणोनि मज कांहीं। समर्थनीं आतां विषय नाहीं।
गीता जाणा हे वाङ्मयी। श्रीमूर्ति प्रभूची ॥१६८५॥
शास्त्र वाच्यें अर्थे फले। मग आपण मावले।
तैसे नव्हे, हें सगळें। परब्रह्मचि ॥१६८६॥

'मेरे समर्थन करनेका अब कोई विषय नहीं रह गया; क्योंकि यह समझ लो कि, गीता श्रीप्रभुकी वाङ्मयी मूर्ति है। कोई भी शास्त्र वाच्यार्थरूप फल देकर स्वयं लुप्त हो जाता है, पर गीतामें वह बात नहीं है, यहाँ यह सब (शब्द और अर्थ) परब्रह्म है।'

भगवान्ने अर्जुनको निमित्त करके परमानन्द जो इतना सुगम कर दिया, यह उनका कितना महान् अनुग्रह है—

कैसा विश्वाचिया कृपा। करूनि महानन्द सोपा।
अर्जुनव्याजें रूपा। आणिला देवें ॥१६८७॥
चकोराचेनि निमित्तें। तिन्हीं भुवनें सन्तप्तें।
निवविलीं कलावन्तें। चंद्रें जेंवि ॥१६८८॥

'भगवान् अखिल विश्वपर कृपा करके अर्जुनके निमित्त-रूपसे महानन्दको कैसा सुगम करके ले आये। जैसे कलायुक्त चन्द्र चकोरके निमित्तसे तीनों सन्तप्त भुवन शान्त करे।'

श्रीकृष्णार्जुनका यह संवाद यदि वेदव्यास ग्रन्थरूपसे प्रकट न करते तो संसारको यह कैसे प्राप्त होता? 'इसलिये विश्वपर व्यासदेवका यह महान् उपकार हुआ।'

म्हणोनि व्यासाचा हा थोर। विश्वासि जाला उपकार॥

गीताकी भक्ति करनेवालोंमें कोई गीताका अर्थ न जानकर केवल पाठ ही करेंगे, कोई अर्थज्ञान प्राप्त कर लेंगे, कोई केवल श्रवण करेंगे, पर मोक्षप्रासादमें सबको समान गति ही प्राप्त होगी।

समर्थाचिया पंक्तिभोजनें। तळिल्यावरिल्या एक पक्कान्नें।
तेंवि श्रवणें अर्थें पठणें। मोक्षचि लाभे ॥ अ० १८।४८॥

'कुलीन धनवानोंके यहाँ छोटे-बड़े, आप्त-आश्रित सबको एक-से ही पक्वान्न परोसे जाते हैं। वैसे ही यहाँ श्रवण, अर्थ, पठन सबके द्वारा मोक्ष ही प्राप्त होता है।'

बहुत-से मोती एकत्र किये जाते हैं तब उसका एकावलि हार बनता है पर वहाँ शोभा एक ही होती है, अथवा फूलोंकी मालामें फूल और डोरा अलग-अलग होनेपर भी सुगन्ध

एक ही होती है वैसे ही गीतामें १८ अध्याय और ७०० श्लोक हैं तो भी उन सबके अन्दर भगवान्‌ने बात एक ही कही है— सर्वत्र *'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म'* है, ब्रह्मको छोड़ और कुछ भी नहीं।

देव बोलिले एक। जें दुजें नाहीं।

'भगवान्‌ने एक ही कहा है जो दो नहीं है।'

महाराजने आगे कहा है, 'उस मार्गको बिना छोड़े' अर्थात् पूर्ण अद्वैतका आश्रय ग्रहणकर मैंने यह ग्रन्थरचना की। गीता अद्वैतका प्रतिपादन करती है और ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं कि मेरी ज्ञानेश्वरीमें अद्वैतका ही प्रतिपादन किया गया है। ज्ञानेश्वरीमें सर्वत्र अद्वैतामृतकी ही वर्षा हो रही है। अध्याय-सङ्गति, श्लोकोंके भावार्थ अथवा शब्दोंके स्पष्टार्थ देते हुए सर्वत्र उनका यही ध्यान अखण्ड रहा है। सब अध्यायों और श्लोकोंकी सङ्गति उन्होंने ऐसी खूबीके साथ लगायी है कि उनका यह कहना कि—

'एवं जन्यजनक भावें। अध्याय अध्यायातें प्रसवे।'

(जन्य-जनक-भावसे एक अध्यायसे दूसरा अध्याय आप ही प्रसूत होता है) यथार्थ हुआ है। श्रीकृष्ण, अर्जुन, धृतराष्ट्र और संजयके स्वभावोंका ऐसा सूक्ष्म चित्रण उन्होंने उन्हींके वचनोंका विवेचन करते हुए किया है कि ऐसा स्वभाव-चित्रण गीताकी अन्य किसी भी टीकामें नहीं मिलेगा।

ज्ञानेश्वरीमें अन्तकी ओर उन्होंने गीतामाहात्म्य बतलाते हुए यह बतलाया है कि गीताके तीसरे अध्यायमें कर्मकाण्ड है,

चौथेसे आधे बारहवें अध्यायतक देवताकाण्ड और बारहवेंके मध्यसे पन्दरहवेंके अन्ततक ज्ञानकाण्ड है; इस प्रकार गीतामें कर्म, उपासना, ज्ञान तीनों काण्ड हैं। इसलिये ज्ञानेश्वर महाराजने इसे 'काण्डत्रयरूपिणी' कहा है और यह कहा है कि यह 'संक्षिप्त श्रुति' ही है। श्रुतिके सदृश गीता भी मोक्षफलदायिनी है। पर उदारतामें यह श्रुतिसे भी श्रेष्ठ है। श्रुतिका अधिकार त्रैवर्णिकोंको है। स्त्री-शूद्रादिकोंको श्रुतिगोचरा न होनेसे श्रुतिपर कृपणताका दोषारोपण हो सकता है। महाराजने वेदोंको 'कृपण' कहकर गीताको श्रुतिसे श्रेष्ठ कहा है। वेदोंकी महिमा तो यहींतक है कि ये भगवान्के निश्वासके साथ निकले (*यस्य निःश्वसितं वेदाः*) पर गीता उनके साक्षात् श्रीमुखसे प्रकट हुई है।

हा गीतार्थसागर। जया निद्रिताचा घोर।
तो स्वये श्रीसर्वेश्वर। प्रत्यक्ष अनुवादला॥
(अ० १। ७२)

'यह गीतार्थसागर जिसकी योग-निद्राकी अवस्था है उस स्वयं श्रीसर्वेश्वरने प्रत्यक्षमें इसे दोहराया है।'

यही क्यों—

बाप बाप ग्रन्थ गीता। जो वेदीं प्रतिपाद्य देवता।
तो तो श्रीकृष्ण वक्ता। जिये ग्रन्थीं॥ (अ० ११। २६)

'अहा! गीता-ग्रन्थ महान् है, महतो महीयान् है; क्योंकि वेदोंमें जो प्रतिपाद्य देवता हैं अर्थात् श्रीकृष्ण, वही इस ग्रन्थके वक्ता हैं।'

गीताकी इस स्तुतिसे सम्भव है कि किसीको यह भ्रम हो जाय कि ज्ञानेश्वर महाराज श्रुतिको कुछ कम मानते हैं। पर

ऐसी बात नहीं है। महाराजने स्वयं ही अन्यत्र स्पष्ट शब्दोंमें कहा है कि, श्रुति माता है, वह 'अहितसे उबारती है, हित देकर बढ़ाती है; संसारके लिये श्रुतिसे बढ़कर और कोई माता नहीं है।' (अ० १६।४६२) वेदोंको उन्होंने 'संसारमें समान दयालु, हिताहित दिखानेवाला दीप' (अ० १६।४४६) कहा है। इस तरह ज्ञानेश्वर महाराज एक तरफ श्रुति माताकी इतनी असीम स्तुति करते हैं और दूसरी तरफ श्रुतिको 'कृपण' कहकर गीताकी उदारता बखानते हैं—उदारतामें श्रुतिसे गीता-को उच्च आसनपर बैठाते हैं। यह भी कहते हैं कि वेद तो भगवान्‌के निश्वास हैं और गीता उनके श्रीमुखसे निःसृत हुई है, इसलिये श्रुतिसे गीता श्रेष्ठ है! तब बात क्या है, श्रुति श्रेष्ठ हुई या गीता? कुछ आधुनिक मतवादी ऐसे हैं जो वेदोंको छोड़ और किसी भी धर्म-ग्रन्थ—गीताको भी—नहीं मानते और गीतामृतपानसे वञ्चित होते हैं और कुछ लोग ऐसे भी हैं जो श्रुतिके अनधिकारी अथवा वेदार्थ जाननेमें असमर्थ होनेसे केवल गीताको ही मानते हैं। जो केवल निर्गुणवादी हैं वे केवल वेदोंको ही मानते हैं और जो केवल भक्तिमार्गी हैं वे केवल गीताको मानते हैं! इस समय इन दोनों मतवादियोंका झगड़ा बेतरह बढ़ा है। किसी एक पक्षको लेकर पक्षाभिमानसे उत्तेजित होनेवाले लोग चाहे जितना लड़ते-झगड़ते रहें, उससे कुछ नहीं आता-जाता। हमारे ज्ञानेश्वर महाराज किस तरह दोनों पक्षोंका समन्वय करते हैं, यही देखनेकी चीज है। महात्माओंके अवतार शान्ति-सुखकी अभिवृद्धिके लिये हुआ करते हैं, सभी पक्षोंको

अपने अन्दर सम्मिलित करके वे वोल सकते हैं। किसी खास पक्षका अभिमान धारण करनेवाले एकदेशीय पण्डितोंकी अपेक्षा शुद्ध स्वरूपानुभवको प्राप्त महात्मा जिनके लिये 'सभी पक्ष पूर्वपक्ष होते हैं,' सभी पक्षोंको अपने हृदयसे लगाकर समान सत्य प्रतिपादन किया करते हैं। उनके भाषणमें किसीका कोई विरोध नहीं हुआ करता। उनकी मधुर वाणीसे सदा त्रिकालावाधित सत्य ही निकला करता है। उनका अवतरण ही संसारमें फैले हुए विरोधोंको मिटानेके लिये हुआ करता है। इसीलिये ऐसे ढङ्गसे कि जो सबको प्रिय हो, वे सत्य प्रकट किया करते हैं। वेद और गीता दोनोंमें परस्पर पूर्ण एकात्मभाव है यह दिखलानेके लिये ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं—'वेदोंमें जो कमी रह गयी उसे दूर करनेके लिये और सबके सुसेव्य होनेके लिये, मैं समझता हूँ कि, वेद ही गीताके रूपमें प्रकट हुए। पहले वेदोंकी जो निन्दा हुई उससे वेद डरे और गीताके उदरमें जा वैठे। इसलिये अब वेद सुन्दर कीर्तिको प्राप्त हुए हैं।' (अ० १८। १४५९-१४६०)

म्हणोनि वेदाची सुसेव्यता। ते हे जाण मूर्त गीता।
श्रीकृष्णें पंडुसुता। उपदेशिली॥ (१८। १४६४)

'इसलिये वेदोंका जो सुलभ सेवन है उसीकी मूर्ति गीता है जिसका श्रीकृष्णने अर्जुनको उपदेश किया।'

'पर बछड़ेकी ममतासे जैसे घरभरको दूध मिलता है वैसे ही अर्जुनके निमित्तसे जगत्का उद्धार हुआ।' (१८। १४६७)

'उसी प्रकार अर्जुनके निमित्तसे श्रीपतिने गीता प्रकट करके जगत्का संसार-जितना भारी बोझ हलका कर डाला।' (१८ । १४७०)

अब हमलोग श्रीकृष्णार्जुन-प्रेमके दृश्यकी ओर चलें। आरम्भसे ही श्रीकृष्णका अर्जुनसे अनुपम स्नेह था। इसीलिये युद्धारम्भमें उन्होंने अर्जुनका सारथी होना स्वीकार किया।

देखा नवल तया प्रभूचें। अद्भुत प्रेम भक्ताचें।
जें सारथ्यपण पार्थाचें। करित असे॥ (१।४२)

'देखा उन प्रभुका कैसा चमत्कार है! भक्तसे कैसा अद्भुत प्रेम है!—जो अर्जुनका वह सारथ्य कर रहे हैं!'

अर्जुनको यह भय हुआ था कि भीष्म-द्रोणादि गुरुजनों तथा अन्य गोत्रजोंका यदि अपने हाथों वध हुआ तो पूर्व-पुण्य-बलसे श्रीकृष्णका जो सख्य प्राप्त हुआ है वह इस पापके कारण नष्ट हो जायगा (१ । २२८); और इसीलिये अर्जुन युद्धसे विमुख हुआ था। एक ओर गोत्रजोंका स्नेह, दूसरी ओर क्षात्र-धर्म; इन दोनोंके परस्पर विरुद्ध विचारोंसे अर्जुनका मन किंकर्तव्य-विमूढ हो गया था। वह *'शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्'* कहकर श्रीकृष्णकी शरण गया और श्रीकृष्णने उसे कर्म, ज्ञान, उपासनाका मर्म बतलाकर निर्मोह किया। विराट्-स्वरूप-दर्शनसे अर्जुनको यह मालूम हुआ कि श्रीकृष्ण साक्षात् परमात्मा हैं और श्रीकृष्णको भगवद्रूपमें देखनेवाला उसका भाव दृढ़ हुआ। अनन्तर गुरु-शिष्यके पूर्ण ऐक्यका बोध हुआ, सब भ्रान्ति नष्ट हो गयी; तब

अर्जुन निरहंकार हुआ और उसने कहा, *'करिष्ये वचनं तव ।'* ज्ञानेश्वर महाराज स्वयं परम गुरु-भक्त थे, इससे कृष्णार्जुन-संवादमें उन्होंने अपूर्व प्रेम-रस भर दिया है । इस संवादके द्वारा उन्होंने यह दिखलाया है कि सच्चा शिष्य अर्जुनके सदृश होता है और सच्चे सद्गुरु श्रीकृष्ण-जैसे होते हैं । ज्ञानेश्वरीमें श्रीकृष्णार्जुन-प्रेमका रङ्ग इतनी उत्तमताके साथ प्रकट हुआ है कि ज्ञानेश्वरीमें मानो गुरु-भक्ति-रसके नामसे ज्ञानेश्वर महाराजने दसवाँ रस निर्माण कर दिया ! इस गुरु-शिष्य-प्रेम-रसका अन्यत्र कहीं जोड़ नहीं है । अर्जुनके भाषणमें सत्शिष्यको देखे और श्रीकृष्णके भाषणमें सद्गुरुको देखे । इस अपूर्व प्रेमामृत-रसके चार घूँट हम भी पान कर लें । तीसरे अध्यायके आरम्भमें अर्जुन कहता है—

'भगवन् ! आप ही तो सब कर्मोंका सर्वथा लोप कर रहे हैं, फिर मुझसे यह घोर कर्म क्यों कराते हैं ? ॥ ४ ॥ हम तो तन-मन-जी-जानसे आपके ही वचनपर चलते हैं और फिर आप ही ऐसा करते हैं ! तब भरोसा अब किसका किया जाय ? ॥ १२ ॥ भगवन् ! आप-जैसे गुरु मुझे मिले, फिर मैं क्यों न अपनी मनःकामना पूरी होनेकी आशा करूँ ? आप तो मेरी माता हैं, यहाँ और किसी मुरव्वतका क्या काम ? ॥ २१ ॥ जैसे माताका स्तनपान करनेके लिये वेर-अबेर नहीं देखी जाती ॥ २९ ॥ वैसे ही हे भगवन् ! हे कृपानिधे ! मैं जो कुछ चाहता हूँ वही आपसे पूछता हूँ ॥ ३० ॥'

भगवान् प्रेमभरी दृष्टिसे अर्जुनकी ओर देखते हैं । श्रीकृष्णकी प्रेममयी दृष्टिका, ज्ञानेश्वर महाराज वर्णन करते हैं—

'उस दृष्टिको करुणरसकी सृष्टि कहें या नवीन स्नेहकी सृष्टि कहें, कुछ समझ नहीं पड़ता; बात यह है कि श्रीहरिकी कृपादृष्टिका वर्णन करते नहीं बनता। (५।१७१) वह अमृत-रसरसीली, प्रेमपीमतवाली दृष्टि अर्जुनके मोहमें ऐसी मग्न हो गयी कि वहाँसे निकलना ही भूल गयी। (५।१७२)'

अर्जुनके मोहमें मग्न होकर उसपर गड़ी हुई भगवान्की स्थिर दृष्टिका ऐसा सुन्दर वर्णन ज्ञानेश्वरीको छोड़ और कहीं नहीं मिलेगा। छठे अध्यायमें *'योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः'* इस वचनको सुनते ही अर्जुन इतना तन्मय हो गया कि श्रीकृष्णकी वाणी ही बन्द हुई। श्रीकृष्ण प्रसन्न तो हुए ही, पर उन्हें यह ख्याल हुआ कि अर्जुन यदि अभीसे स्वस्वरूपके साथ इतना समरस हो गया तो सख्यभक्तिका मेरा सुख छिन जायगा; इसलिये श्रीकृष्ण अर्जुनको व्युत्थानपर ले आये। उस प्रसंगमें भगवान् कहते हैं—

अहंभाव ययाचा जाईल। मी तेंचि हा जरी होईल।
तरी मग काय कीजेल। एकलेया ॥११६॥

'इसका अहंभाव यदि चला गया और मैं जो कुछ हूँ वही यदि यह हो गया तो अकेला रहकर मैं क्या करूँगा।'

भगवान् कहते हैं—'फिर कौन है जिसे मैं आँखें भरकर देखूँ, मुँह भरकर जिससे बोलूँ, या जिसे प्रेमसे छातीसे लगा लूँ? ॥११७॥ दोनों यदि इस प्रकार एकरूप हो गये तो मेरे अन्तः-करणमें जो अति गुप्त प्रेमकी बात है वह मैं किससे कहूँगा?' ॥११८॥

अर्जुनपर श्रीकृष्णका यह असीम प्रेम देखकर ज्ञानेश्वर महाराजको उस बाँझका स्मरण हुआ जिसे वृद्धावस्थामें पुत्र हुआ हो और जो इस इकलौते बेटेको देख-देखकर मुँह चूम-चूमकर बार-बार उसे छातीसे लगाती हो।

अर्जुनकी सख्यभक्तिका वर्णन और आगे देखिये—

'इस प्रकार अर्जुन श्रेष्ठ, पुण्यात्मा, अत्यन्त पवित्र, संसारके भक्तिरूप बीजका उत्तम क्षेत्र था; इसलिये वह श्रीकृष्ण-कृपाका पात्र हुआ ॥ १२६ ॥ अथवा यह कहिये कि आत्मनिवेदन भक्तिके पूर्व सख्यभक्तिका जो सिंहासन है, अर्जुन उस सिंहासन-पर स्थापित देवता ही था ॥ १२७ ॥ देखिये कि जो पतिव्रता स्त्री प्रीतिपूर्वक पतिकी सेवा करती है और पति भी जिसे सम्मानित करता है, क्या उस पतिव्रताकी स्तुति, पतिसे भी अधिक न करनी चाहिये ? ॥ १२९ ॥ वैसे ही मुझे यही अच्छा लगा कि अर्जुनकी ही महिमा अधिक गायी जाय; क्योंकि त्रिभुवनके सौभाग्यका वही अकेला आयतन हुआ है ॥ १३० ॥ उसीके लिये निराकारने आकार धारण किया और उसीकी इच्छा करता है वह जो पूर्णकाम है ॥ १३१ ॥'

अर्जुनकी सख्यभक्तिका यह अति स्नेहस्निग्ध वर्णन पढ़-कर कौन ऐसा है जो सुखरोमांचित न हो ?

देवकी या उदरीं वाहिला । यशोदा सायासें पालिला ।
शेखीं उपेगा गेला । पाण्डवांसी ॥ (१३७)

श्रीकृष्णको 'देवकीने नौ मास अपने उदरमें रखा, यशोदाने पाला-पोसा, पर अन्तमें वह काम आये पाण्डवोंके।'

श्रीसद्गुरुसे प्रश्न करनेकी जो प्रेमकी रीति अर्जुनकी थी, जिसमें 'विनयकी सीमा लाँघे विना' गुरुसे चाहे जो पूछा जाता है उसकी भी ज्ञानेश्वर महाराजने वड़ी मधुर प्रशंसा की है (अ० ७।२००–२०२) और श्रीगुरुसे प्रश्न करनेमें साधकोंके सामने अर्जुनका नमूना रखा है। नवें अध्यायमें अर्जुनकी श्रद्धाकी स्तुति करके यह वतलाया है कि गुप्त रहस्य किसे वताना चाहिये। भगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

'सुनो हे सुजान! तुम भक्तिकी ही मूर्ति हो। जो वात वतलायी जाती है उसकी अवज्ञा करना तुम नहीं जानते। (९।३६)'

माताके स्तनोंमें दूध होता है, पर वह स्तनोंके लिये ही मधुर नहीं होता; वैसे ही भगवान्का रहस्य यदि भगवान्के पास ही रहा तो उससे क्या लाभ? उसे ग्रहण करनेवाला कोई दूसरा होना ही चाहिये—

या लागीं सुमन आणि शुद्धमती।
जो अनिंदक अनन्य गती।
गा गौप्यही तयाप्रती। चावलिजे सुखें॥ (९।४०)

'इसलिये जिसका मन सुन्दर हो, मति शुद्ध हो, जो अनिन्दक और अनन्यगति हो उससे गुप्त-से-गुप्त वात भी निधड़क कहे।' इस न्यायसे भगवान् श्रीकृष्णने अपने इस अनन्य भक्तको नवें अध्यायमें गुप्त राजविद्या वतायी है। अर्जुनने विश्वरूप-

दर्शन माँगा; माँगनेकी देर थी, तुरन्त भगवान्‌ने '*पश्य मे पार्थ रूपाणि*' कहते हुए वह दर्शन दिया। शिष्यके प्रश्नका तत्काल समाधान करनेवाला यह गुरुव्रत देखकर ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं, 'वछड़ेको देखते ही गौ मारे मोहके खड़वड़ाकर उठ खड़ी होती है। तव फिर स्तनोंसे उसका मुँह लगनेपर भला वह कभी दूध चुरा सकती है?' (अ० ११।४०) अर्जुनपर भगवान्‌का ऐसा ही प्रेम था। 'हृदयकी ऐसी भीतरी वात कि भगवान्‌ने शेषनागकी दृष्टिसे भी उसे छिपा रखा, वेदोंको भी जिसके लिये चकमा दिया और साक्षात् लक्ष्मीको भी जिसका पता न लगने दिया' (अ० ११।११८) वह वात अर्जुनके कहते ही भगवान्‌ने उसे दिखा दी। अर्जुनने केवल एक विश्वरूप देखना चाहा तो श्रीकृष्णने 'सव कुछ विश्वरूपमय ही कर डाला। 'कामी पुरुष जैसे वारांगनाके इशारेपर चलता है' वैसे ही भगवान् अर्जुनके छन्दानुगामी हुए। महाराज वड़ी मौजसे कहते हैं—

'पढ़ाया हुआ पक्षी भी ऐसे नहीं वोलेगा, पाला हुआ पशु भी इतना अधीन न होगा; यह सौभाग्य अर्जुनको ही प्राप्त हुआ। ॥ १७० ॥ सम्पूर्ण ब्रह्मको उपभोग करनेवाले भाग्यशाली नेत्र इसीके हुए। यह जो कुछ कहता है, भगवान् वही करते हैं। ॥ १७१ ॥ यह क्रोध करता है तो वह शान्त रहते हैं; यह रूठता है तो वह मनाते हैं; अर्जुनके पीछे भगवान् इतने पागल हुए, यह वड़े आश्चर्यकी वात है ॥ १७२ ॥'

भगवान्‌के मुखसे जो अक्षर निकलते थे, वे तत्क्षण ही अविद्याका अन्धकार दूर कर डालते थे। महाराज कहते हैं, 'वे अक्षर नहीं थे, ब्रह्मसाम्राज्यके दीप थे, अर्जुनके लिये श्रीकृष्णकी चित्कलाका वह उज्ज्वल प्रकाश था।' (अ० ११। १७८) भगवान्‌के मुखसे जो अक्षर निकलते थे उन्हें अर्जुन बड़ी उत्कण्ठा और अवधानके साथ सुनता था। कोई भी महत्त्वका प्रसङ्ग छिड़ते ही भगवान् अर्जुनसे कहते, सावधान हो, सर्वांगको कान बनाकर सुनो; और यह देखते कि, स्वयं 'अवधान ही अर्जुनाकार होकर प्रकट हुआ है।' श्रीकृष्णके मुखसे जो अक्षर निकलते उन्हें अर्जुन तत्काल आत्मसात् कर डालता। ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं कि, 'श्रीकृष्णोक्तिसागरके लिये यह दूसरे अगस्त्य ही मिले।' (अ०१५।७०)

भगवान् जो कुछ कहते, समझाते, वह सब यह अपनी सब इन्द्रियोंको कान बनाकर सुनता। 'इसकी श्रवण-शक्ति इतनी विकसित हुई।' ऐसा श्रोता मिलनेपर भगवान्‌के पेटमें भला क्या रह सकता है? श्रीकृष्णका वक्तृत्व और अर्जुनका अवधान दोनों ही बातें अपूर्व हैं। श्रोतामें अर्जुनकी-सी निष्ठा और अवधान हो तो फिर आत्मबोधके होनेमें विलम्ब ही क्या है?—

'वह सम्पूर्ण बोध अर्जुनके अन्दर कैसे बिम्बित हुआ?—वैसे ही जैसे आकाशमें उदय हुआ चन्द्र सागरमें बिम्बित होता है। (१५।४४३) अथवा दर्पण-सी सुस्वच्छ पारदर्शी भीतपर सामनेका चित्र जैसे आ जाता है वैसे ही वह सम्पूर्ण बोध अर्जुनमें और श्रीकृष्णमें एक-सा दिखायी देने लगा।' (१५।४४४)

अर्जुनके मनमें कभी यह बात उठती कि हम बार-बार प्रश्न किया करते हैं तो कहीं ऐसा न हो कि भगवान्‌को अच्छा न लगे। इसपर भगवान् उसे निःसन्देह करनेके लिये प्रेमसे कहते हैं, 'मुझे भी तो बोलना बहुत प्रिय है। पर करूँ क्या? ऐसा पूछनेवाला ही कोई नहीं मिलता।' (१५।४४८) यही नहीं, प्रत्युत ऐसा पूछनेवाला अर्जुन मिला, इसलिये वह उसीके गुण गाते हैं—

'मेरे मनोरथ आज पूर्ण हुए जो तुम मिले, जो इस तरह हृदय खोलकर पूछने आये हो॥ ४४९॥ अद्वैत ज्ञानके भी परे जो मेरा अनुभवानन्दभोग है वह तुम मुझसे पूछकर मुझे वही मेरा अनुभवानन्दभोग दिला रहे हो'॥ ४५०॥

कभी भगवान् अर्जुनसे यह कहकर कि 'मैं वक्ता और तुम श्रोता यह भेद-वेद कुछ नहीं है, हम दोनों एक ही अर्थको देख रहे हैं'—यह कहकर उसे प्रेमसे हृदयसे लगा लेते और फिर पूर्ण एकात्मभाव हो जानेसे यह संवादसुख समाप्त हो जायगा, यह सोचकर अपने प्रेमके वेगको आप ही रोक देते। इस प्रसङ्गका बड़ा ही मनोहर शब्दचित्र ज्ञानेश्वरीमें खींचा गया है—

'होंठ दो होते हैं पर वाणी एक ही होती है; पैर दो होते हैं, पर चलना एक ही होता है; वैसे ही तुम्हारा पूछना और मेरा बतलाना है। (१५। ४५४) हम दोनों यहाँ एक ही अर्थको देखनेवाले हैं; पूछनेवाला और बतलानेवाला दोनों एक

हैं ॥ ४५५ ॥ यही कहते-कहते भगवान् मोहके वश हो गये और अर्जुनसे लिपट गये, पर तुरन्त ही उन्हें चेत हुआ और बोले, यह ठीक नहीं ॥ ४५६ ॥ हम दोनों नर-नारायण हैं, मेरे और इसके बीच कोई भेद नहीं। पर मेरा यह वेग मेरे अन्दर थम जाय' ॥ ४५८ ॥

अर्जुनके ध्यानमें बात आ गयी, यह देख भगवान् यदि कभी चुप हो जाते तो अर्जुनसे भी यह नहीं सहा जाता था। भगवान् कहते चलें और मैं सुनता चलूँ, यही उसकी इच्छा होती थी और भगवान् भी यही चाहते थे।

'बछड़ा दूध पीकर तृप्त भी हो जाता है तो भी यह नहीं चाहता कि गौ कहीं दूर चली जाय। अनन्य प्रीतिका यही लक्षण है। (१८।७८) वह बिना कामके भी बोले, देखा हुआ है फिर भी उसीको देखे। भोगसे भोग्य-वस्तुकी चाट बढ़ती ही है' ॥ ७९ ॥

ब्रह्मबोधका पूर्ण रहस्य जब श्रीकृष्णने अर्जुनको बताया तब भगवान् और भक्त एक हो गये, दोनोंके हृदय एक दूसरेमें मिल गये।

'हृदयसे हृदय मिला, इस हृदयमें जो था वह उस हृदयमें गया, द्वैतको नष्ट किये बिना अर्जुनको भगवान्‌ने अपने-जैसा बना लिया। (१८। १४२१) वह आलिङ्गन ऐसा हुआ जैसे दीपसे दीप प्रज्वलित हो। द्वैतको तोड़े बिना भगवान्‌ने अर्जुनको अपने स्वरूपमें मिला लिया' ॥ १४२२ ॥

श्रीकृष्णने शरणागत भक्तराज अर्जुनको आलिङ्गन किया और श्रोता-वक्ता दोनों ही स्वानन्दसागरमें निमग्न हो गये।

ज्ञानेश्वर महाराजने स्थान-स्थानमें श्रोताओंसे विनय की है। यह विनय आदरयुक्त है, लाडलेपनकी ढिठाईके साथ है और आत्मविश्वासके सहज स्वभावसे है। नेवासेमें सन्त-सज्जनोंके सामने उन्होंने गीता-टीका कहना आरम्भ किया और वहीं वह समाप्त हुई। श्रोतृवृन्दमें सद्गुरु श्रीनिवृत्तिनाथ सम्मुख विराजमान थे। और भी अनेक अधिकारी साधु-सन्त उपस्थित थे। इन्होंने वार-वार श्रोताओंसे जो प्रार्थना की है उसमें विनय और आत्म-विश्वासका बड़ा ही मनोहर सम्मिश्रण दिखायी देता है। गीता कहनेका यह क्रम था कि महाराज गीताका श्लोक पढ़ते और उसपर अपनी ओवियाँ कहते जाते थे और सच्चिदानन्द बाबा लिखते जाते थे। श्रोताओंसे पहली प्रार्थना उन्होंने इस प्रकार की है—

'अर्जुनकी पंक्तिमें बैठकर जो यह गीतामृत पान करनेके योग्य हों वे सन्त अब इस ओर ध्यान दें। (१।६२) आपका हृदय बहुत गहरा है यह जानकर लाडलेपनसे मैंने आपके चरणोंके पास यह विनय की है॥ ६३॥ बच्चा तुतलाकर भी बोलता है तो भी माँ-बापका ऐसा स्वभाव होता है कि उससे वे और भी अधिक प्रसन्न होते हैं' ॥ ६४॥

महाराज फिर आगे कहते हैं कि, 'आप सन्तोंने उसी प्रकारसे मुझे अपनाया है,' इसीलिये मैं गीतार्थ उपस्थित करनेका प्रयत्न कर रहा हूँ। पर मेरा यह काम वैसा ही है जैसे 'टिट्टिम

पक्षी अपनी चोंचकी नोकसे समुद्रको नापनेका प्रयत्न करे।' तथापि श्रीगुरु अनुकूल हैं और सन्तकृपादीपक उज्ज्वल है, इसी भरोसे मैं गीताभाष्य करनेपर उद्यत हुआ हूँ। प्रार्थना यही है कि, 'इसमें जो कमी हो वह आपलोग पूरी कर लें और जो अधिक हो उसे छोड़ दें' ॥ ८० ॥

चौथे अध्यायमें 'आज श्रवणेन्द्रियोंके लिये प्रकाश हुआ यही कहना चाहिये, क्योंकि इन्होंने गीताका निधान देखा।' यह कहकर महाराज श्रोताओंसे कहते हैं कि, 'सब इन्द्रियोंके साथ श्रवणके घरमें प्रवेशकर यह गीताख्य संवाद-सुख भोग करें।' छठे अध्याय-के आरम्भमें महाराज बतलाते हैं कि इन्द्रियोंसे छिपाकर कैवल्य-रसके पक्वान्न खानेवाले जो निष्काम साधु पुरुष हैं उन्हींके लिये मैं यह ग्रन्थ बना रहा हूँ। विषय-सुखमें लोट-पोट करनेवाले प्राकृत जन इस ग्रन्थका मर्म नहीं समझ सकेंगे। उनके लिये अन्य अनेक ग्रन्थ हैं! 'जो ज्ञानयुक्त हैं उन्हींके लिये यहाँ ठिकाना है, अज्ञानियोंका गाँव दूसरा है।' श्रोताओंको ब्रह्मसुख भोगनेका अधिकार यदि प्राप्त न हो तो महाराज कहते हैं कि मेरे ग्रन्थसे उन्हें कोई लाभ न होगा।

'ऐसा प्रेम यदि हो तो यह निरूपण काम देगा। नहीं तो गूँगे-बहिरेका-सा सारा व्यवहार होगा। (६।२६) पर वह बात अब रहने दें। श्रोताओंको सावधान करनेकी कोई आवश्यकता नहीं है; क्योंकि वे स्वभावतः ही निष्काम होनेके कारण इसके अधिकारी ही हैं ॥२७॥ कौवोंको जैसे चन्द्रमाकी पहचान

नहीं, वैसे ही सामान्य जन इस ग्रन्थको नहीं समझ सकेंगे। चन्द्रमाके अमृतबिन्दु चकोर ही पान कर सकता है' ॥२९॥

श्रोता या पाठक अधिकारी होंगे तो ही ग्रन्थगर्भ खोलकर देख सकेंगे, अन्यथा विषयासक्त जीव केवल भाषागौरव, पदलालित्य, उपमाचातुर्य आदिको लेकर बैठ रहेंगे! 'ज्ञानेश्वरकी वर्णनशक्ति अद्भुत है! कैसी-कैसी उपमाएँ दी हैं, क्या-क्या दृष्टान्त दिये हैं और विषयप्रतिपादनकी शैली भी उनकी कितनी विलक्षण है।' इत्यादि बहिरङ्ग देखकर ही स्तुति करनेवाले श्रोता या पाठक अनेक मिलेंगे। पर अन्तरङ्गको देखनेवाले पुरुष ही इसके सच्चे अधिकारी हैं; अन्य सामान्य पुरुष—विद्वान्, रसिक, शोधक, लेखक आदि—इस ग्रन्थका केवल वाक्चातुर्य देखकर ही सुखी हुआ करते हैं। अस्तु! नवें अध्यायके उपोद्घातमें फिर उन्होंने श्रोताओंसे 'अनन्य अवधान' देनेकी प्रार्थना की है—

'अनन्य अवधान दीजिये, तब सम्पूर्ण सुखके पात्र होइये। स्पष्ट शब्दोंमें मेरी यह प्रतिज्ञा सुनिये' ॥ १ ॥

यह ढिठाई उन्होंने श्रीगुरुकृपाके भरोसे ही की, पर आगे तुरन्त विनयान्वित होकर कहते हैं—

'आप सर्वज्ञोंके इस समाजमें मैं अपनी प्रौढता नहीं बघार रहा हूँ! आपलोग ध्यान दें, यह आप बड़ोंसे मेरी प्रार्थना है' ॥ २ ॥

इसके आगे महाराजने जो कुछ कहा है वह अपूर्व विनय और लाडलेपनका ही भाषण है और ऊपर जो ढिठाईका उद्गार है वह भी तो, महाराज कहते हैं कि आपकी ही कृपा है।

'कारण, माता-पिता आप-जैसे श्रीमान् हों तो जो लाडला है उसके लाड पूरे होंगे और जिनके जो मनोरथ होंगे वे भी पूरे होंगे' ॥ ३ ॥

यह सब तो हुआ, आपसे सावधान होकर श्रवण करनेको भी कहा, पर मुझमें, महाराज कहते हैं कि, इतनी वक्तृत्वशक्ति कहाँ जो आपको तृप्त कर सकूँ ? आप तो स्वयं तृप्त, निष्काम, स्वसुखानुभवी हैं ।

क्या ऐसा भी कभी हुआ है कि चन्द्रमाको कोई ठण्ढक पहुँचाये, नादको सुनाये, अलङ्कारको अलंकृत करे ? परिमल किसकी सुगन्ध लेगा ? समुद्र कहाँ स्नान करेगा ? आकाशको भी धारण कर ले ऐसा अवकाश कहाँ है ? वैसे ही ऐसा वक्तृत्व मेरे पास कहाँ जो आपको भी रिझा सके ? (अ० ९)

'तथापि क्या विश्वको प्रकट करनेवाले गभस्तिकी आरती हाथकी बनी बत्तियोंसे नहीं उतारी जाती ? अथवा क्या अपापति-को अञ्जलिसे अर्घ्य नहीं दिया जाता ?' ॥ १३ ॥ और मैं क्या कहूँ ?—

'प्रभु ! आप साक्षात् शङ्करकी मूर्ति हैं और मैं दीन हूँ, भक्तिपूर्वक पूजा करनेवाला हूँ । मेरे बोल यदि गङ्गाजलके बूँद भी हों तो भी आप उन्हें स्वीकार करेंगे ?' ॥ १४ ॥ अथवा—

'शिशु यदि खानेके लिये बापकी थालपर बैठ जाय और बापको ही खिलाने लगे तो बाप भी बच्चेके हाथों खानेके लिये मुँह आगे करता है' ॥ १५ ॥

बछड़ा जब गौके पेटमें ढूस मारता है तब गौके दूधकी धारा और भी वेगसे वह निकलती है, अथवा अपने प्रिय जनके कोपसे जैसे अपने प्रेमका वेग और भी बढ़ता है; वैसे ही महाराज कहते हैं कि मेरे भाषणसे आपका दयाभाव जाग उठा है, यह मुझे अब मालूम हो गया। आपकी दृष्टि जब प्रेमामृतकी वर्षा करने लगती है तब सब अर्थ मेरे चित्तमें स्फुरित होते हैं और नहीं तो आपका अनवधान होनेसे वह स्फूर्ति सूख जाती है! इसलिये मेरी यह विनय है कि आप अवधान दें। आपका अवधान मिलते ही 'अर्थ शब्दकी बाट जोहने लगता है, अभिप्रायसे अभिप्राय निकल पड़ता है और बुद्धिपर भाव नाचने लगता है' ॥ २७ ॥ इसके विपरीत, श्रोता यदि दुश्चित्त हो तो रसकी भी बात नीरस हो जाती है। तात्पर्य, श्रोता ही वक्ताके वक्तृत्वके यथार्थ प्रेरक होते हैं। 'चन्द्रकान्तमणिसे रसके बिन्दु टपकते हैं, पर यह कौशल है चन्द्रमाका ही। इसलिये वक्ता वक्ता है श्रोताके होनेसे।'

इस प्रकार महाराजने श्रोताओंसे विनय की है। बारहवें अध्यायमें बड़े प्रेमसे महाराज श्रोताओंसे प्रार्थना करते हैं—

'यह सारस्वत (सरस्वतीका प्रसादरूप) वृक्ष आपने ही लगाया है; अब अवधानामृतसे इसे सींचकर बढ़ाइये' ॥ १९ ॥

बोध-वचन

ज्ञानेश्वरी

ज्ञानेश्वरीमेंसे आगे कुछ चुने हुए अवतरण दिये जाते हैं, उनसे मनुष्यमात्रके उद्धारके लिये महाराजने जो ज्ञान-दान किया है वह उन्हींके प्रासादिक शब्दोंके साथ पाठकोंको अनायास प्राप्त होनेवाला है। इन बोध-वचनोंका संग्रह करते हुए मुझे जिस आफतका सामना करना पड़ा, उसका हाल मैं क्या कहूँ! ज्ञानेश्वर महाराजकी ये ओवियाँ क्या हैं, रत्नमाला हैं और सभी ओवियाँ एक-से-एक बढ़कर सरस हैं, इनमेंसे कौन चुनी जायँ और कौन छोड़ दी जायँ? यह काम तो अत्यन्त कठिन था। ज्ञानेश्वरीमें अनेक गुण हैं, पर एक बड़ा दोष भी है और वह इसी अवसरपर सामने आया। वह दोष यही है कि नीरस अथवा अल्परसकी ओवियाँ महाराज रच ही नहीं सके और इस कारण मुझ-जैसे मनुष्यके लिये सरस ओवियाँ चुननेका काम बड़ा ही कठिन हो गया! काले उरदमेंसे कोई काला और सफ़ेद छाँटकर अलग करना चाहे तो कैसे कर सकता है? पर उरदकी बात यह है कि सभी उरद काले होते हैं, इसलिये काले-गोरेको अलग करनेका उसमें कोई सवाल ही नहीं, वैसे ही मोती सभी श्वेत होनेके कारण उनमें काले-सफ़ेदका कोई अलगाव ही नहीं हो सकता।

यही बात ज्ञानेश्वरीकी ओवियोंके सम्बन्धमें है । सभी पानीदार मोती हैं—किसको रखें, किसको अलग करें ?

१ मङ्गलाचरण

ॐ नमः हे श्रीआद्य, वेदप्रतिपाद्य, स्वसंवेद्य आत्मरूप ! आपको नमस्कार है ॥ १ ॥ भगवन् ! आप ही सकल बुद्धिके प्रकाशक गणेश हैं । कैसे ? सो निवृत्तिदास (ज्ञानेश्वर) बतलाते हैं, सुनिये ॥ २ ॥ [इसके आगेकी कुछ ओवियोंमें ॐ काराकृतिधारक श्रीगणेशका बड़ा ही सुन्दर सुबोध वर्णन है । अस्तु] संसारके महासागरके पार पहुँचानेवाले श्रीसद्गुरु तो मेरे हृदयमें हैं । इसी-लिये विवेकका मैं इतना अधिक आदर करता हूँ ॥ २२ ॥ (अ० १)

२ नित्यानित्य-विवेक

तुम कौन हो, यह तो तुम जानते ही नहीं और कौरवोंके लिये शोक कर रहे हो, यह देखकर मुझे रह-रहकर बड़ा अचरज मालूम होता है ॥ ९४ ॥ तुम एक मारनेवाले हो और ये सब लोग मरनेवाले हैं, ऐसा भ्रम अपने चित्तमें क्यों आने देते हो ? ॥ ९९ ॥ यह सब तो अनादिसिद्ध है, उत्पत्ति और नाश सब स्वभावसे आप ही होता है, इसके लिये तुम शोक क्यों करो ? ॥ १०० ॥ जो विवेकी हैं वे मरने-जीनेका शोक नहीं किया करते, क्योंकि मरना-जीना तो केवल भ्रम है ॥ १०१ ॥ उत्पन्न होना और नष्ट हो जाना मायाका दिखाव है । जो वस्तु सचमुच है वह तो है ही, उसका विनाश नहीं होता, वह अविनाशी ही है ॥ १०५ ॥ इस उपाधिके अन्दर सर्वत्र गुप्तरूपसे चैतन्य भरा

हुआ है। तत्त्वके जाननेवाले जो सन्त हैं वे उसीको अपनाते हैं। ॥ १२६ ॥ जलमें दूध मिला हुआ हो तो भी राजहंस दूध और पानी अलग-अलग कर देते हैं। ॥ १२७ ॥ अथवा अग्निमें तपाकर सुवर्णकार सोनेमेंसे खाद बाहर कर शुद्ध सोना निकाल लेता है। ॥ १२८ ॥ वैसे ही सारासार-विचार करनेसे उपाधि कुछ रह नहीं जाती। फिर ज्ञानियोंके लिये जो यथार्थ तत्त्व है वही रह जाता है ॥ १३१ ॥ (अ० २)

३ स्थितप्रज्ञ

अनेक दुःखोंके आ घेरनेपर भी जिसके चित्तमें कोई उद्वेग नहीं होता और सुखकी इच्छामें भी जो नहीं अटकता ॥ २९४ ॥ उसमें, हे अर्जुन, स्वभावतः ही काम-क्रोध नहीं होते और भय क्या होता है यह भी वह नहीं जानता, वह सब तरहसे पूर्ण है ॥ २९५ ॥ जो पूर्ण चन्द्रके समान सर्वत्र सर्वदा एक-सा परिपूर्ण होता है, प्रकाश फैलाते हुए चन्द्र जैसे छोटे-बड़े या नीच-ऊँचका कोई भेद नहीं करता ॥ २९७ ॥ वैसी जिसकी अखण्ड समबुद्धि होती है, प्राणिमात्रपर जो सदय रहता है और जिसका चित्त कभी नहीं पलटता ॥ २९८ ॥ जो कोई अच्छी चीज मिलनेसे सुखके अधीन नहीं होता और कोई बुरी बात होनेसे विषादको नहीं प्राप्त होता ॥ २९९ ॥ इस तरह जो हर्ष-शोकरहित और आत्म-बोध-भरित होता है उसीको जानो कि वह स्थितप्रज्ञ है ॥ ३०० ॥ सूर्य आकाशमें है, अपने रश्मिकरोंसे वह इस जगत्‌को स्पर्श करता है, पर इससे उसे कोई संसर्ग-दोष

नहीं लगता ॥ ३३३ ॥ वैसे ही वह इन्द्रियार्थोंसे उदासीन, आत्मरससे अभिन्न और काम-क्रोध-विहीन होता है ॥ ३३४ ॥ निर्वात स्थानका दीप जैसे स्थिर, कम्पहीन होता है वैसे ही वह योगयुक्त पुरुष स्थिरप्रज्ञ होता है ॥ ३४१ ॥ वह अहंकारको भगाकर, सब कामनाओंको त्यागकर विश्व-में-विश्व होकर विचरता है ॥ ३६७ ॥ (अ० २)

४ स्वधर्मानुष्ठान

जबतक इच्छा बनी हुई है तबतक उद्योग भी है; पर जब सन्तोष हो गया तब उद्योग समाप्त हुआ ॥ ४९ ॥ इसलिये जो-जो कर्म उचित हो और प्रसङ्गानुसार प्राप्त हो उसे तुम हेतुरहित होकर करो ॥ ७८ ॥ स्वधर्मानुष्ठान अखण्ड यज्ञयाजन है। ऐसा स्वधर्मानुष्ठान जो करता है उसे कोई बन्धन नहीं होता ॥ ८३ ॥ वर्णविशेषके अनुसार हमने तुम्हारे लिये स्वधर्म विहित किया है, इस स्वधर्मका सेवन करो, इससे सब मनोरथ आप ही पूर्ण होंगे ॥ ८८ ॥ तुम देवताओंको प्रसन्न करोगे, देवता तुम्हें सन्तुष्ट करेंगे; ऐसी परस्पर-प्रीति जहाँ स्थापित होगी ॥ ९७ ॥ वहाँ तुम जो करना चाहोगे, तुम्हारा वह कार्य आप ही सिद्ध होगा, और जो कोई इच्छा तुम्हारे मनमें होगी वह भी पूर्ण होगी ॥ ९८ ॥ जो निष्काम बुद्धिसे यथाशक्ति विहित कर्माचरण करता है ॥ ११९ ॥ गुरु, गोत्र और अग्निका पूजन करता है, प्रसङ्गानुसार ब्राह्मणोंका सत्कार करता है, पर्वकालमें पितृयज्ञ करता है ॥ १२० ॥ और इन समुचित यज्ञकर्मोंके द्वारा यज्ञ-

नारायणके लिये यज्ञमें हवन करता है और यज्ञका हुतशेष जो कुछ बचे ॥ १२१ ॥ उसे घर ले जाकर, कुटुम्बके सब लोगोंको देकर स्वयं भक्षण करता है, उसके इस प्रकार हुतशेष-सेवनसे ही उसके सब पाप नष्ट हो जाते हैं ॥ १२२ ॥ इसलिये स्वधर्मसे जो प्राप्त करे उसका स्वधर्ममें ही विनियोग करे और जो शेष रहे उसे स्वयं सन्तोषके साथ सेवन करे ॥ १२५ ॥ जो लोग इन्द्रियोंके अधीन होकर इन्द्रियोंकी रुचिके अनुसार नाना प्रकारके पक्वान्न तैयार कराते हैं वे पापी हैं और वे पाप ही भक्षण करते हैं ॥ १२९ ॥ यह जितनी सम्पत्ति है, इसको हवन-द्रव्य मानो और फिर इसे स्वधर्मयज्ञके द्वारा उन आदिपुरुषको समर्पित करो ॥ १३० ॥ (अ० ३)

५ काम-क्रोध

ये काम-क्रोध बड़े ही क्रूर हैं, इनमें दयाका नाम भी नहीं है, इन्हें काल ही समझो ॥२४०॥ ये ज्ञाननिधिके साँप, विषयकन्दराके बाघ, भजनमार्गके घातक हैं ॥ २४१ ॥ ये देह-रूप दुर्गके पत्थर, इन्द्रिय-ग्रामके वैरी हैं; इन्होंने सारे संसारमें अज्ञानादिरूपसे गदर मचा रखा है ॥ २४२ ॥ ये जलमें नहीं, बिना जलके ही डुबा देते हैं, बिना आगके ही जला देते हैं, बिना बोले ही प्राणियोंको लिपटा लेते हैं ॥ २५७ ॥ बिना शस्त्रके ये मारते हैं; ज्ञानियोंकी तो बाजी बदकर जान ही ले लेते हैं ॥ २५८ ॥ इन्होंने सन्तोष-वन काट डाला है, धैर्य-दुर्ग गिरा दिये हैं, आनन्दके पौधे उखाड़ फेंके हैं ॥ २५२ ॥ (अ० ३)

६ भगवदवतार

'यदा यदा हि धर्मस्य' और *'परित्राणाय साधूनाम्'* इन श्लोकोंपर भाष्य करते हुए भगवदवतारके सम्बन्धमें महाराज कहते हैं—

जितने भी धर्म हैं उन सबका युग-युगमें मैं संरक्षण करूँ, यह परम्परा आदिसे ही चली आयी है ॥ ४९ ॥ जब अधर्म धर्मको पछाड़ता है तब मैं अपना अजत्व एक ओर धर देता हूँ और अपने अव्यक्तपनको भुला देता हूँ ॥ ५० ॥ उस समय अपने जो हैं उनका पक्ष लेकर, साकार होकर अवतार लेता हूँ और अज्ञानका सारा अन्धकार निगल जाता हूँ ॥ ५१ ॥ अधर्मकी मर्यादा तोड़ देता हूँ, दोषोंके लेखपट फाड़ डालता हूँ, और सज्जनोंके हाथों आनन्दका ध्वज फहराता हूँ ॥ ५२ ॥ दैत्योंके कुलोंका संहार करता हूँ, साधुओंकी मान-रक्षा करता हूँ; धर्म और नीतिका परस्पर विवाह करा देता हूँ ॥ ५३ ॥ तब आत्मानन्दसे विश्व भर जाता है, धर्म ही संसारमें राज्य करता है और भक्तजनोंके सात्त्विक भाव फूलते-फलते हैं ॥ ५५ ॥ हे अर्जुन ! जब मेरी मूर्ति प्रकट होती है तब पापोंका पर्वत ढह जाता है और पुण्यका उदय होता है ॥ ५६ ॥ (अ० ४)

७ ज्ञानयज्ञ

सब यज्ञोंमें ज्ञानयज्ञ ही अत्यन्त श्रेष्ठ है । यह ज्ञान *'तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया'* इस वचनके अनुसार

ज्ञानियोंसे ही प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवाके द्वारा प्राप्त करना होता है। महाराज कहते हैं—

द्रव्यादि यज्ञ भी यज्ञ ही हैं, पर ये ज्ञानयज्ञकी बराबरी नहीं कर सकते, जैसे नक्षत्रोंका तेजोवैभव सूर्यकी बराबरी नहीं कर सकता ॥ १५९ ॥ वह ज्ञान श्रेष्ठ है और उसे प्राप्त करनेकी यदि इच्छा हो तो सब प्रकारसे सन्तोंकी सेवा करो ॥ १६५ ॥ तन-मन और जी-जानसे उनके चरण गहो और अभिमान छोड़कर उनका दास्य करो ॥ १६७ ॥ फिर जो-जो जाननेकी इच्छा हो, वह वे पूछते ही बतला देंगे। उससे अन्तःकरणको बोध होगा, मन कल्पनारहित हो जायगा ॥ १६८ ॥ (अ० ४)

८ ज्ञानकर्मयोग

पाँचवें अध्यायमें सांख्य अर्थात् कर्मसंन्यास और योग अर्थात् कर्मयोग दोनोंको ही मोक्षप्रद बतलाकर कर्मयोगके आचरणमें संन्यासके भी 'लक्षण आ जाते हैं' यह कहकर उन लक्षणोंका वर्णन किया है—

जो गये हुएका स्मरण नहीं करता, मिले हुएकी इच्छा नहीं रखता, अन्तःकरणमें मेरुके समान अचल रहता है ॥ १९ ॥ जिसका अन्तःकरण 'मैं-मेरा' भूला रहता है वही निरन्तर संन्यासी है ॥२०॥ जिसने अपने मनको भ्रमसे निकाल लिया, गुरुवाक्यसे धो डाला और आत्मस्वरूपमें गाड़ रखा ॥ ३४ ॥ आत्मयोगमें ही जो रहा, कर्मफलसे जिसका जी ऊब गया उसे घर बैठे ही शान्ति वरमाल पहनाती है ॥ ७१ ॥ वह फलत्यागी इस नवद्वार देहमें

रहकर भी नहीं रहता, सब कुछ करके भी कुछ नहीं करता ॥ ७५ ॥ जैसे स्वयं सर्वेश्वर हैं जो देखा जाय तो कुछ नहीं करते, पर त्रिभुवनका विस्तार वही करते हैं ॥ ७६ ॥ वह जगत्‌के जीवमें हैं, पर कभी किसीके होकर नहीं रहते; यह जगत् ही होता है और जाता है, उसकी उन्हें सुध भी नहीं रहती ॥ ७९ ॥ जिस मनोरूप पटपर यह संसारचित्र प्रतिफलित होता है वह पट ही फट जाता है । जैसे सरोवर सूखनेसे प्रतिबिम्ब नष्ट हो जाता है ॥१५६॥ वैसे ही यह मन ही जहाँ नहीं रह जाता वहाँ अहंभावादि विकार कहाँ रहेंगे ? इसलिये जो ब्रह्मानुभवको प्राप्त होता है वह शरीरसे ही ब्रह्म होता है ॥ १५७ ॥ (अ० ५)

ये लक्षण जिसके अन्दर आ जाते हैं उनका प्रपञ्च और परमार्थ एक होता है । जो सांख्य है वही योग है, जो परमार्थ है वही प्रपञ्च है, जो संन्यास है वही संसार है । महाराज कहते हैं, 'जिसने सांख्य और योग दोनोंको अभेदरूपसे एक जाना, उसीने संसारमें प्रकाश देखा, उसीने अपने आपको देखा ।' (५—२१)

९ योगाभ्यासका स्थान

योगाभ्यासका स्थान कैसा होना चाहिये ? उस 'शुचिदेश' का बड़ा ही सुन्दर वर्णन महाराजने किया है—

वहाँ ऐसी विश्रान्ति मिले कि बैठनेपर उठनेकी इच्छा ही न हो और वह स्थान ऐसा हो कि देखनेके साथ ही वैराग्य द्विगुण हो जाय ॥ १६४ ॥ वह स्थान ऐसा हो कि योगाभ्यास करनेकी इच्छा आप ही उत्पन्न हो, वहाँ हृदयको अनुभव वरण करे और

उस स्थानकी रमणीयता अखण्ड बनी रहे ॥ १६६ ॥ वह स्थान ऐसा हो कि वहाँ कोई पाखण्डी भी भूले-भटके पहुँच जायँ तो उनमें भी तप करनेकी श्रद्धा उत्पन्न हो ॥ १६७ ॥ वह स्थान ऐसा हो कि उसे देखते ही विलासी पुरुष भी सार्वभौम राज्य छोड़कर वहाँ एकान्तवास करनेकी इच्छा करे ॥ १७० ॥ उस स्थानमें एक सुभीता और होना चाहिये; वह यह कि वहाँ साधकोंकी ही बस्ती हो, अन्य लोगोंका आना-जाना वहाँ बहुत न हुआ करे ॥ १७२ ॥ वहाँ ऐसे वृक्ष हों जो अमृतके समान मूलसहित मधुर हों और सदा फलते हों ॥ १७३ ॥ वहाँ पद-पद-पर उदक हो और वह स्थान ऐसा हो कि वृष्टि न होनेपर भी वहाँ शुद्ध स्वच्छ जलके झरने झरते हों ॥ १७४ ॥ वहाँ धूप नरम हो और उसमें ठण्डक हो और मन्द-मन्द पवन सदा बहती हो ॥ १७५ ॥ वहाँ इतना सन्नाटा हो कि किसीका शब्द प्रायः न सुनायी दे । वहाँ बहुत जानवर न हों । शुक और भ्रमर भी अधिक न हों ॥ १७६ ॥ जलके पास हंस रह सकते हैं, दो-चार सारस भी विचर सकते हैं अथवा कभी कोई कोकिल भी आ सकते हैं ॥ १७७ ॥ सदा तो नहीं पर कभी-कभी मोर आते-जाते रहें तो हम ना न करेंगे ॥ १७८ ॥ पर इस प्रकारका स्थान अवश्य होना चाहिये । ऐसे स्थानमें कोई एकान्त मठ या शिवालय हो ॥ १७९ ॥ इ० (अ० ६)

१० योगसाधनका अधिकार

योगसाधन बतलाते हुए महाराजने कुण्डलिनीका बड़ा ही सुन्दर वर्णन किया है । इस प्रसङ्गमें अर्जुनने यह प्रश्न किया था

कि 'योगसाधन चाहे जिससे सध सकता है या इसके लिये कोई विशेष योग्यता अथवा अधिकार होना चाहिये ?' इसका जो उत्तर दिया गया है वह सब साधकोंके ध्यानमें रखने योग्य है—

'योग्यता जिसे कहते हैं वह प्राप्त कर लेनेके अधीन है। कारण, योग्य होकर जो काम किया जाता है वह सफल होता है ॥ ३४० ॥ योग्यता कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो माँगते ही मिल जाय और न योग्यताकी कहीं कोई खान ही है ॥३४१॥ पलभर-के लिये जो वैराग्य धारण करता है और फिर देहके ही बन्धनमें फँसा रहता है वह अव्यवस्थित पुरुष अधिकार पानेके योग्य नहीं है ॥ ३४२ ॥ जो अव्यवस्थित है उसमें कोई योग्यता नहीं ॥३४४॥ (अ० ६)

११ चञ्चल मन

मनके चञ्चलत्वादि भाव देखिये—

यह मन कैसा और कितना बड़ा है यह देखा जाय तो इसका कुछ पता ही नहीं लगता। यों इसका व्यापार इतना बड़ा है कि उसके लिये त्रैलोक्य भी छोटा है ॥ ४१२ ॥ इसलिये यह कैसे बन सकता है (कि यह काबूमें आ जाय) ? क्या बन्दर समाधि लगा सकेगा ? अथवा झञ्झावात कहनेसे थम जायगा ? ॥४१३॥ यह मन ऐसा है जो बुद्धिको भरमाता है, निश्चयको भुलाता है, धैर्यको चकमा देकर निकल जाता है ॥४१४॥ यह

विवेकको भरमाता है, सन्तोषको चसका लगाता है, और चुप बैठ रहिये तो दशों दिशाएँ घुमाता है ॥४१५॥ (अ० ६)

१२ मनका गुण

मन चञ्चल तो है ही, पर अभ्यास और वैराग्यसे इसे वशमें कर लेनेपर यही मन तारनेवाला हो जाता है। मनका गुण देखिये—

वैराग्यके सहारे यदि यह मन अभ्यासमें लगाया जाय तो कुछ काल बाद यह स्थिर होगा ॥४१९॥ कारण, इस मनमें एक बात बड़ी अच्छी है। वह यह कि जहाँ इसे चसका लगता है, वहाँ यह लग ही जाता है। इसलिये इसे सदा अनुभवसुख ही देते रहना चाहिये ॥४२०॥ (अ० ६)

१३ सुवर्णसूत्रमें सुवर्णमणि

'मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव' इस श्लोकार्धपर महाराजने दो बड़ी मार्मिक ओवियाँ की हैं—

होता है, दिखायी देता है, नहीं-सा होता है—यह जो कुछ है, सब मेरे अन्दर ही है। सूत्र जैसे मणियोंको धारण करता है वैसे ही मैंने यह विश्व धारण किया है ॥३१॥ जैसे सुवर्णके मणि बनाकर उन्हें सुवर्णके ही तन्तुमें पिरोया जाय, वैसे ही यह जगत् मैंने अन्दर-बाहर धारण किया है ॥३२॥ (अ० ७)

'मणि सोनेके और सूत भी सोनेका' इस दृष्टान्तसे जगत् और जगदीश्वरका अभेदत्व सूचित किया है।

१४ ब्रह्ममें माया कैसे ?

ब्रह्ममें माया कैसे उत्पन्न हुई—

जलपर जब काई बढ़ जाती है तब वह जैसे जलको ढाँक देती है अथवा निरर्थक बादल भी आकाशको छिपा देते हैं; ॥६०॥ पर यह रहने दीजिये, यह देखिये कि आँखका परदा आँखमें बढ़कर आँखका देखना क्या बन्द नहीं कर देता ? ॥६२॥ वैसे ही मेरी ही प्रतिबिम्बरूप त्रिगुणात्मक छाया, परदेकी तरह मुझे ही छिपाये हुई है ॥ ६३ ॥ इस कारण प्राणी मुझे नहीं जानते । जैसे जलमें उत्पन्न होनेवाले मोती जलमें जलरूप होकर मिल नहीं जाते वैसे ही प्राणी मेरे ही होनेपर मत्स्वरूप नहीं होते ॥ ६४ ॥ (अ० ७)

१५ मम माया

'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया' (७ । १४) इस श्लोकपर तथा '*इच्छाद्वेषसमुत्थेन*' (७ । २७) इ० श्लोकपर महाराजने बहुत ही सुन्दर रूपक रचे हैं । मायापर नदीका रूपक ऐसा घटा है कि वह मूलमें ही आनन्दके साथ पढ़ते बनता है । मायामयी नदीको तैरकर पार कौन कर जाता है ?—

'इस नदीको वही अनायास तैरकर पार कर जाते हैं जो सम्पूर्ण भावसे मुझे भजते हैं । उनका तैरकर पार कर जाना भी क्या है कि वे इसी किनारेपर खड़े हैं, जलमें उन्होंने पैर भी नहीं रखा और तर गये, माया-जल ही सूख गया' ॥९७॥ (अ० ७)

१६ ज्ञानी भक्त

चार प्रकारके भक्तोंमें ज्ञानी भक्त ही भगवान्‌को सबसे अधिक प्रिय होते हैं, इस विषयमें कहते हैं—

यों, वह शरीरके सब कर्म करता है इसलिये वह मुझे भक्त-सा ही मालूम होता है, पर अन्तःकरणधर्मसे वह मत्स्वरूप ही बना रहता है ॥ ११६ ॥ संसारकी यह रीति है कि दूधकी आशासे लोग गौको पगहेसे बाँध रखते हैं, पर बछड़ेका बन्धन, देखिये कि, पगहेके बिना भी कितना मजबूत होता है ॥ १२० ॥ कारण, उसका तन-मन-प्राण और तो कुछ नहीं जानता, गौको देखते ही, इतना ही जानता है कि यह मेरी माता है ॥ १२१ ॥ बछड़ा इस प्रकार अनन्यगतिक होता है, इस कारण गौकी भी उसपर वैसी ही प्रीति होती है; इसलिये भगवान् लक्ष्मीपतिने जो कुछ सच था वही कह दिया ॥ १२२ ॥ अब जिनके अन्तःकरण-की गुहासे निकली गङ्गा मुझमें आकर मिलीं वे वही हैं जो मैं हूँ; बस मैं और क्या कहूँ ? ॥ १२५ ॥ (अ० ७)

१७ सहजसिद्धके लिये साधन क्या ?

भगवान् सहजसिद्ध हैं । उन्हें वैसा ही न देखकर साधन करना कैसा है ?—

जैसे कोई अमृतके सागरमें डूबकर मुँह बन्द कर ले और मनसे क्षुद्र जलाशयोंके जलका स्मरण करे ! ॥ १५२ ॥ ऐसा क्यों ? अमृतके सागरमें डूबकर भी कोई मरे क्यों ? अमृतमें अमृत होकर क्यों न रहे ? ॥ १५३ ॥ वैसे ही हे अर्जुन ! फलहेतुका पिंजरा

छोड़कर अनुभवके पंखोंसे उड़कर चिदाकाशमें स्वामी बनकर क्यों न रहो ? ॥ १५४ ॥ उस आनन्दकी नाप-जोख करनेमें क्या रखा है ? मुझ अव्यक्तको व्यक्त माननेमें क्या रखा है ? सिद्ध होकर भी कोई साधनके फेरमें अपनेको क्यों थका दे ? ॥ १५६ ॥ (अ० ७)

१८ सदभ्यास

अभ्यासयोग क्या है ? अभ्यास किस बातका करना चाहिये ?—

निरन्तर सदभ्यास करो । चित्तको परमपुरुषके मार्गमें लगा दो, फिर शरीर रहे चाहे जाय ॥ ८२ ॥ (अ० ८)

१९ पास होकर भी दूर!

परमात्मा पास होकर भी श्रद्धाहीन और विषयरत प्राणियों-के लिये कैसे दूर हो गये हैं, देखिये—

अजी यह भी तो देखो कि दूध कितना शुद्ध और मधुर होता है और होता भी है इतना पास कि त्वचाके एक परदेके अन्दर, पर उसका अनादर करके किलनी अशुद्ध रक्तका ही सेवन करती है ॥ ५७ ॥ अथवा भ्रमर और मेंढक एक ही स्थानमें रहते हैं पर भ्रमर पराग-सेवन करते हैं और मेंढकोंके लिये कीचड़ ही बचता है ॥ ५८ ॥—

तैसा हृदयामध्यें मी राम । असतां सर्वसुखाचा आराम ।
कां भ्रान्तासी काम । विषयांवरी ॥ (अ० ६ । ६०)

उसी प्रकार सब सुखोंका धाम मैं आत्माराम हृदयमें रहता हूँ तो भी जो मूर्ख हैं वे विषयोंकी ही इच्छा करते हैं ॥ ६० ॥ (अ० ९)

२० मया ततमिदं सर्वम्

'मया ततमिदं सर्वम्' इन पदोंपर महाराजकी दो ओवियाँ आगे दी जाती हैं, उनसे, उत्तरोत्तर अधिकाधिक उत्तम दृष्टान्त देनेका महाराजका जो कौशल है वह पाठकोंके ध्यानमें आ जायगा—

यह सम्पूर्ण विश्व क्या मेरे ही विस्तारका नाम नहीं है ?— जैसे दूधका जमना ही तो दही है (वैसे मेरा ही विस्तार यह जगत् है) ॥ ६४ ॥ अथवा बीज ही जैसे वृक्ष होता है अथवा सोना ही अलंकार बनता है वैसे ही यह जगत् मुझ अकेलेका ही विस्तार है ॥ ६५ ॥ (अ० ९)

यहाँ मुख्य सिद्धान्त यही बतलाना है कि 'मेरा जो विस्तार है वही यह जगत् है ।' इसके लिये महाराजने तीन दृष्टान्त दिये हैं—दूध और दही, बीज और वृक्ष, तथा सुवर्ण और अलङ्कार । इनमें पहलेकी अपेक्षा दूसरा और दूसरेकी अपेक्षा तीसरा दृष्टान्त उत्तम कोटिका है । 'मेरा विस्तार ही जगत् है' याने मैं ही जगत् बना हूँ । कैसे ? जैसे दूधका दही बनता है वैसे । परन्तु दूध जब दही बन गया तब उसमें दूधपन नहीं रह गया । इस तरह इस दृष्टान्तमें कार्य-कारणकी एकात्मता केवल आरम्भमें है, पीछे नहीं । यह कसर है । इसलिये दूसरा दृष्टान्त दिया बीज-वृक्षका । इसमें आरम्भमें और अन्तमें कार्य-कारणकी एकात्मता है; क्योंकि

आरम्भमें वीज है और अन्तमें भी वीज ही है, पर वीचमें पत्र-पुष्प-फलका जो रूप है उसमें वीजत्व नहीं दिखायी देता। इसलिये इसमें भी यह कसर रही इसलिये तीसरा दृष्टान्त देते हैं सुवर्ण और अलङ्कारका। सुवर्ण पहले भी सुवर्ण ही है, अलङ्कार वननेपर भी सुवर्ण है और अलङ्कार गला दिया जाय तो भी रहता है सुवर्ण ही। उसी प्रकार जगत् निर्माण होनेके पूर्व, जगत् जगत्-रूपमें आनेपर तथा जगत्का प्रलय होनेपर भी, आदि, मध्य, अन्त तीनों अवस्थाओंमें भगवान् श्रीहरि ज्यों-के-त्यों हैं। उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय तीनों कालमें परमात्मा अखण्ड, अनुस्यूत और नित्य हैं। तीसरा दृष्टान्त त्रिकालदर्शक होनेसे पूर्ण है।

२१ नाम-संकीर्तन

गीता-ज्ञानेश्वरीका नवाँ अध्याय वारकरी भक्तोंको वहुत ही प्रिय है। इसमें सर्वत्र पर विशेष रूपसे चौदहवें, इकतीसवें तथा वत्तीसवें श्लोकपर जो ओवियाँ हैं उनमें महाराजने भक्तिमार्गका मानो सम्पूर्ण रहस्य वता दिया है। *'सततं कीर्तयन्तो माम्'* इस श्लोकके *'कीर्तयन्तः'* पदपर महाराजकी टीका देखिये—

कीर्तनके नृत्यगानसे प्रायश्चित्तोंका व्यवसाय ही नष्ट हो गया, क्योंकि इस कीर्तनने ऐसा किया कि, कहीं पापका नाम भी न रह गया ॥१९७॥ तव यम कहने लगा कि, अव किसका शासन करें; दम कहने लगा, किसको दण्ड दें; तीर्थ कहने लगे, क्या खायँ; क्योंकि दोष तो दवाके कामके लिये भी कहीं रह नहीं गया ॥१९९॥ इस प्रकार मेरे नाम-संकीर्तनसे विश्वके सारे

दुःख नष्ट हो जाते हैं और सारे विश्वमें महासुख गूँज उठता है ॥२००॥ राव-रंक दोनों वरावर हो जाते हैं, छोटे-वड़ेमें कोई भेद नहीं रह जाता, जगत् सतत आनन्दका सदन वन जाता है ॥२०२॥ कभी एकाध वार वैकुण्ठधामको चलनेकी इच्छा हुई तो यह देखते हैं कि सर्वत्र ही तो वैकुण्ठ वसा हुआ है। नाम-घोषकी ऐसी महिमा है कि सारा विश्व ही जगमगा उठता है ॥२०३॥ (और फिर) मैं वैकुण्ठमें नहीं रहता; चाहे मैं सूर्य-विम्वमें भी कभी न देख पड़ूँ, योगियोंके मनसे भी चाहे कभी निकल जाऊँ ॥२०७॥ पर हे अर्जुन ! जहाँ लोग मेरा नाम-संकीर्तन करते हैं वहाँ मैं रहता ही हूँ—यदि न दिखायी दूँ तो भी मुझे वहीं ढूँढ़ना चाहिये ॥२०८॥ मेरा कीर्तन करनेवाले जो मेरे भक्त हैं वे कीर्तन-सुखसे परम सुख-लाभ कर अपने अन्दर आप ही निमग्न होकर देश-कालको भी भूल जाते हैं ॥२०९॥ और कृष्ण, विष्णु, हरिगोविन्द—इन नामोंके ही काव्य-प्रवन्ध रचकर और उनमें विशद आत्मचर्चा करते हुए अखण्ड गान गाया करते हैं।

कृष्ण विष्णु हरि गोविन्द। या नामांचे निखिल प्रवन्ध।
माजीं आत्मचर्चा विशद। उद्दण्ड गातीं ॥२१०॥
(अ० ९)

२२ यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्

'यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्' (अ० ९।२५) इस चरण-पर मधुर टीकाका माधुर्य अनुभव कीजिये—

जिनकी आँखोंने मुझे ही देखा, कानोंने मुझे ही सुना, मनसे मुझसे प्रीति लगायी, वाणीसे मेरी ही स्तुति की ॥३५९॥ जिन्होंने सर्वांगसे सर्वत्र मुझे ही प्रणाम किया, दान-पुण्य आदि जो कुछ किया मेरे ही लिये किया ॥३६०॥ जिन्होंने मेरा ही अध्ययन किया, जो अन्दर-बाहर मुझसे ही परितृप्त हुए, जो मेरे लिये ही जी रहे ॥३६१॥ हम श्रीहरिके आभूषण हैं, ऐसा अहङ्कार जो धारण करते हैं, जो संसारमें एक मेरे ही लोभसे लुब्ध हैं ॥३६२॥ जो मेरी ही कामनाके सकाम, मेरे ही प्रेमके सप्रेम, मेरे ही भुलावेमें भूले हुए हैं, जो मुझे छोड़ और लोक नहीं जानते ॥ ३६३ ॥ (वे मुझे प्राप्त होते हैं) । अर्जुन ! मेरे अन्दर अपनापन जबतक न हो तबतक कोई रस नहीं है । बाहरी उपचारोंके द्वारा मैं किसीको मिलनेवाला नहीं ॥३६७॥ इसलिये बड़प्पन छोड़ दे, तर्क-वितर्क भुला दे और संसारके सामने छोटा बने; तब मैं पास रहता हूँ ॥३७८॥ (अ० ९)

२३ भक्तिका रहस्य

मेरी भक्तिके बिना कोई जीता है तो ऐसे जीनेमें आग लगे । पृथ्वीपर पत्थर क्या कम हैं ? ॥४३६॥ पापोंकी छायासे जैसे सज्जन बचते हैं वैसे ही पुण्य अभक्तोंसे भागते हैं ॥४३७॥ जिनकी वाणी मेरा ही नाम लेती या कीर्तन करती है, जिनकी दृष्टि मेरा ही रूप देखती है, जिनका मन मेरा ही सङ्कल्प होता है ॥४४५॥ जिनके कान मेरे गुणगानसे खाली नहीं रहते, मेरी सेवा ही जिनके सर्वाङ्गका आभूषण बनती है ॥४४६॥ वे चाहे

पापयोनि ही क्यों न हों, वे श्रुत और अधीत चाहे न भी हों तो भी वे इतने महान् होते हैं कि मुझसे उनकी बराबरी की जाय तो किसी तरह वे कम न होंगे ॥ ४४९ ॥ भक्तिके द्वारा ही दैत्योंने देवताओंका महत्त्व घटा दिया; मेरा नृसिंहत्व उन्हींकी कीर्तिका एक भूषण है ॥ ४५० ॥ मन और बुद्धिमें मेरा प्रेम भरते ही उत्तमत्व तर जाता है और सर्वज्ञता परपार पहुँचती है ॥ ४५५ ॥ इसलिये कुल, जाति, वर्ण इससे कुछ भी आता-जाता नहीं, एक सद्भाव ही सार्थक होता है ॥ ४५६ ॥ वैसे ही क्षत्रिय, वैश्य, स्त्रियाँ, शूद्र और अन्त्यजादि जातियाँ तभीतक हैं जबतक वे मुझे नहीं प्राप्त हुईं ॥ ४५७ ॥ इसलिये हे अर्जुन ! वैश्य, शूद्र, स्त्रियाँ और पापयोनि भी मेरी भक्ति करके मेरे स्थानको प्राप्त होते हैं ॥ ४७४ ॥ (अ० ९)

२४ भक्तियोगके लक्षण

जो आत्मज्ञानी जगद्रूप मुझको मनमें बैठाकर सुखसे त्रिभुवनमें विहार करते हैं ॥ ११७ ॥ और जो कोई मिलता है उसे भगवान् ही मानते हैं, उनका यह चरित्र मेरा भक्तियोग है ॥ ११८ ॥ (अ० १०)

२५ पुनरुक्तिकी नवलता

बार-बार उन्हीं सिद्धान्तों और बातोंको दोहरानेसे जो पुनरुक्ति-दोष होता है उसका परिहार एक बड़ी सुन्दर ओवीमें किया गया है । कहते हैं—

सूर्य नित्य उदय होता है इससे क्या वह वासी हो जाता है ? अग्नि नित्य प्रज्वलित होकर क्या मलिन हो जाता है ? अथवा क्या नित्य वहनेवाली गङ्गाके जलको छूत लगता है ? (अ० १० । २०२)

२६ अभ्यासयोग

प्रतिदिन नियत समयपर चित्तको ईश-चिन्तनमें लगानेसे चित्त धीरे-धीरे विषयोंसे निकलकर चिद्रूप हो जाता है। यही अभ्यासयोग बतलाते हुए महाराज कहते हैं—

अच्छा तो तुम ऐसा करो कि इन आठ पहरोंमेंसे एक पल तो मुझे दो ॥ १०५ ॥ इससे जो-जो पल मेरा सुख अनुभव करेंगे उतने पल विषयोंसे घृणा करेंगे ॥ १०६ ॥ और फिर पूर्णिमासे जैसे चन्द्रकी कला दिन-दिन कम होती जाती और अमावस्याको खतम ही हो जाती है ॥ १०८ ॥ उसी प्रकार चित्त भोगसे निकलकर मेरे अन्दर आता जायगा और अन्तमें हे अर्जुन ! तुम 'मैं ही' हो जाओगे ॥१०९॥ अरे, अभ्यासयोग जिसे कहते हैं वह यही एक ही है, इससे न हो ऐसी कोई बात नहीं ॥ ११० ॥ अभ्यासके बलसे कितने ही (साधक) अन्तरिक्षमें चलते हैं; कितनोंने व्याघ्र, सर्प आदिको भी अपना बना लिया है ॥१११॥ अभ्याससे विष भी पच जाता है, समुद्रपर पैदल रास्ता बन जाता है, कितने तो अभ्याससे शब्दब्रह्मके भी आगे बढ़ गये हैं ॥११२॥ इसलिये अभ्यासके लिये कुछ भी दुष्कर

नहीं है और इसलिये तुम अभ्यासके द्वारा मुझमें आकर मिलो ॥११३॥ (अ० १२)

२७ भक्तके लक्षण

बारहवें अध्यायमें *'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्'* आदि जो सात-आठ श्लोक हैं उनपर महाराजने अनुपम भाष्य किया है। इसमें शान्ति-सुख भोगनेवाले भक्तोंके बड़े आनन्दप्रद लक्षण बताये हैं। ये ओवियाँ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। इनमें उपमाएँ बहुत ऊँची और मधुर हैं, तथा वाक्प्रवाह सहज और अस्खलित है। नमूनेके तौरपर कुछ ओवियोंका अनुवाद यहाँ देते हैं—

किसी भी प्राणीसे उसका कोई द्वेष नहीं होता। चैतन्यके समान उसके कोई अपना-पराया नहीं होता ॥१४४॥ जो उत्तम हो उसे धारण करे और अधम हो उसे त्याग दे, इस तरहका कोई भेदभाव जैसे धरतीमें नहीं होता ॥१४५॥ अथवा जैसे दयालु प्राण राजाका शरीर रखता हो और रङ्कको छोड़ देता हो ऐसा नहीं है ॥१४६॥ अथवा जल जैसे यह नहीं कहता कि हम गौकी प्यास बुझावेंगे और बाघको विष बनकर मारेंगे ॥१४७॥ वैसे ही प्राणिमात्रके लिये वह (भगवद्भक्त) एक-सा मित्र होता है; कृपामें तो वह पृथ्वी ही होता है ॥१४८॥ 'मैं' की भाषा ही वह नहीं जानता, 'मेरा' कुछ भी नहीं कहता और सुख-दुःख क्या होता है यह भी वह नहीं जानता ॥१४९॥ वर्षाके बिना ही समुद्र जैसे सदा जलसे भरा रहता है वैसे ही वह किसी भी बाहरी उपचारके बिना ही सदा सन्तुष्ट रहता है ॥१५१॥ जीवात्मा और

परमात्मा दोनों उसके हृदयभुवनमें एकासनपर विराजते रहते हैं ॥ १५३ ॥ सारा जगत् ही उसकी देह हो जाता है, इसलिये उसके लिये प्रिय-अप्रिय कुछ नहीं रह जाता ॥१६८॥ अन्दर-बाहर वह सूर्यके समान निर्मल और तत्त्वरूप द्रव्यको देखनेवाला हो जाता है ॥१७९॥ उसका मन सर्वत्र आकाशके सदृश व्यापक और उदासीन होता है ॥१८०॥ वह आत्मलाभ-जैसा लाभ और कुछ नहीं जानता; किसी प्रकारके भोगसे उसे कोई हर्ष नहीं होता ॥१९०॥ जो अपना है वह कल्पान्तमें भी नष्ट नहीं होगा, यह जानकर वह कभी गये हुएका शोक नहीं करता ॥ १९२ ॥ विषमता तो उसके पास फटकने भी नहीं पाती; उसके समीप शत्रु और मित्र दोनों समान होते हैं ॥ १९७ ॥ जैसे दीप घरके लोगोंके लिये ही उँजियारा करता हो और बाहरवालोंके लिये अँधेरा करता हो, ऐसा नहीं है ॥ १९८ ॥ अथवा जैसे वृक्ष काटनेवाले और लगानेवाले दोनोंको समानरूपसे अपनी छाया देता है ॥ १९९ ॥ अथवा ऊँख जैसे पालन करनेवालेको मधुर और काटनेवालेको कटु नहीं हुआ करता (दोनोंके लिये समान ही होता है) ॥ २०० ॥ वैसे ही उसका (भक्तका) भाव शत्रु और मित्र, मान और अपमान दोनोंमें समान होता है ॥ २०१ ॥ तीनों ऋतुओंमें आकाश जैसे एक-सा रहता है वैसे ही शीत हो या उष्ण उसका मान एक-सा ही रहता है ॥ २०२ ॥ दक्षिण ओरकी हवाके लिये और उत्तर ओरकी हवाके लिये मेरु जैसे मध्यस्थ होता है वैसे ही सुख हो या दुःख वह मध्यस्थ ही रहता है ॥ २०३ ॥ चन्द्रिका जैसे राजा-रङ्क दोनोंके लिये एक-सी

शीतल होती है वैसे वह सब प्राणियोंके लिये सम होता है ॥ २०४ ॥ समस्त जगत्‌के लिये जैसे जल समानरूपसे सेवन-योग्य है वैसे ही तीनों लोक उसे चाहते हैं ॥ २०५ ॥ जो निन्दाका खयाल नहीं करता, स्तुतिसे फूल नहीं जाता; आकाश-जैसा निर्लेप रहता है ॥ २०७ ॥ जो मिले उसीसे जो सन्तुष्ट रहता, जो न मिले उससे जिसे कोई क्लेश नहीं होता, जैसे वर्षाके बिना समुद्र नहीं सूखता (सदा भरा ही रहता है) ॥ २१० ॥ यह विश्व ही मेरा घर है, ऐसी मति जिसकी स्थिर हो गयी किंबहुना चराचर जगत् जो स्वयं ही हो गया ॥ २१२ ॥ उसे देखनेको मेरा जी ललचाता है, इसीलिये मुझ अचक्षुके ये चक्षु हैं । हाथके लीलाकमलसे हम उसका पूजन करते हैं ॥ २२३ ॥ उसकी देहको आलिङ्गन करनेके लिये, दो भुजाएँ कम मालूम पड़ीं इसलिये चार भुजाएँ धारणकर मैं आया हूँ ॥ २२४ ॥ (अ० १२)

तेरहवें अध्यायमें 'अमानित्व' आदि ज्ञानके छब्बीस लक्षण बतलाये हैं और उसी प्रकार 'मानित्व' आदि अज्ञानके जो छब्बीस लक्षण होते हैं वे भी बतलाये हैं इनका वर्गीकरण महाराजने बहुत ही सुन्दर किया है । इस प्रसङ्गमें मूलके छः श्लोकोंपर उनकी अत्यन्त मनोहर ७०० ओवियाँ हैं । तेरहवें अध्यायसे लेकर सोलहवें अध्यायके अन्ततक उन्होंने अनेक शब्दोंकी उत्तम व्याख्याएँ की हैं । अनेक शब्दोंके रसपूर्ण व्याख्यान किये हैं और अनेक शब्दोंके भावार्थ हृदयङ्गम करानेके लिये उन्होंने अनेक

सद्गुणसम्पन्न व्यक्तियोंके मनोरम वर्णन किये हैं । यहाँ नमूनेके तौरपर कुछ अवतरण देते हैं—

२८ अमानित्व

अपनी पूज्यता अपनी आँखों न देखे, अपनी कीर्ति अपने कानों न सुने, ऐसा न करे जिससे लोग यह पहचान लें कि यह अमुक है ॥ १८९ ॥ बृहस्पतिके समान सर्वज्ञता प्राप्त हो तो भी महिमाके भयसे अज्ञानियोंमें घुस बैठे ॥ १९१ ॥ अपना चातुर्य छिपावे, अपना महत्त्व विसार दे और अपना बावलापन लोगोंको दिखावे ॥ १९२ ॥ (अ० १३)

२९ अदम्भित्व

दुलत्ती झाड़नेवाली गौ जैसे अपना दूध चुराती है अथवा वेश्या जैसे अपनी अधिक वयस् चुराती है ॥ २०५ ॥ धनी पुरुष जङ्गलमें आ फँसनेपर जैसे अपना बड़प्पन छोड़ देता है, अथवा कुलवधू जैसे अपने अङ्ग छिपाती है ॥ २०६ ॥ अथवा कृषक अपने बोये हुए बीजोंको छिपा रखता है, वैसे ही दानसे मिला हुआ पुण्य वह छिपा रखता है ॥२०७॥ वह ऊपरी देहकी पूजा नहीं करता, अथवा किसीकी खुशामद भी नहीं करता अथवा अपना जो कुछ धर्म हो उसे अपनी वाणीके ध्वजपर बाँध नहीं रखता ॥ २०८ ॥ वह किये हुए उपकारको अपने मुँहसे नहीं कहता, अपने अभ्यासकी महिमा नहीं बखानता और कीर्तिके लिये की हुई कमाई बेंचा भी नहीं करता ॥ २०९ ॥ (अ० १३)

३० ज्ञानीकी चाल

कमलपर भौंरे जो पैर रखते हैं, बड़े हल्के रखते हैं, इस भयसे कि कहीं केसर कुचल न जाय ॥ २४८ ॥ उसी प्रकार परमाणुवत् बहुत ही छोटे-छोटे जीव सर्वत्र भरे हुए हैं, यह जानकर वह दया-वृत्तिसे धरतीपर बहुत ही हल्के पैर रखता है ॥२४९॥ वह अपने रास्तेको ही दयामय कर डालता है, सब दिशाएँ ममतासे भर देता है और प्राणियोंके नीचे अपना जी बिछाता है ॥२०९॥ (अ० १३)

३१ ज्ञानीकी वाणी

उसका साँस लेना बड़ा ही सुकुमार होता है, मुख तो स्नेहका मातृगृह ही होता है और दाँत ऐसे होते हैं जैसे माधुर्य ही अङ्कुरित हुआ हो ॥ २६२ ॥ आगे-आगे स्नेह झरता है, पीछे-पीछे अक्षर निकलते हैं, पहले कृपा बरसती है, पीछे शब्द ॥२६३॥ यों तो कुछ बोलता ही नहीं, पर यदि कभी बोलनेकी इच्छा हुई तो पहला ध्यान यह होता है कि मेरे शब्दोंसे किसीको कोई चोट तो नहीं लगेगी ॥२६४॥ किसीको कोई क्लेश न हो, किसीकी भौं न सिकुड़े, यही ध्यान रहता है इसलिये वह सहसा बोलता ही नहीं ॥२६७॥ पर किसीके प्रार्थना करनेपर यदि वह कुछ बोले तो उसके बोल इतने प्रेमभरे होंगे कि सुननेवाले उसे माँ-बाप मान लें ॥२६८॥ अथवा यह समझिये कि उसके मुखसे नादब्रह्म ही निकलता है अथवा गङ्गोदक ही उछलकर ऊपर आता है अथवा यह कहिये कि उसकी वाणी ऐसी

होती है जैसे पतिव्रता स्त्रीका वार्धक्य ॥२६९॥ उसके शब्द सत्य, परिमित और अमृतकल्लोल-जैसे रसीले होते हैं ॥२७०॥ (अ० १३)

३२ क्षान्ति

त्रिविध तापोंके उपद्रवोंका चाहे जितना बड़ा ताँता लग जाय, उससे वह जरा भी टेढ़ा नहीं होता ॥३४४॥ मान-अपमान वह सह लेता है, सुख-दुःख उसमें समा जाते हैं, निन्दा-स्तुतिसे उसके दो टुकड़े नहीं हो जाते ॥३४६॥ नदी-नदोंके बड़े-बड़े पाट यदि आ जायँ तो समुद्र जैसे बड़ा पेट करके उन्हें अपने अन्दर ले लेता है ॥३५०॥ वैसे ही वह सह न ले ऐसा कुछ भी नहीं है और वह सह लेता है इसका उसे कोई स्मरण भी नहीं रहता ॥३५१॥ (अ० १३)

३३ आर्जव (सरलता)

सूर्य जैसे किसीका मुँह देखकर नहीं उगता अथवा आकाश जैसे सारे विश्वके लिये एकमात्र अवकाश है ॥३५६॥ वैसे ही उसका मन है जो भिन्न-भिन्न मनुष्योंके लिये भिन्न-भिन्न नहीं, एक ही है; वैसा ही उसका व्यवहार भी ॥ ३५७ ॥ सारे विश्वसे ही उसकी जान-पहचान है, बड़ा पुराना नाता है; उसके लिये अपना-पराया कुछ भी नहीं है ॥ ३५८ ॥ हवाका चलना जैसे सीधा होता है वैसे ही उसका भाव सरल होता है; उसमें शङ्का या आकाङ्क्षा नहीं होती ॥ ३६० ॥ माँके पास जाते बच्चे-को जैसे कोई सोच-सङ्कोच नहीं होता, वैसे ही लोगोंको अपना

मन देते उसे कोई शङ्का नहीं होती ।। ३६१ ॥ विकसित कमल-में जैसे कोई मुकुलितपन नहीं होता वैसे ही उसके लिये कोई कोना-अतरा नहीं हुआ करता ।। ३६२ ॥ रत्न तो चमकते ही हैं पर साथ ही कुन्दनकी चमक होती है वैसे ही उसका मन आगे होता है, इन्द्रिय पीछे ।। ३६३ ॥ उसकी दृष्टिमें कपट नहीं होता, बोलनेमें सन्देह नहीं होता और किसीके साथ व्यवहारमें हीन बुद्धि नहीं होती ॥ ३६५ ॥ दसों इन्द्रियाँ उसकी सरल, निष्प्रपञ्च और निर्मल होती हैं और उसके पञ्चप्राणोंके स्तर आठों प्रहर मुक्त रहते हैं ।। ३६६ ॥ (अ० १३)

३४ स्थैर्य

ज्ञानीकी देह तो अपने ढङ्गसे ऊपर-ही-ऊपर घूमा करती है, पर उसके मनकी बैठक ज्यों-की-त्यों रहती है ॥ ४८६ ॥ भागते हुए मेघोंके साथ आकाश नहीं दौड़ा करता, वैसे ही उसका मन (चलते हुए शरीरके साथ नहीं चला करता) भ्रमणके चक्करमें नहीं भटका करता; ध्रुव-जैसा स्थिर रहता है ।। ४८९ ॥ दैन्य-दुःखसे वह सन्तप्त नहीं होता, भय-शोकसे कम्पित नहीं होता और देहकी मृत्यु हो तो भी भीत नहीं होता ।। ४९३ ॥ निन्दा यदि अप-मान करे, काम या लोभ आकर यदि लिपट जायँ तो भी मनका बाल भी बाँका नहीं होता ॥ ४९५ ॥ (अ० १३)

३५ अनन्य-भक्ति

उसके शरीर, वाणी और मन कृतनिश्चयका तीर्थ पीकर एक मुझे छोड़ और कोई स्थान नहीं देखते ॥ ६०५ ॥ वह मुझ-

में मिलकर भी मिलता रहता है। समुद्रमें गङ्गाजल जैसे मिलकर भी मिलता रहता है, वैसे ही वह मत्स्वरूप होकर भी मुझे सर्वस्व देकर भजता रहता है ॥ ६०८ ॥ (अ० १३)

३६ एकान्त

जो तीर्थोंमें, पवित्र जलाशयोंके किनारे, सुन्दर तपोवनोंमें और गुहाओंमें रहना पसन्द करता है ॥६१२॥ पर्वतकी गुहामें या जलाशयके समीप जो अपना आश्रम बनाता है; जो नगरमें नहीं जाता ॥६१३॥ एकान्तसे जिसकी अत्यन्त प्रीति होती और जनपदसे जिसका जी ऊबा हुआ होता है उसे ज्ञानकी मनुष्याकार मूर्ति ही जानो ॥६१४॥ (अ० १३)

३७ अज्ञानीके लक्षण

वह (जो अज्ञानी है) अपनी विद्याका फैलाव फैलाता है, अपने सुकृतका डंका पीटता है, और जो कुछ करता है सम्मान पानेके लिये करता है ॥६६०॥ उसे कहीं जरा भी अपनी निन्दा सुननी पड़े तो सिर पकड़कर बैठ जाता है; कीचड़ जैसे एक बूँदसे पतला हो जाता है और हवा लगते ही सूख जाता है ॥६६६॥ पेटके लिये कुत्ता जैसे यह नहीं देखता कि क्या ढका हुआ है और क्या वैसे ही पड़ा हुआ है, वैसे ही वह द्रव्यके लिये अपना-पराया नहीं देखता ॥ ६८० ॥ मदोन्मत्त हाथी जैसे मदान्ध होता है अथवा पर्वतपर जैसे दावानल धधकता है वैसे ही उसका चित्त विषयोंके पीछे पड़ा रहता है ॥ ६९९ ॥ बेलनकी तरह वह कभी नमता नहीं, पत्थरकी तरह कभी पिघलता

नहीं···· ॥ ७२६ ॥ शरीरको सुख हो, मनको अच्छा लगे, इतना ही वह देखता है; इसके आगे उसे कार्याकार्यका कोई विचार नहीं सूझता; वह जो कुछ करता है अकार्य ही करता है ॥७७८॥ कुण्डमें रहनेवाला मेंढक, सोंडमें लिपटी हुई मक्खी, कीचड़में धँसा हुआ भैंसा ॥७८४॥ जैसा होता है, वैसे ही उसका मन घरमें ही लगा रहता है, स्त्रीके सिवा और किसीको वह जानता ही नहीं ॥ ७८९ ॥ उसका चित्त स्त्रीकी ही आराधना करता है, उसीके इशारेपर वह नाचता है, जैसे कोई मदारीका वन्दर हो ॥७९३॥ (अ० १३)

३८ देह और आत्मा

पञ्चतत्त्वोंकी देह बनी और फिर कर्मोंके गुणोंसे बँधकर जन्म-मृत्युका चक्कर काट रही है ॥११०४॥ कालानलके कुण्ड-में यह मक्खनकी आहुति है। मक्खीका पंख हिलते-न-हिलते इसका काम तमाम हो जाता है ॥ ११०५ ॥ यह विपद्से यदि आगमें गिर जाय तो भस्म होकर उड़ जाय, और यदि इसमें कुत्ते-का मुँह लगा तो यह कुत्तेकी विष्टा हो जाय ॥११०६॥ इस देहकी तो यह दशा है। और आत्मा ऐसा है कि अनादि होनेसे शुद्ध है, नित्य है और स्वयं सिद्ध है ॥ ११०८ ॥ निर्गुण होनेसे यह कलावान् भी नहीं है और कलाहीन भी नहीं है, क्रियावान् भी नहीं है और अक्रिय भी नहीं है, कृश भी नहीं है और स्थूल भी नहीं है ॥११०९॥ यह अरूप होनेसे साभास नहीं, निराभास भी नहीं; प्रकाश नहीं, अप्रकाश भी नहीं;

अल्प नहीं, बहुत भी नहीं ॥ १११० ॥ यह आत्मा होनेसे आनन्द नहीं, निरानन्द भी नहीं; एक नहीं, अनेक भी नहीं; मुक्त नहीं, बद्ध भी नहीं ॥११११॥ यह अलक्ष होनेसे इतना नहीं, उतना भी नहीं; स्वयम्भू नहीं, दूसरेका किया भी नहीं; बोलनेवाला नहीं, गूँगा भी नहीं ॥१११३॥ यह अव्यय होनेसे नापा जाय न बोलकर बताया जाय, बढ़े न घटे, ऊबे न रहे ॥१११५॥ आत्मा एवंरूप है, हे प्रियोत्तम ! देही जिसे कहते हैं वह ऐसा है । मठाकार होनेसे आकाश ही जैसे मठ कहलाता है वैसे ही देहाकार होनेसे यह देही कहलाता है ॥ १११६ ॥ (अ० १३)

३९ परमेश्वर और जगत्

····मैं पिता हूँ, महद्ब्रह्म माता है और जगत् सन्तान है ॥११७॥ और यह सम्बन्ध वैसा ही है जैसे घट मृत्तिकाका बेटा है या पट कपासका पोता है ॥ १२१ ॥ नाना कल्लोल-परम्परा जैसे समुद्रकी सन्तति है, मेरा और चराचर जगत्का वैसा ही सम्बन्ध है ॥ १२२ ॥ जगत् उत्पन्न हुआ उससे यदि मैं ढक जाता हूँ तो जगत्के रूपसे कौन प्रकट होता है ? मानिककी कान्तिसे क्या मानिक छिप जाता है ? ॥ १२४ ॥ सोनेका अलङ्कार बना, इससे क्या उसका सोनापन चला गया ? कमल विकसित हो तो क्या उससे उसका कमलत्व ही नहीं रह जायगा ? ॥१२५॥ तुम्हीं बतलाओ, अर्जुन ! कि अवयवोंने अवयवीको छिपा दिया है या वही उसका रूप है ? ॥१२६॥

इसलिये जगत्को निकाल बाहर करके कोई मुझे देखे तो मैं दिखायी देनेवाला नहीं हूँ; क्योंकि जो कुछ है, सब मैं ही हूँ ॥१२८॥ (अ० १४)

४० वैराग्य

ज्ञानसे मोक्ष मिलेगा, इसमें कोई सन्देह नहीं; पर उस ज्ञानकी कदर करने योग्य शुद्ध मन भी तो हो ॥३५॥ वैराग्यके बिना ज्ञान कभी ठहर नहीं सकता। भगवान्ने पहलेसे ही सोच-समझकर ऐसी व्यवस्था कर रखी है ॥३६॥ भोजन विष मिलाकर यदि बना हो तो भोजन करनेवालेको यह बात मालूम होते ही वह थाल छोड़कर उठ जायगा ॥ ३८ ॥ वैसे ही ज्यों ही यह मालूम हो जाता है कि यह समस्त संसार अनित्य है, त्यों ही वैराग्य पीछे पड़ जाता है—किसी तरह हटाये नहीं हटता। ॥३९॥ (अ० १५)

४१ दान

काया, वाचा, मनसा अपने पास जो द्रव्य हो उसके द्वारा वैरी भी आर्त होकर आवे तो उसे विमुख न जाने देना ॥८५॥ वृक्ष जैसे फूल, फल, छाया, मूल, पत्र सब जो कोई पथिक आ जाय उसके सामने हाजिर करनेमें नहीं चूकता ॥८६॥ वैसे ही प्रसङ्गानुसार श्रान्त पथिक कोई आ जाय तो अपने धनधान्यादिके द्वारा उसके काम आना ॥८७॥ इसका नाम है दान जो मोक्ष-निधानका अञ्जन है।····॥८८॥ (अ० १६)

४२ स्वाध्याय

गेंद भूमिपर पटका जाता है भूमिको मारनेके लिये नहीं वल्कि उसे अपने हाथमें लेनेके लिये, अथवा खेतमें वीज वोया जाता है पर ध्यान रहता है फसलपर ॥ १०० ॥ उसी प्रकार जो ईश्वर प्रतिपाद्य है उसे गोचर करनेके लिये निरन्तर श्रुतिका अभ्यास करना पड़ता है ॥ १०३ ॥ यह ब्रह्मसूत्र द्विजोंके लिये ही है। दूसरोंके लिये पवित्र तत्त्व पानेके निमित्त स्तोत्र अथवा नाम-मन्त्रका आवर्तन है ॥ १०४ ॥ भगवान् कहते हैं कि स्वाध्याय जिसको कहा जाता है वह यही है.... ॥ १०५ ॥ (अ० १६)

४३ तप

दान सर्वस्व देना है, अपने लिये खर्च करना व्यर्थ गँवाना है; ओपधि दूसरोंको फल देती है और स्वयं सूख जाती है। ॥ १०६ ॥ उसी प्रकार हे वीर! स्वरूपकी प्राप्तिके लिये प्राण, इन्द्रिय और शरीरको घिसना ही तप है ॥ १०८ ॥ (अ० १६)

४४ अहिंसा

शरीर, वाणी और मनसे ऐसे रहना कि संसारको सुख हो, अहिंसाका रूप है ॥ ११४ ॥ (अ० १६)

४५ अपैशुन (सौजन्य)

दूसरोंके दोप अपनी दृष्टिसे धोकर तव उनकी ओर देखना चाहिये ॥ १४७ ॥ जैसे पूजा करके भगवान्‌को देखना चाहिये, वीज वोकर खेतकी रखवाली करनी चाहिये, प्रसन्न होकर

अतिथिका प्रसाद पाना चाहिये ॥ १४८ ॥ वैसे ही अपने गुणोंसे दूसरोंके दोष दूर करके उनकी ओर देखना चाहिये ॥ १४९ ॥ (अ० १६)

४६ आहार-शुद्धि

यों सामान्यरूपसे देखिये तो अपने भावकी वृद्धिके लिये आहारके सिवा और कोई बलवान् साधन नहीं है ॥ ११२ ॥ जैसा आहार करो वैसी ही धातु उत्पन्न होती है और धातु-जैसी मनोवृत्ति पुष्ट होती है ॥११६॥ जैसे बर्तनके गरम होनेसे अन्दरका जल भी गरम होता है वैसे ही धातु जैसी बनती है वैसी ही चित्तवृत्ति बनती है ॥ ११७ ॥ इसलिये सात्त्विक रस सेवन करना चाहिये, इससे सत्त्व बढ़ता है; अन्य रसोंसे रज-तम बढ़ते हैं ॥११८॥ (अ० १७)

४७ त्रिविध ज्ञान

सात्त्विक ज्ञान वही है जिसमें उस ज्ञानके साथ ज्ञाता और ज्ञेय हृदयमें एक हो जाते हैं ॥५२९॥ सूर्य जैसे अन्धकारको नहीं देखता, नदियाँ समुद्रको नहीं देखतीं अथवा जैसे अपनी छाया अपनेसे अलग करके पकड़ी नहीं जाती ॥५३०॥ वैसे ही जिस ज्ञानको शिवादिसे लेकर तृणपर्यन्त ये भिन्न-भिन्न चराचर भूतव्यक्ति अपनेसे भिन्न नहीं दिखायी देते ॥५३१॥ वह सात्त्विक ज्ञान है, वही मोक्षलक्ष्मीका भुवन है ····॥५३७॥ (अ०१८)

× × × ×

जो ज्ञानके भेदके सहारे चलता है वह राजस ज्ञान है ॥५३८॥ बालक सोनेके अलंकार देखते हैं तो अलंकार ही देखते हैं, सोना मानो उनके लिये है ही नहीं; वैसे ही (राजस ज्ञानवाले) नामरूप देखकर छिपे हुए अद्वैतको नहीं देख पाते ॥ ५४२ ॥ अथवा मूढ़जन घट देखकर पृथ्वीको नहीं देख पाते या दीप देखकर अग्नि नहीं देख पाते ॥५४४॥ वैसे ही जिस ज्ञानमें भिन्न-भिन्न भूत दिखायी देते हैं और ऐक्यबोधकी भावना लुप्त हो जाती है वह राजस ज्ञान है ॥५४५ ॥ (अ० १८)

× × ×

अब तामस ज्ञानका लक्षण बतलाते हैं, उसे घातकके घरकी तरह पहचान लो जिसमें उसके अन्दर जानेकी इच्छा न करो ॥५४८॥ जो ज्ञान विधिरूप वस्त्रके बिना ही घूमा करता है उसे नंगा जानकर श्रुति उसकी ओर पीठ फेर देती है ॥ ५४९ ॥ जैसे कौएको वमन किया हुआ, बासी-बूसा, सड़ा-गला सब बराबर होता है, कोई विवेक नहीं होता ॥ ५५६ ॥ वैसे ही तामस ज्ञानमें इस बातका कोई विचार नहीं है कि निषिद्धको छोड़ना चाहिये या विहितको आदरपूर्वक ग्रहण करना चाहिये, उसके लिये सब विषय बराबर हैं ॥ ५५७ ॥ विषयोंके ही पीछे रहनेवाला वह तामस ज्ञान जो कुछ देखता है वह लेना चाहता है और लेकर वह स्त्री और वह द्रव्य शिश्न और उदरको बाँट देता है ॥ ५५८ ॥ उसे भक्ष्य-अभक्ष्य या निन्द्य-अनिन्द्यका कोई विचार नहीं रहता, उसका एकमात्र बोध यही है कि जो जीभको अच्छा

लगे वही मेध्य है ॥ ५६० ॥ सकल विश्वको उसने केवल विषय मान लिया है, वह पेट भरता है, यही उसका कर्मफल है ॥५६४ ॥ (अ० १८)

४८ स्वजातिधर्म

उस सर्वात्मक ईश्वरका अपार सन्तोष साधन करनेके लिये स्वकर्मरूप पुष्पोंसे उसकी पूजा करे ॥ ९१७ ॥ अपना जो स्वधर्म है वह आचरणमें विषम (कठिन) माल्रम हो तो भी यह देखना चाहिये कि इसका अन्तिम फल क्या है ॥ ९२३ ॥ जलसे घृतमें अनेक अच्छे गुण हैं, पर मछलियोंका घृतमें रहना क्या ? ॥ ९२९ ॥ सारे जगके लिये जो विष है, विषके जन्तुओंके लिये वह विष नहीं है, अमृत ही है; विषके जन्तुओंको यदि गुड़ खानेको दें तो वे मर जायँ ॥ ९३० ॥ इसलिये अपने जातिस्वभावसे जो कर्म प्राप्त हुआ हो उसे जो करता है वही कर्मबन्धको जीत लेता है ॥ ९३३ ॥ (अ० १८)

४९ भक्तोंकी भगवत्पूजा

मैं जो कुछ हूँ वही सम्पूर्ण वह (भक्त) हो गया, अब वह आवेगा कहाँ और जायगा कहाँ ? इसकी यह जो अवस्था है, यही उसका मुझ अद्वयकी यात्रा करना है ॥ ११६८ ॥ उसके मुँहसे जो शब्द निकलते हैं वही मेरा स्तवन है, वह जो कुछ देखता है वही मेरा दर्शन है, वह चलता है वही मुझ अद्वयके पास उसका जाना है ॥ ११८० ॥ वह जो कुछ करता है वही पूजा है, वह मनसे जो कुछ विचारता है वही मेरा जप है, वह

सोता है वही हे कपिध्वज ! मेरी समाधि है ।। ११८१ ।। कनक और कंकण जैसे अनन्य हैं वैसे ही वह इस भक्तियोगसे मेरे ही जैसा है ।। ११८२ ।। (अ० १८)

५० मामेकं शरणं व्रज

रस्सीको हाथमें उठाकर साँपके होनेका भ्रम जैसे त्याग दिया जाता है अथवा नींदसे उठकर स्वप्न जैसे मिटा दिया जाता है ।। १३९२ ।। वैसे ही धर्माधर्मका बखेड़ा जिसके मूलमें अज्ञान ही दिखायी देता है, हटाकर सब धर्मोंको ही छोड़ दो ।।१३९५।। यह अज्ञान दूर होनेपर मैं आप ही रह जाता हूँ, जैसे नींदके साथ स्वप्नके टूट जानेपर अपने ही रह जाते हैं ।। १३९६ ।। वैसे ही मुझ एकको छोड़कर फिर भिन्न-भिन्न और कुछ नहीं है; सोऽहं बोधसे उस 'मैं' के साथ अनन्य हो जाओ ।। १३९७ ।। अपनेको भी अलग न रखकर, मेरा जो एकत्व है उसे जाननेका नाम ही मेरी शरण आना है ।। १३९८ ।। घटके नाशसे जैसे (घटका) आकाश आकाशमें मिल जाता है, मेरी शरण आना वैसा ही मेरे साथ एक होना है ।। १३९९ ।। सुवर्णमणि जैसे सोनेकी, लहरें जैसे समुद्रकी, वैसे ही तुम मेरी शरण लो ।। १४०० ।। मेरी शरण आकर भी जीवदशा नहीं छूटी, यह जो कहता हो उसके इस कहनेको धिक्कार है ! ऐसा कहते हुए बुद्धि लज्जित क्यों नहीं होती ? ।।१४०२।। अरे ! अदने-से राजाके साथ सोनेवाली दासी भी राजाकी बराबरी करती है ! ।। १४०३ ।। फिर मैं तो साक्षात् विश्वेश्वर हूँ । मेरे मिलनेपर भी जीवग्रन्थि न छूटे,

ऐसा कैसे हो सकता है ? ऐसा निपट झूठ कानमें भी न पड़ने दो ॥ १४०४ ॥ (अ० १८)

× × ×

सब रूपोंके रूप, सब नेत्रोंकी ज्योति, सब देशोंके निवास श्रीकृष्णने यह कहा ॥ १४१७ ॥ और तब अपना कंकणयुक्त दाहिना साँवला हाथ आगे करके शरणागत भक्तराजको आलिंगन किया ॥ १४१८ ॥ हृदय में हृदय एक हो गया, इस हृदयका उस हृदयमें चला गया, द्वैतको तोड़े बिना अर्जुनको अपना-जैसा बना लिया ॥ १४२१ ॥ दीपसे जैसे दीप जलाया जाय, वैसा ही हुआ । द्वैतको नष्ट किये बिना अर्जुनको अपने स्वरूपमें मिला लिया ॥ १४२२ ॥ (अ० १८)

५१ अर्जुनकी स्वीकृति

अब आप यह क्यों पूछते हैं कि अब मोह कुछ बचा है या नहीं ? आपने अपने गुणसे मुझे कृतकृत्य किया है ॥ १५६२॥ अर्जुनपनमें मैं फँसा हुआ था तो आपपनसे मुक्त हो गया हूँ । अब पूछना कुछ नहीं, बतलाना भी कुछ नहीं है ॥ १५६३ ॥ आपसे मैंने अपने आपको पाया, इसीमें सारा कर्तव्य समाप्त हो गया, अब आपकी आज्ञाके सिवा और कुछ भी नहीं है ॥ १५६७ ॥ आपके और मेरे बीचमें भेदका जो कपाट था उसे खोलकर आपने सेवा-सुख मधुर कर दिया ॥१५७४॥ (अ०१८)

सञ्जय कहते हैं—

दोनों दर्पण उठकर, एक दूसरेके पास आमने-सामने आ गये । अब बताइये, कौन किसको देख रहा है ? ॥ १५७७ ॥ (अ० १८)

× × ×

अवतरण बहुत हो गये पर इतने अवतरण इसीलिये दिये हैं कि ज्ञानेश्वर महाराजकी वाग्दान-पद्धति कितनी रमणीय है और पद और अर्थ दोनों कैसे एक दूसरेकी शोभा बढ़ानेवाले हैं, यह पाठकोंको मालूम हो और ज्ञानेश्वर महाराजने सहज स्वभावसे जो ज्ञान-दान किया है उसे पाठकोंके हृदय अच्छी तरह ग्रहण करें । गीताके अनुसार ज्ञानेश्वरीमें बड़ी ही मनोहर रीतिसे यह बताया गया है कि किस प्रकार कर्म, उपासना और ज्ञान तीनों मार्ग मोक्ष-दायक हैं और किस प्रकार उनका अनुष्ठान करना चाहिये । कर्म, ज्ञान और उपासना शब्दतः भिन्न दिखायी देते हैं; पर 'एक विट्ठल ही हैं यह जानना ही ज्ञान है और यही भक्ति है ।' यही सम्पूर्ण ग्रन्थका मर्म है । अद्वैत-ज्ञान और भक्ति, निर्गुण और सगुण, दोनोंका उत्तम समन्वय ज्ञानेश्वरीमें हुआ है । ज्ञानेश्वर ज्ञानी भक्त थे, इससे सम्पूर्ण ज्ञानेश्वरी अद्वैत भक्तिके प्रेमरङ्गसे रँगी हुई है । श्रीमत् शङ्कराचार्यके भाष्यकी किञ्चित् छाया ज्ञानेश्वरीपर पड़ी हुई है । पन्द्रहवें अध्यायमें महाराजने वृक्षरूपक-का जो प्रयोजन बताया है वह उनतालीसवें अवतरणमें दिया है, उसके साथ आचार्यके भाष्यकी यह पंक्ति मिलाकर देखने योग्य है—

'तत्र तावद् वृक्षरूपककलनया वैराग्यहेतोः संसारस्वरूपं वर्णयति विरक्तस्य हि संसाराङ्गवत्तत्त्वविज्ञानेऽधिकारो नान्यस्येति।' 'दम्भ' को आचार्यपादने 'धर्मध्वजित्वम्' कहा है और महाराज उसका अर्थ यों वतलाते हैं कि, 'स्वधर्मको अपनी वाणीके ध्वजसे न वाँध रखना चाहिये।' महाराज स्वयं ही वतलाते हैं कि, 'भाष्यकार-से रास्ता पूछते हुए' मैंने यह टीका की है (अ०१८। १७२३) पर यह वात अद्वैतप्रतिपादनके विषयमें ही हो सकती है कि महाराजने 'आचार्यसे रास्ता पूछा' हो, अन्यथा ज्ञानेश्वरीका सारा रङ्ग महाराजका अपना रङ्ग है। महाराजका अन्तःकरण कृष्णप्रेमसे, सगुणप्रेमसे रँगा हुआ रहता था। कुछ लोगोंने एक नयी राय कायम की है कि ज्ञानेश्वरीपर शङ्कराचार्यकी अपेक्षा रामानुजाचार्यका रंग अधिक चढ़ा हुआ है। पर ज्ञानेश्वर महाराजका सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान अद्वैत-मूलक है, इसमें तो कोई सन्देह ही नहीं हो सकता। आचार्य और ज्ञानेश्वरके वीच भेद पैदा करनेका प्रयत्न सफल नहीं हो सकता। निर्गुणका प्रतिपादन करते हुए भी महाराज तुरन्त सगुणका प्रसङ्ग छेड़ सगुण-निर्गुणका एकात्मभाव दरसा देते हैं। इसका एक ही उदाहरण लीजिये। छठे अध्यायमें धारा-प्रवाहसे कुण्डलिनीका वर्णन करते हुए एक क्षणमें वह निर्गुण-वोधमें प्रवेश कर गये और 'जहाँसे शब्दमात्र पीछे रह जाता है; जहाँ संकल्पकी आयु समाप्त होती है; जहाँ विचार अस्तङ्गत होता है; जो उन्मनीका लावण्य, तुरीयाका तारुण्य, विश्वका मूल, योग-द्रुमका फल, महाभूतोंका वीज और महातेजका भी तेज है; जहाँ आकारका प्रान्त, मोक्षका एकान्त, आदि और अन्त सवका लय

हो जाता है,' वहाँ पहुँच गये और तुरन्त ही सगुणप्रेम भी हृदय-में उमड़ आया और यह कहकर कि, 'वही यह चतुर्भुजमूर्ति बनकर आया है, उसीकी शोभा इस रूपको प्राप्त हुई है, यह देखकर कि भक्तोंको नास्तिकोंने बहुत पीड़ित किया है' (अ० ६। ३२४)—यह कहकर—सगुण-निर्गुण एक बता गये। उनके अभङ्गोंमें भी यही रङ्ग है। महाराजका तत्त्वज्ञान 'अमृतानुभव' में अधिक स्पष्ट हुआ है। पर उस तत्त्वज्ञानका रुख उन्होंने ज्ञाने-श्वरीमें भी दिखा दिया है। ऊपर दिये हुए अड़तीसवें अवतरणको ध्यानपूर्वक पढ़नेसे यह बात ध्यानमें आ जायगी। अनेक दृष्टान्त देकर उन्होंने यह दिखा दिया है कि संसार मिथ्या, मायिक, अज्ञानकृत नहीं प्रत्युत श्रीहरिका विलास है। जगत् केवल चिद्विलास है। उपर्युक्त दो सिद्धान्तोंकी नींवपर उनका सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान प्रतिष्ठित है। सगुण-निर्गुणके एक होनेका मतलब ही यह है कि संसार चिद्विलास है। उनका सम्पूर्ण नीतिबोध इसी सिद्धान्तकी रेखापर है। नीति धर्मसे रहित नहीं है और धर्म-तत्त्वका कोई विचार न कर नीतिका जो बोध होता है वह अधूरा और असमर्थ होता है, यह बात अनेक आधुनिक अभीतक नहीं समझते हैं। अमानित्व, अदम्भित्व, क्षान्ति, आर्जव, स्थैर्य, अनन्य भक्ति, तप, स्वाध्याय, अहिंसा, अपैशुन इत्यादि शब्दों-की कितनी उत्तम व्याख्याएँ की हैं और वे सब किस प्रकार एक आत्मबोधके क्षेत्रके अन्दर हैं यह बात ऊपरके अवतरणोंसे बहुत अच्छी तरह ध्यानमें आ जायगी। पुरुषार्थवादके तेजसे महाराजकी वाणी दीप्तिमन्त हुई है यह दसवें और छब्बीसवें

अवतरणसे मालूम होगा। सन्त योगी, ज्ञानी भक्तोंका रहस्य ३, ७, १६, २७ और ४५ वें अवतरणोंसे प्रकट होगा।

अमृतानुभव

ज्ञानेश्वरीमें महाराजने अध्यात्मतत्त्वज्ञानके सिद्धान्त कहीं कोई परदा रखकर भी बताये हैं, पर अमृतानुभवकी यह बात नहीं। ज्ञानेश्वरी गीताकी टीका है, इसमें उन्होंने जो कुछ कहा है वह गीताकी मर्यादाके अन्दर रहकर कहा है। पर 'अमृतानुभव' के नामसे, उन्होंने श्रीगुरु निवृत्तिनाथकी आज्ञासे, बिल्कुल स्वतन्त्र ग्रन्थ लिखा है। इसका 'अमृतानुभव' नाम ही प्रसिद्ध है, पर स्वयं ज्ञानेश्वर महाराजने इस ग्रन्थकी अन्तिम ओवीमें ही इसका नाम 'अनुभवामृत' रखा है। इसके मङ्गलाचरणके प्रथम पाँच श्लोक संस्कृत हैं, शेष ग्रन्थ ओवी-बद्ध है। इसके दश अध्याय हैं और ओवी-संख्या ८०६ है। यह ग्रन्थ महाराजका पूर्णोद्गार है। इसपर शिवकल्याणकी ओवी-बद्ध टीका प्रसिद्ध है। जनश्रुति है कि श्रीएकनाथ महाराजने भी इसपर एक ओवी-बद्ध टीका की थी। पर वह हमें कहीं नहीं मिली। यदि वह कहीं मिल जाय तो बड़ा ही आनन्द हो। पण्ढरपुरके प्रह्लादबोवा बड़वे नामक सत्पुरुषने इस ग्रन्थका संस्कृत-अनुवाद किया है जिसमें प्रत्येक ओवीपर एक-एक श्लोक है। मराठी ग्रन्थको संस्कृत-वस्त्रालंकार परिधान कराने-का यह पहला ही अवसर है। * इसके अतिरिक्त और भी कई गद्य-

* ज्ञानेश्वरीका भी संस्कृत-अनुवाद अब हो गया है। इसका नाम 'गीर्वाण ज्ञानेश्वरी' है और यह जव रियासतके न्यायाधीश (जज) श्रीअनन्तविष्णु खासनीसने किया है।

पद्यात्मक टीकाएँ हैं। 'अमृतानुभव' का साग्र विवरण करना मेरे अधिकारके बाहर है और इस ग्रन्थमें अब उसके लिये स्थान भी नहीं है। तथापि यह कहना ही पड़ता है कि इस ग्रन्थके जोड़का अध्यात्मग्रन्थ संस्कृत-साहित्यमें भी शायद ही कोई हो! तत्त्व-ज्ञानकी अत्युच्च भूमिकाका यह ग्रन्थ है। यह स्वयं सिद्धानुवाद है—अनुभवका अमृत है! यहाँ वाणी बेचारी क्या बोलेगी? पूर्ण बोधका हृत्तत्त्व दिखानेवाली यह सिद्ध-वाणी है। ज्ञानेश्वरीके समान ही यह ग्रन्थ भाषाकी दृष्टिसे अत्यन्त सुबोध और काव्यके गुणों और उपमा-दृष्टान्तादिसे अलंकृत है। अत्युच्च तत्त्वज्ञानको काव्य-की अति मनोहारिणी भाषामें व्यक्त करना केवल ज्ञानेश्वर महाराज-के लिये ही अनन्य-साधारण है। तत्त्वज्ञान और काव्यका ऐसा अपूर्व संयोग संसारके सम्पूर्ण साहित्यमें उनके सिवा और किसी-से नहीं बन पड़ा। पहले अध्यायमें प्रकृति-पुरुषका ऐक्य, दूसरेमें सद्गुरुस्तवन, तीसरेमें अविद्यात्मक चारों वाणियोंके बन्धनसे मुक्त होनेपर भी विद्यात्मक वाणीका जो बन्धन शेष रहता है उससे छूटनेका उपाय, चौथेमें ज्ञानाज्ञानधर्मरहित आत्मभावका विकास, पाँचवेंमें ज्ञानमात्र आत्मस्वरूपमें सच्चिदानन्द-कल्पनाका लय, छठेमें शब्दमण्डन और शब्दखण्डन, सातवेंमें अज्ञानखण्डनपूर्वक 'संसार वस्तु-प्रभा है—चिद्विलास है, इस मुख्य सिद्धान्तका स्पष्टीकरण, आठवेंमें ज्ञानखण्डन, नवेंमें अभेद भक्तके कर्म और दसवेंमें ग्रन्थमहिमावर्णनपूर्वक उपसंहार है। इन दसों अध्यायों-मेंसे अनेक अवतरण दिये जा सकते हैं। परन्तु विस्तारके साथ विवरण दिये बिना केवल अवतरणोंको समझ लेना सामान्यतः

कठिन होगा और फिर इतना अवकाश भी नहीं है। सद्गुरु-स्तवनका जो अध्याय है उसका सारांश इस ग्रन्थमें पहले प्रसङ्गसे आ चुका है। उससे भी ग्रन्थपद्धतिका अनुमान किया जा सकता है। इसलिये दो-चार, विशेषमें भी विशेष महत्त्वके अवतरण देकर यह प्रकरण समाप्त करेंगे। पहले अध्यायमें प्रकृति-पुरुष या शिव-शक्तिका एकात्मभाव दरसाते हुए पति-पत्नीके अन्योन्य-सम्बन्धसे निकलनेवाली अति कोमल ध्वनि सूक्ष्मदर्शी, रसिक पाठकोंको परमाह्लादित किये बिना न रहेगी। इसमें सर्वोत्कृष्ट काव्य है। देखिये प्रकृति-पुरुपका ऐक्य—

'संसारके जो मूल, उपाधिरहित माता-पिता हैं उन देव-देवी—भगवान्-भगवतीको मैं प्रणाम करता हूँ ॥ १ ॥ आत्मसुखका कैसा आनन्द है कि दोनोंपन मिलकर एक हुए हैं, ऐसे एक हुए हैं कि एकपन जरा भी भङ्ग नहीं होने देते ॥ ५॥ यहीं वियोगरूपसे जगत् जितना बड़ा बालक पैदा हुआ है, बच्चा तो पैदा हुआ पर दोनोंपनका जो एकपन है वह अभंग बना हुआ है ॥ ६॥ एक ही सत्ताके आसनपर दोनों बैठे हैं, दोनों एक ही प्रकाशके अलंकार धारण किये हुए हैं; क्योंकि अनादिसे ही दोनों एकपन-का विलास कर रहे हैं ॥ ८॥ इन दोनोंमेंसे कोई दूसरेके बिना तृण भी निर्माण नहीं करता। कारण, दोनों एक दूसरेके जीव, एक दूसरेके प्राण हैं ॥१२॥ स्त्री-पुरुष-नाम-भेदसे शिवत्व अकेला विलास करता है। सारा जगत् उनका आधा-आधा है ॥ १७॥ दो कानोंकी जैसे एक ही श्रुति, दो फूलोंकी जैसे एक ही गन्ध, दो

दीपोंकी जैसे एक ही दीप्ति होती है ॥१८॥ दो होठोंकी जैसे एक ही बात, दो आँखोंकी जैसे एक ही निगाह होती है, वैसे ही भगवती-भगवान् दोनोंकी सृष्टि एकत्वकी सृष्टि है' ॥१९॥

आत्मस्वरूपमें अविद्याकृत बन्ध ही नहीं है और इसलिये वहाँ विद्याकृत मोक्षकी भी कल्पना नहीं है। यह बतलाते हुए महाराज पूछते हैं—'हौएसे डरना बचपनमें होता है, पर जो बच्चे नहीं हैं उनके लिये हौआ क्या? वैसे ही मृत्युको भी कौन माने?' (३।१३) सत्-चित्-आनन्द ये तीन पद आत्माका द्रष्टृत्वभाव प्रकट करके लय हो जाते हैं और इसलिये ये पद वस्तुवाचक नहीं हैं। इसी बातको समझाते हुए महाराज कहते हैं—

'फल देकर फूल सूख जाता है, फल रस पकनेपर नष्ट होता है। रस भी तृप्ति देकर समाप्त होता है (५।२२) अथवा आहुति अग्निमें डालकर हाथ हट जाता है, गीत आनन्द पाकर मौन हो जाता है। (५।२३) वैसे ही सत्-चित्-आनन्द-पद द्रष्टाको दिखाकर मौन हो जाते हैं' (५।२४)

छठे अध्यायमें पहले शब्दका मण्डन करके पीछे बड़ा अच्छा खण्डन किया है। पहले मण्डन देखिये। महाराज कहते हैं कि, 'शब्द बड़ी उपयोगी वस्तु है! यह स्मरण दिलानेमें प्रसिद्ध है।' *'तत्त्वमसि,' 'अहं ब्रह्मास्मि,' 'प्रज्ञानं ब्रह्म,' 'अयमात्मा,'* चार वेदोंके ये चार महावाक्य स्मरण दिलानेवाले स्मारक ही तो हैं। जीवात्मा अमूर्त है, निज रूपको भूला हुआ है। उसके उस 'अमूर्त स्वरूपको दिखानेवाला क्या यह शब्द दर्पण नहीं

है ?' ॥ १ ॥ 'यह विधिनिषेधके मार्ग दिखानेवाला मशालची है और बन्ध-मोक्षके कलहको मिटानेवाला शिष्ट यही है' ॥ ५ ॥ 'देह-बुद्धिसे बँधा हुआ जीव एक शब्दसे (सद्‌गुरुके शब्दद्वारा) मुक्त हो जाता है और उससे आत्माके साथ निजरूपमें उसका मिलन होता है यह शब्दकी ही महिमा है' ॥ ८ ॥

अब शब्दका खण्डन देखिये। आत्मा स्वसंवेद्य है, वहाँ शब्द स्मरण कराकर क्या करेगा ? और आत्मा अपने आपको भूल भी कैसे सकता है, फिर स्मरण क्या ? ज्ञानमात्र आत्मवस्तु स्मरण-विस्मरण-रहित है। जागृतिमें निद्रा नहीं तो फिर जागरण क्या ? 'स्मरणास्मरण दोनों स्वरूपमें वैसे ही हैं।' सूर्यमें रात और दिन दोनों नहीं हैं, वैसे ही आत्मवस्तुमें स्मरण-विस्मरण जो परस्पर सापेक्ष कल्पनाएँ हैं, नहीं हैं। विस्मरण याने अविद्या ऐसी है कि यह दूर होनी चाहिये ! कहनेको तो यही कहा जाता है, पर अविद्या (*या न विद्यते सा*) ही अपने नामसे यह सूचित करती है कि मैं नहीं हूँ। अविद्या जब है ही नहीं तब वह दूर क्या होनी चाहिये ? और उसके लिये स्मरण दिलानेको शब्दका प्रयोजन ही क्या रह गया ? 'शब्द अविद्याको नष्ट करता है यह जो समझता है वह आकाशकी खाल खींचता है। (६ । ४७) उसका यह काम अजागलस्तनसे दूध निकालना, हथेली-पर सरसों जमाना, जँभाई पीसकर उसका रस निकालना, हौए-को मारना, प्रतिबिम्बपर खोल चढ़ाना, हथेलीके बाल सँवारना, घटका अभाव फोड़ डालना, आकाशके फूल तोड़ना, शशशृंगको

मोड़ना, कपूरकी स्याही बनाना, रत्नदीपसे काजल लेना, बाँझके बच्चेको पालना है । (६ । ४८ से ५३ तक) यह कहाँतक कहें, अविद्याको तो अभावने रचा है, शब्द यहाँ किसको दूर करेगा ?' ॥५५॥

मार्मिक दृष्टान्तोंकी कितनी भरमार है ! आत्मा स्वयंसिद्ध और स्वसंवेद्य है और अविद्या तो कोई चीज ही नहीं है, इसलिये शब्दका कुछ प्रयोजन ही नहीं रहता । इसलिये महाराज कहते हैं, 'अविद्या जो नहीं है उसे नष्ट करना क्या ? आत्मा जो सिद्ध है उसे साधना क्या ?' (६।९७)

सातवें अध्यायमें अज्ञान-खण्डन-प्रसंगमें महाराजने ऐसी-ऐसी युक्तियाँ दी हैं कि न्यायशास्त्रियोंको दाँतों उँगली दबाके रह जाना पड़ता है । न्यायशास्त्र ही मानो उनकी कुशाग्र बुद्धिपर मोहित होकर सदा उनकी सेवामें उपस्थित रहता था । महाराजकी विलक्षण युक्तियोंके दो उदाहरण यहाँ देते हैं—

'अज्ञान यदि अपनी सत्तासे ज्ञानरूप आत्माको पूर्ण अज्ञान नहीं बना सकता तो उसे अज्ञान कहते लज्जा आनी चाहिये ।' (७ । १५)

अज्ञानका यह स्वभाव प्रसिद्ध है कि जहाँ रहे वहाँ वह अपने आश्रयको ढाँक दे । पर आत्माको वह नहीं ढाँक सकता इसलिये वह नहीं है, यही सिद्ध है ।

'और अमुक अज्ञान है यह जिस ज्ञानसे मालूम हुआ उसे किसी समय भी अज्ञान नहीं कह सकते ।' (७ । १८)

'अमृतानुभव' का मुख्य सिद्धान्त यह है कि 'संसार चिद्विलास है।' इसका बहुत ही सुन्दर विवरण सातवें अध्यायमें १२३ से २६७ तककी ओवियोंमें है। संसार अज्ञानकार्य अर्थात् अविद्याकृत है, यह पूर्वपक्ष है। इसका खण्डन करके महाराजने 'चिद्विलास' का सिद्धान्त प्रस्थापित किया है। ब्रह्मने 'प्रकाशके कपाट खोले' अर्थात् नामरूपात्मक, जगत्‌रूपसे ब्रह्म विकसित हुआ। द्रष्टा और दृश्यका पूर्ण ऐक्य है। दृश्यको अध्यारोपित माननेका कोई कारण नहीं है।

'इसलिये एक चिद्रूप ही है। चित्पुरुष ही अपने रूपको आप देख रहा है। इसमें अध्यारोप माननेका क्या काम है?' (७।१६५)

आठवें ज्ञानखण्डनाध्यायमें यह बतलाया है कि 'अज्ञान ही जहाँ नहीं है वहाँ ज्ञान क्या होगा?' (८।१०) कारण, ज्ञान और अज्ञान परस्पर सापेक्ष हैं।

ज्ञानाज्ञानसम्बन्धरहित जो आत्मस्वरूप है वह मेरा आत्मस्वरूप ज्ञानेश्वर महाराज कहते हैं कि, सद्‌गुरुने मुझे दिया है, उसे मैं वाणीके हाथ कैसे दूँ—

'हमारे नाममें अज्ञानका नाम भी नहीं है। गुरुदेवने हमें हम बना दिया। (८।१) श्रीगुरु निवृत्तिनाथने हमें जिस स्थितिमें रखा है वह हम वाणीके हाथमें कैसे दें?' (८।८)

नवें जीवन्मुक्ताध्यायमें कहा है कि जीवन्मुक्त आत्मरूप हो जाता है, इस कारण उसके इन्द्रिय और विषय भी आत्मरूप

होते हैं। उसका विषयसेवन भी मोक्षको मात करता है और भक्त और भगवान् एक होते हैं। उसकी उपासना वस्तुतन्त्र होती है।

'भगवान् ही भक्त हो जाते हैं, ठाँव ही पथ हो जाता है, एकान्त ही यह विश्व बन जाता है। (९। ३४)····कर्मका हाथ नहीं लगता, ज्ञानकी कोई बात नहीं आती; अपने आप उपासना होती है।' (९।५८)

दसवें अध्यायमें सद्गुरुकृपाकी स्तुति करते हुए बतलाते हैं कि उसी कृपासे जो यह अमृत प्राप्त हुआ वह मेरे ही द्वारा संसारको दिलाना भी उन्हींकी उदारता है। इस 'अमृत' को उन्होंने सिद्धानुवाद कहकर उसका अभिप्राय यह बताया कि, 'यह मौनका ही मौन है। कहते हैं, 'अपना आत्मसुख मैंने भोग किया होता पर भगवान्ने सूर्यको जो प्रकाश दिया वह संसारको प्रकाशित करनेके लिये, चन्द्रको चन्द्रामृत संसारको सुखी करनेके लिये, दीपको ज्योति घरमें उजियारा करनेके लिये, वैसे ही आत्मसुख सबको बाँट दो, यह उन्हींकी आज्ञा है। यह उनका औदार्य है। इस प्रकार अमृतानुभवमें स्वसंवेद्य आत्म-बोधका निरूपण किया है।

ज्ञानेश्वरी और अमृतानुभवके अतिरिक्त महाराजके अन्य जो छोटे ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं उनमें हरिपाठके अभंग और चाङ्गदेवपासष्टी मुख्य हैं। चाङ्गदेवपासष्टीका निरूपण इस ग्रन्थके 'चाङ्गदेव और ज्ञानदेव' अध्यायमें हो ही चुका है। अब हरिपाठ तथा

अन्य अभंगोंको देखें। ज्ञानेश्वरी और अमृतानुभवमें मुख्यतः अध्यात्मनिरूपण है और स्थान-स्थानमें सगुण-निर्गुणका एकात्मभाव दरसाया है। पर प्राकृतजनोंको निर्गुणोपासनाका अधिकार नहीं है इसलिये और सगुणोपासनामें पूर्ण सामर्थ्य होनेसे तथा यह सुलभ है इसलिये भी इन अभंगोंमें महाराजने सगुणोपासनाको ही बढ़ाया है। हरिपाठादि अभंगोंमें उन्होंने सगुण प्रेम ही लुटाया है। इन अभंगोंमें भगवान्, भक्त और नामका त्रिवेणी-सङ्गम है। हरिपाठके अभंग सत्ताईस हैं, पर ये हैं सर्वोत्कृष्ट। नाम-माहात्म्य तो बड़े ही प्रेमसे गाया है। सब जीवोंको हरिनाम लेनेका उपदेश उन्होंने दिया है। महाराज कहते हैं कि योग-यागविधि, तीर्थाटन आदिसे नाम-स्मरण श्रेष्ठ और सुलभ है और 'नाम-स्मरणसे मेरा उद्धार हुआ।' हरिपाठ बहुतोंके, विशेषकर वारकरियोंके नित्यपाठमें है। वारकरियोंकी यह सन्ध्या है। जड जीवोंको नाम-स्मरणमें प्रवृत्त करानेके लिये, इन अभंगोंमें देखें, महाराज क्या कहते हैं।

'भगवान्‌के द्वारपर पलभर तो खड़े रहो।' (१ । १)

× × ×

'चारों वेद, छहों शास्त्र, अठारहों पुराण हरिके ही गीत गाते हैं।' (२ । १)

× × ×

'दिन-रात प्रपञ्चके लिये इतने कष्ट करते हो! भगवान्‌को क्यों नहीं भजते?' (४ । ३)

× × ×

'जिसे भक्ति नहीं वह अभक्त, पतित है। हरिको नहीं भजता वह दैवका मारा है।' (७ । २)

× × ×

'हरिनाम उच्चारनेसे अनन्त पापराशि पलभरमें भस्म हो जाते हैं।' (११ । १)

'भक्ति बिना तीर्थ, व्रत, नेम और नाना प्रकारकी सिद्धि लोगोंके लिये व्यर्थकी उपाधि है।' (१२ । १)

'भावबलसे भगवान् मिलते हैं, नहीं तो नहीं। करतलामलकवत् श्रीहरि हैं।' (१२ । २)

× × ×

'राम-कृष्णका नाम अनन्तराशि तप है। उसके सामने पापके झुण्ड भागते हैं।' (१४ । २)

× × ×

''हरि, हरि, हरि' शिवका मन्त्र है, जिसकी वाणी यह मन्त्र जपती है उसे मोक्ष मिलता है।' (१४।३)

× × ×

'शास्त्रका प्रमाण है, श्रुतिका वचन है कि 'नारायण' ही सब जपोंका सार है।' (१९।१)

'जप, तप, कर्म, धर्म हरिके बिना सब श्रम व्यर्थ हैं।' (१९।२)

× × ×

'नामोच्चारणमें काल-समयका कोई नियम नहीं। दोनों पक्षोंमें उद्धार है।' (२१।१)

'राम-कृष्ण-नाम सर्व-दोष-हरण है। जड जीवोंके लिये हरि ही एक तरण-तारण हैं।' (२१। २)

'भाव मत छोड़, सन्देह छोड़ दे; गला फाड़कर राम-कृष्णको पुकार।' (२४। २)

× × ×

'एक नामका ही तत्त्व मनसे दृढ़ धर ले। हरि तुझपर करुणा करेंगे।' (२६। १)

''राम-कृष्ण-गोविन्द' नाम सरल है। गद्गद होकर वाणीसे इसका पहले जप कर।' (२६।२)

'नामसे बढ़कर कोई तत्त्व नहीं है। व्यर्थ और रास्तोंमें मत भटक।' (२६। ३)

× × ×

'हरिके बिना यह सारा संसार झूठा व्यवहार है—व्यर्थका आना-जाना है।' (२७। २)

'नाम-मन्त्र-जपसे कोटि पाप नष्ट होगा। 'कृष्ण' नामका संकल्प पकड़े रह।' (२७। ३)

'निवृत्तिदेवका ज्ञान ज्ञानदेवका प्रमाण है। यह हरिपाठ समाधि-सञ्जीवन है।' (२७। ६)

हरि-पाठमें इस प्रकार 'राम-कृष्ण-हरी' अथवा और किसी भगवन्नामका अहर्निश उच्चारण करना ही सर्वश्रेष्ठ साधन बताया गया है और ज्ञानेश्वर महाराज बतलाते हैं कि इसी साधनके द्वारा मेरे पूर्वजोंको वैकुण्ठमार्ग मिला तथा मैं भी कृतकृत्य हुआ। एकनाथ, तुकाराम आदि सन्तोंने भी सबके लिये सब समय

भगवत्प्राप्तिका सुलभ और श्रेयस्कर तथा मुख्य साधन भगवन्नाम-स्मरणको ही बताया है। विगत एक सहस्र वर्षमें भारतवर्षमें जो-जो महात्मा हुए उन्होंने 'राम-कृष्ण-हरी' का ही प्रकट मन्त्र सबको दिया है, हरिपाठकी सत्ताईस अभंगोंकी यह मराठी पोथी नाम-प्रतिपादक छोटी-सी श्रुति ही कही जाने योग्य है। ज्ञानेश्वर महाराजने नामस्मरणका यह राजमार्ग दिखाकर श्रीविट्ठल अर्थात् श्रीकृष्णकी उपासना लोगोंको सिखायी। ज्ञानेश्वरी और अमृतानुभवमें सहज स्वभावसे प्रकट किया हुआ ब्रह्मज्ञान जिन ज्ञानेश्वर महाराजको प्राप्त था अथवा स्वयं ही जो ब्रह्मरूप थे वह सगुण ध्यानके गीत गाते हुए, कन्धेपर पताका रखे, हाथमें करताल लिये 'जय जय राम-कृष्ण-हरी' इस नाममन्त्रका जयघोष करते, वारकरी भक्तोंके मेलेके साथ गाते, नाचते पण्ढरीकी यात्रा करते और वहाँ कीर्तन-सुखसे सहस्रों श्रोताओंको सुखी कर भक्ति-मार्गमें प्रवृत्त करते थे। यह देखकर उनकी भूतदया धन्य-धन्य मालूम होती है।

तुज सगुण म्हणों कीं निर्गुण रे।
सगुण निर्गुण एक गोविन्द रे॥

इस अभंगमें उन्होंने सगुण-निर्गुण, स्थूल-सूक्ष्म, दृश्यादृश्य, व्यक्ताव्यक्त, साकार-निराकार सब कुछ 'एक गोविन्द' ही कहा है। ज्ञानी-अज्ञानी सबको साथ लेकर चलनेवाले महात्मा एकाङ्गी नहीं होते। सगुण उपासना छोटे-बड़े सबके लिये अत्यावश्यक है और वह मोक्षतक पहुँचानेवाली है; इसलिये उन्होंने 'सगुण-निर्गुण समान' कहकर निर्गुणवादियोंसे यह प्रश्न किया है कि क्या केवल सगुणोपासनासे ही परब्रह्मकी प्राप्ति नहीं होती? अर्थात् होती है।

महाराजके स्फुट अभंगोंमें कुछ निर्गुणपर हैं और कुछ सगुणपर; कुछमें योगके संकेत हैं और कुछ थोड़े अभंग कूटात्मक हैं। तथापि अधिक अभंग श्रीकृष्ण-प्रेमसे ओत-प्रोत हैं और सगुण-भक्ति बढ़ानेवाले हैं।

'रूप पाहतां लोचनीं। सुख झालें वो साजणी।
तो हा विट्ठल बरवा। तो हा माधव बरवा॥'

महाराजके इस मधुर अभंगसे वारकरियोंके कीर्तन आरम्भ हुआ करते हैं। ज्ञानेश्वर महाराजका *'रूप पाहतां लोचनीं'* आरम्भमें और तुकोबाराय (तुकाराम) का *'हेंचि दान देगा देवा'* अभंग अन्तमें प्रत्येक निरूपणात्मक कीर्तनमें रहता ही है। अब महाराजके स्फुट अभंगोंमें देखें कि उनकी मुख्य शिक्षा और उनका श्रीकृष्ण-प्रेम कैसे भरा हुआ है।

पण्ढरी और विट्ठल-महिमा

यह (पण्ढरपुर) आजकलका नहीं है, अट्ठाईस युगोंसे है। मेरा तो सच-सच यही निश्चय होता है कि यह मृत्युलोक ही नहीं है।

यही निश्चय मान ले, अन्य बातोंका विचार छोड़ दे। यदि तू परात्परको देखता है तो भी पण्ढरीमें जरूर जा।

× × ×

श्रुति जिनकी स्तुति करती है, पुराण जिनका कीर्तन करते हैं वह स्वयं मेघश्याम यहाँ खड़े हैं।

× × ×

कटिपर हाथ रखकर लोगोंको संकेत करते हैं कि भवजलाब्धिका अन्त यहींतक है ।

पण्ढरीके राणा समचरण खड़े हैं । वे ही दुर्लभ चरण जन-मनको प्रिय हैं ।

× × ×

पताकाएँ फहरा रही हैं, ताल-मृदङ्ग बज रहे हैं, भद्रलोग आनन्द और प्रेमसे विट्ठल नाम गरज रहे हैं ।

सतत साँवरी कृष्णमूर्ति उनके हृदय-कमलमें खेल रही है । शान्ति-क्षमा उनके पीछे-पीछे बड़े प्रेमसे चल रही हैं ।

ये विट्ठलरायके सर्वाङ्ग प्रेमी वीर हैं, इन्होंने ही अपने पिता रुक्मिणीदेविवरको पाया ।

× × ×

निरन्तर हरिका ध्यान करनेसे सब कर्मोंके बन्धन कट जाते हैं । राम-कृष्ण नाम उच्चारणसे सब दोष दिगन्तमें भाग जाते हैं ।

× × ×

हे गोपाल ! हे हरि ! जगत्रयजीवन ! यह मन तेरे ही ध्यानमें लग जाय, एक क्षण भी खाली न जाय ।

आज सोनेका दिन देखा जो नाम लेते ही रूप प्रकट हो गया ।

तन-मन तेरे ही चरणोंमें शरणालंकृत किये हैं । रुक्मिणी-देविवर मेरे बाप हैं, मैं और कुछ नहीं जानता ।

× × ×

हरि आलारे हरि आला रे। सन्तसंगें ब्रह्मानन्दु झाला रे ॥ध्रु०॥
हरि येथें रे हरि तेथें रे। हरि वांचुनि न दिसे रितें रे ॥२॥
हरि पाहि रे हरि ध्याई रे। हरि वांचुनि दुजे नाहीं रे ॥३॥
हरि वाचे रे हरि नाचे रे। हरि पाहतां आनन्दु सांचे रे ॥४॥
हरि आदी रे हरि अन्ती रे। हरि व्यापक सर्वांभूतीं रे ॥५॥
हरि जाणा रे हरि वाना रे। बाप रखुमादेवीवर राणा रे ॥६॥

उक्त अभंगोंका हिन्दी-अनुवाद—

'हरि आया, हरि आया; सन्त-सङ्गसे ब्रह्मानन्द हो गया ॥१॥ हरि यहाँ है, हरि वहाँ है; हरिसे कुछ भी खाली नहीं है ॥२॥ हरि देखता है, हरि ध्याता है; हरि बिना और कुछ नहीं है ॥ ३ ॥ हरि पढ़ता है, हरि नाचता है; हरि देखते सच्चा आनन्द है ॥ ४ ॥ हरि आदिमें है, हरि अन्तमें है; हरि सब भूतोंमें व्यापक है ॥ ५ ॥ हरिको जानो, हरिको बखानो; रुक्मिणीदेविवर राणा बाप हैं' ॥ ६ ॥

× × ×

(१) 'आवड़े ते करिसी देवा। कवण करी तुझा हेवा रे ॥'

'अर्थात् तुम जो चाहते हो, करते हो, तुमसे ईर्षा कौन करे ?'

(२) ॐ नमो भगवते वासुदेवाय;

इत्यादि अनेक उत्तम अभंग हैं जिनका परिचय कहाँतक दिया जाय।
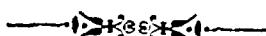
स्तुति-सुमनाञ्जलि

(१) नामदेव—

तीनों देवता जैसे परब्रह्ममें ढले हों, जगत्‌में सूर्य जैसे प्रकट हुए। धन्य हैं वे निवृत्तिनाथ, धन्य हैं वे सोपानदेव, धन्य हैं वे निधान ज्ञानदेव। यह सहजसिद्ध ज्ञानी हैं, यह जानकर चाङ्गदेव इनके चरणोंपर आ गिरे। प्रत्यक्ष पैठणमें भट्टोंने वाद किया तो इन्होंने भैंसेके मुखसे वेदमन्त्र कहलवाये। सोऽहं सुकृतकी ग्रन्थियाँ छुड़ाकर इन्होंने मराठी गीतादेवी निर्माण की। नामदेव कहते हैं, एक बार अलङ्कापुर जाओ और पुण्य-लाभ करो।

(२) जनाबाई—

सदाशिवके अवतार मेरे स्वामी श्रीनिवृत्तिनाथ, महाविष्णुके अवतार मेरे सखा ज्ञानेश्वर और ब्रह्माके अवतार श्रीसोपानदेव हुए और इन्होंने भक्तोंपर आनन्दकी वर्षा की। आदिशक्ति हुई मुक्ताबाई जिनके चरणोंमें यह जनादासी मस्तक नवाती है।

(३) सेना नाई—

अलंकापुरवासिनी ज्ञानबाई माई ! इस बच्चेपर दया करो, इसे सँभालो। मैं तो हीन जातिका हूँ, आप ही मेरा अभिमान रखो, यह विनती करके मैं आपके चरणोंमें गिरता हूँ।

मेरे सखा ज्ञानेश्वर विष्णुके अवतार हैं, चलो चलें अलङ्कापुर जो सन्तजनोंका घर है। इन्द्रायणीमें स्नान करनेसे मुक्ति चरणोंमें लिपटती है। सेना ज्ञानेश्वरके चरणोंमें लोटने आया है।

वह भूमि धन्य है, वे प्राणी धन्य हैं जो ज्ञानदेवको देखते हैं। धन्य हैं वे भाग्यवान् जो अलंकापुर जाते हैं, उनका वंश भी धन्य है। धन्य है अलंकापुरका दासानुदास, सेना नाई उसका रजःकण है।

जिसके आँगनमें सोनेका पीपल है, जहाँ सिद्ध-साधकोंका मेला है, उसके स्मरणसे पाप नष्ट हो जाते हैं। सेना कहता है कि यह स्वयं श्रीपण्ढरीनाथ बतलाते हैं।

(४) नरहरि सोनार—

निवृत्ति, सोपान, मुक्ताईके साथ ज्ञानदेवके चरणोंमें मेरा भाव है।

(५) श्रीएकनाथ महाराज—

इस भूमिपर विश्रान्तिका स्थान, सन्तोंका घर अलङ्कापुर है। मेरे जीका सञ्चित धन वहाँ है। वहाँ जाकर मैं ज्ञानदेवको नमन करूँगा। वहाँ सिद्धेश्वरका स्थान है जिनके दर्शनमें मुक्ति

है, वटेश्वर हैं जिनके दर्शन ब्रह्मज्ञान कराते हैं। चौरासी सिद्धोंका वहाँ सिद्धमिलन होकर प्रत्यक्ष कल्पवृक्ष स्थापित हुआ है। सामने अमृतमय इन्द्रायणी वहती हैं, भागीरथी आदिके साथ तीर्थराज विद्यमान है। ऐसे स्थानमें ज्ञानदेवकी समाधि है। एकाजनार्दनके लिये ठिकाना है अलङ्कापुर।

कैवल्यकी मूर्ति, चैतन्यके हृदय मेरे ज्ञानदेव भूतलपर प्रकट हुए। मेरे ज्ञानदेव ज्ञानियोंके शिरोमणि हैं। उन्होंने जड भींतको चलाया, चाङ्गदेवकी भ्रान्ति हरण की, वह मेरे मोक्ष-मार्गके साथी हैं।

ज्ञानाबाई मेरी अनाथोंकी माता है। एकाजनार्दन उसके चरणवन्दन करता है।

हे श्रेष्ठ मूर्ति ज्ञानदेव! मेरी एक विनती सुनिये। मेरे अन्दर बैठकर मुझे जगा दीजिये। अन्दर सत्ताधारी होकर बाहर प्रपञ्च करिये। हे श्रेष्ठ ज्ञानदेव! एकाजनार्दनमें आइये।

(६) श्रीतुकाराम महाराज—

हे ज्ञानियोंके गुरु, राजाओंके महाराज! आपको ज्ञानदेव कहते हैं। इस महत्ताको मैं पामर क्या समझूँ? पैरोंकी जूती पैरोंमें ही रहना ठीक है। ब्रह्मादिक भी जब आपपर बलि जाते हैं तब दूसरे आपके साथ तुलना करनेमें कितना ठहरेंगे? तुका कहता है कि मैं युक्ति (योग) का घर नहीं जानता, इसलिये चरणोंपर मस्तक रखता हूँ।

बच्चे हैं, टेढ़ी-मेढ़ी बात कहते हैं। महाराज! आप सिद्ध हैं, अपराध क्षमा करें। महाराज! मैंने अपना अधिकार नहीं विचारा। प्रभो! इस दासको अपने चरणोंमें रखिये।

(७) निलोबाराय—

पण्ढरपुरमें और ज्ञानेस्वरमें मुक्ति दासत्व करती हैं। वहाँ भगवान् हैं, यहाँ भक्त हैं; दोनोंकी महिमा अद्भुत है। वहाँ ध्यान है, यहाँ ज्ञान है; दोनों जगह परलोकका साधन है। निला कहता है—वहाँ गरुड है, यहाँ अजान वृक्ष है।

आलन्दीकी यात्रा करने जो आते हैं वे पण्ढरीनाथके प्रिय होते हैं। पाण्डुरङ्गने प्रसन्न होकर ज्ञानको यह दान किया है। पण्ढरपुर भू-वैकुण्ठ है, उससे भी अधिक इसकी महिमा है। निला कहे, यह जानकर सन्त प्रतिवर्ष यहाँ दौड़े आते हैं।

नमो ज्ञानेश्वर, नमो ज्ञानेश्वर, नमो निवृत्ति उदार सोपान-देव। नमो मुक्ताबाई त्रिभुवनपावनी, अद्वैतजननी देवताओंकी! जगदुद्धारके लिये आपने अवतार धारण किया और सिद्धाईकी महिमा प्रकट की। निला आपके शरणागत है, इसे अपना कहिये; सन्तोंने इसे आपके हाथोंमें आपको समर्पित किया है।

(८) कान्हू पात्रा—

कान्हू पात्रा! आज तेरा भाग्य धन्य हुआ जो ज्ञानदेवकी भेंट हो गयी!

(९) शिवदिन केसरी—

निष्ठाभावसे जो व्यापक है, सबका अन्तर्यामी है, जिसके पावन निजनामसे पापी तर जाते हैं, चित्तमें जिसका ध्यान करनेसे चिन्तन उन्मन-सुखसिन्धुको प्राप्त होता है उस दीनबन्धु ज्ञानेश्वर सद्गुरुको वन्दन करो ।

(१०) भोलानाथ—

गीतामृत पान कराकर जिसने सबको जिला दिया उसका नाम श्रीज्ञानेश्वर है । उसका लावण्य शान्तरस, अद्भुतरूप ऐसा है कि देखते हुए नेत्र पागल हो जाते हैं ।

(११) निरञ्जनमाधव—

जिन्होंने भगवद्गीता-शास्त्रकी टीका की और सुजनोंकी माया-भ्रान्ति नष्ट कर दी उन मोक्षके दाता सद्‌गुरुनाथ ज्ञानेश्वरको उघरे नेत्रोंसे देखो और चित्तसे उनका चिन्तन करो । जिसके द्वारपर सुवर्णका अश्वत्थ वृक्ष सुशोभित हो रहा है, जिसके ग्राममें पुण्यका डङ्का बज रहा है, जिसको गाते हुए प्राणी वैकुण्ठ-में जाते हैं उन सद्‌गुरुनाथ ज्ञानेश्वरमें चित्त लगाओ । जहाँ इन्द्रायणी शुभ गङ्गा वहतीं और स्नान-पानसे पाप-पर्वतको भङ्ग करती हैं, जो केवल दीन और अनाथ हैं उन्हें जो तारते हैं उन सद्गुरुनाथ ज्ञानेश्वरमें चित्त लगाओ । जहाँ कामारि श्रीसिद्धेश्वर स्वयं विराजते हैं, जहाँ सुख और स्वच्छन्दतासे मोक्ष लूटते बनता है, जहाँ राह चलते दर्शन कर लेनेसे भी पुण्य मिलता है उन

सद्‌गुरुनाथ ज्ञानेश्वरमें चित्त लगाओ। जिसकी टीका पढ़कर कितने ज्ञानी हो गये, जिसने उन्हें वैकुण्ठमें श्रीधररूपमें स्थिर किया, ऐसी अद्भुत निजसत्ता जिन्होंने दिखायी उन सद्‌गुरुनाथ ज्ञानेश्वरमें चित्त लगाओ। काम, क्रोध, मोह, तमको जहाँ कोई सहारा नहीं मिलता उस सुखसारस्वरूप गीताको पढ़ो और बोधानन्दसे झूमते हुए सुखपन्थपर चलो; सद्‌गुरुनाथ ज्ञानेश्वरमें चित्त लगाओ। निवृत्तिनाथ जिन्हें ज्ञान सरल करके बतलाते हैं और जो उस ज्ञानसे लोगोंके पाप हर लेते हैं, जिनका ध्यान करनेसे मेरे चित्तमें प्रेम भर जाता है उन सद्‌गुरुनाथ ज्ञानेश्वरका चित्तसे चिन्तन करो।

(१२) रङ्गनाथस्वामी—

'ज्ञानदेव' 'ज्ञानदेव' कहते-कहते देव ज्ञान देते हैं; जो मुखसे इस नामका अखण्ड जप करता है वह वासुदेव हो जाता है। 'ज्ञानदेव' इस चतुराक्षर मन्त्रका जप करनेसे वह सर्वज्ञ होता है, उसे ज्ञानाज्ञानविरहित ब्रह्मकी संज्ञा है। वह निजाङ्गसे ज्ञाता होता है यह उसकी प्रतिज्ञा है, ज्ञानाग्निसे पाप भस्म हो जाते हैं यह उसकी आज्ञा है। यह नररूपसे भगवान् श्रीविष्णु ही अवतरित हुए.......सद्‌भावसे इन्हें वन्दन करके इनका नाम जपनेसे विज्ञान उदय होता है। इन देवाधिदेवका भगवद्भक्तोंको वरदान है जिससे ब्रह्माण्डमें ब्रह्मानन्द भर जाता है; वह राजाधिराज दयानिधि अलंकापुरमें विराजते हैं और देश-भाषामें ज्ञानदेवी गीता कहते हैं।

(१३) मध्वमुनीश्वर—

वेद-पुराणोंमें शुकसनकादिक जिसकी महिमा वर्णन करते हैं, गोकुलमें ग्वाल बनकर जो गौएँ चराता है, अर्जुनका सारथी बनकर घोड़ोंको जो पानी पिलाता है वही यह सद्गुरु ज्ञानेश्वर हरि है जो स्मरण करनेवाले प्राणीको तारता है।····कार्तिक-मासमें पण्ढरपुरपति जिसकी समाधिको वन्दन करते हैं उन ज्ञानेश्वरके नामका जो सतत जप करता है उसके हृदयमें भगवान् लक्ष्मी-सहित नाचते हैं।

(१४) मोरोपन्त—

श्रीविष्णुके समान क्या ज्ञानदेव वेगसे जीवोंको नहीं तारते ? यह गानसे वह चीज देते हैं जो स्वर्गके जनक यज्ञसे नहीं देते बनती ॥ १ ॥ इसलिये इन स्तवनार्हका स्तवन करता हूँ,····यथा-बुद्धि भाव-भक्तिपूर्वक स्तवन करनेसे यह ज्ञानेश्वर विष्णु मनः-शुद्धि देते हैं ॥ २ ॥ हे ज्ञानेश ! भगवन् ! भगवज्जनवल्लभ ! महासदय ! इस कलियुगवर्ती जनको तुम स्मरणमात्रसे ही मुक्तिका पद देते हो ॥ ३ ॥ किस जडके लिये तुम सुगति देनेवाले न होगे जब तुमने भींतको भी गति दी ? सज्जनसमाज तुम्हारा श्रीरामचन्द्र-जैसा यश गाता है ॥ ४ ॥ जगको तारनेके लिये तुमने श्रीमद्भगवद्गीता-व्याख्या की, संसारताप सारनेके लिये सुजन इस सद्ग्रन्थका सार सेवन करते हैं ॥ ५ ॥ श्रीहरिहरकीर्ति-जैसी ही तुम्हारी ये ओवियाँ विश्वासप्रिय हैं; वेदव्यास भी प्रायः कहते हैं कि मुझे ये श्रुति-सी ही लगती हैं ॥ ६ ॥ हे ज्ञानेश ! तुम्हारी कृतिको सभी ज्ञाता प्रणाम करते हैं और कहते हैं कि ज्ञानेश्वरी

महामोह-महिषासुर-मर्दिनी भवानी है ॥ ७ ॥ शंकर निवृत्ति हैं, हरि ! तुम ज्ञानेश हो, ब्रह्मदेव सोपान हैं, विद्या मुक्ता हैं; तुम्हारी कीर्ति-सुधाका सदा हम पान करते रहें ॥ ८ ॥ हे गीते ! तुम्हारी ही शुचि, कीर्ति, सुमति ज्ञानेश्वरीप्रिया आयी और विश्वविख्यात हुई, इससे बहुतोंका काम बना ॥ ९ ॥ हे भगवती ! तुम्हें जिधर जो कोई ले जाता है उधर तुम जाती हो, अपना बहुमत तुझे अच्छा लगता है; जो जन ज्ञानेश्वरीका अनुसरण करते हैं उन्हें तुम मुक्त करती हो ॥१०॥ तुमने अनेक जड जीवोंका उद्धार किया; हे प्रकट ज्ञानेश्वर ! दयानिधान ! इस मोरको भी उबारो, इस लोहेसे तुम पारसमें कोई हीनता नहीं आवेगी ॥११॥

(१५) श्रीधरस्वामी—

गीता पदक है, उसमें ज्ञानेश्वरने हीरे जडे हैं।''''जो ज्ञानेश्वर सो ही कृष्णनाथ हैं। उन्हीं ज्ञानेश्वरने गीताका अर्थ बताया है। इसकी जो निन्दा करे उसे सचमुच ही मन्दमति समझना चाहिये।

(१६) मुक्तेश्वर—

प्राकृत कवीश्वराचार्य ज्ञानैकवर्य ज्ञानदेवकी बुद्धिका गाम्भीर्य अगाध सिन्धुके समान है। मनमें उन्हींके चरणोंका चिन्तन किया, इससे मैं पावन हो गया।

(१७) विठोबा अण्णा कन्हाडकर—

यद्विलासवशादात्मवस्तु नैव प्रकाशते ।
अलन्दीपो विनाशाय तमसस्तस्य केवलम् ॥

आरती

(१)

आरती ज्ञानराजा। महाकैवल्यतेजा।
सेविती साधुसन्त। मनु वेधला माझा ॥आ०॥ध्रु०॥
लोपलें ज्ञान जगीं। हित नेणती कोणी।
अवतार पाण्डुरंग। नाम ठेविलें ज्ञानी ॥आ०॥ १ ॥
प्रगट गुह्य बोले। विश्व ब्रह्मचि ठेलें।
रामाजनार्दनीं। पायीं टकचि ठेलें ॥आ०॥ २ ॥

[आरती श्रीज्ञानराजकी जो महाकैवल्यतेज हैं, साधु-सन्त जिनकी सेवा करते हैं और जिन्होंने मेरा मन खींच लिया। संसार-से ज्ञान लुप्त हुआ था, कोई अपना हित नहीं जानता था। (तब) पाण्डुरङ्गने अवतार लिया, नाम रखा ज्ञानी (ज्ञानदेव) ॥ १ ॥ उनकी प्रकट गूढ़ वाणीसे विश्व ब्रह्म ही होकर रहा और 'रामा जनार्दन' उनके चरणोंमें स्थिर हो गये ॥ २ ॥]

(२)

होतां कृपा तुमची पशु बोले वेद।
निर्जिव चाले भिंती महिमा अगाध।
भगवद्गीताटीका ज्ञानेश्वरी शुद्ध।
करूनि भाविकलोकां केला निजबोध ॥ १ ॥

जय देव जय देव जय ज्ञानसिन्धु।
नामस्मरणें तुमच्या तुटे भवबन्धु ॥जय०॥ ध्रु०॥

चैदाशें वर्षांचे तप्तीतीरवासी।
येउनि चांगदेव लागले चरणांशीं।
करूनि कृपा देवें अनुग्रहिलें त्यासी।
देउनि आत्मज्ञान केलें सहवासी ॥ २ ॥

समाधिसमयीं सकल सन्तसमुदाव।
घेउनि सुरवर आले श्रीपण्ढरिराव।
द्वारीं अजानवृक्ष सुवर्णपिंपलासमाव।
जाणुनि महिमा निला मागे चरणातलिं ठाव॥ ३ ॥

[आपकी कृपा होनेसे पशु वेद बोलते हैं, जड भींत चलती है, ऐसी आपकी अगाध महिमा है। भगवद्गीताकी शुद्ध ज्ञानेश्वरी टीका करके आपने भक्तोंको आत्मबोध करा दिया ॥ १ ॥ जय देव जय देव जय ज्ञानसिन्धु, आपके नाम स्मरणसे भवबन्ध टूट जाता है। चौदहसौ वर्षके तापीतीरवासी चाङ्गदेव आपके चरणोंमें आ लगे। आपने कृपा करके उन्हें अनुगृहीत किया, आत्मज्ञान देकर अपने साथ रखा ॥ २ ॥ समाधिके अवसरपर सकल सन्तसमुदायको साथ लिये सुरवर श्रीपण्ढरिनाथ आये। आपके समाधि-द्वारपर सोनेके पीपलके समान अजानवृक्ष है। आपकी महिमा जानकर निला अपने लिये आपके चरणतले ठाँव माँगता है ॥ ३ ॥]

(३)

जय देव जय देव जय ज्ञानदेवा।
विष्णूचा अवतार देई पदसेवा ॥ जय० ॥ ध्रु०॥

वालपणीं दाखविलें अगाध महिमान।
रेड्यावदनीं वेद वोलविला जेणें।
मातीची जड भिंत चालविली कोणें?।
ऐसें दाविति सुजना अद्भुत चिन्दाण॥ १॥
तुझिया करिंची काठी अजानतरु झाली।
देखत लोकां देते ज्ञान महावल्ली।
ऐसीं अपूर्व चरितें जे लोकीं केलीं।
तरती पतीत पामर परिसुनी तात्कालीं॥ २॥
भगवद्गीताटीका ज्ञानाची नौका।
भवसागरतारणिं त्वां केली अकलंका।
वैकुण्ठाचे पीठीं वैसविते लोकां।
म्हणोनि माधवनन्दन वन्दी पदपंका॥ ३॥

[जय देव जय देव जय ज्ञानदेव! विष्णुके अवतार अपने चरणोंकी सेवा मुझे दो। बचपनमें ही आपने अपनी अगाध महिमा दिखा दी। भैंसेके मुँहसे वेद कहल्वाया, मिट्टीकी जड भींत चला दी। सुजनोंको आपने अपने अलौकिक दर्शन दिये॥ १॥ आपके हाथकी छड़ी अजानवृक्ष वनी जो महावल्ली देखते ही लोगोंको ज्ञान-दान करती है। इस लोकमें आपने ऐसे अपूर्व चरित किये कि पतित-पामर तत्काल ही तर जाते हैं॥ २॥ भवसागरसे तारनेके लिये आपने अकलङ्क ज्ञानकी नौकारूप भगवद्गीताटीका की। वह वैकुण्ठ-पीठपर ले जाकर वैठाती है, इसलिये 'माधवनन्दन' आपके पाद-पद्म वन्दन करता है।]

वर-प्रार्थना

अब विश्वात्मक भगवान् इस वाग्यज्ञसे प्रसन्न हों और प्रसन्न होकर मुझे यह प्रसाद दें ॥ १ ॥

खलोंकी वक्रदृष्टि न रहे, सत्कर्ममें उनकी रति बढ़े, सब प्राणियोंमें परस्पर हार्दिक मैत्री स्थापित हो ॥ २ ॥

अधर्मका अन्धकार दूर हो, विश्व स्वधर्म-सूर्यको देखे, जिसकी जो कामना हो वह पूर्ण हो ॥ ३ ॥

सबकी सदा मङ्गलकामना करनेवाले भगवद्भक्तोंके समुदाय भूतलपर भूतोंसे सदा मिलते रहें ॥ ४ ॥

जो चलते हुए कल्पवृक्षांकुर हैं, जीवित चिन्तामणिके ग्राम हैं, बोलते हुए अमृतार्णव हैं ॥ ५ ॥

जो अलाञ्छन चन्द्र हैं, तापहीन मार्तण्ड हैं, ऐसे सन्त-सज्जन सदा सबके आप्त हों ॥ ६ ॥

और क्या कहें, तीनों लोक सब सुखोंसे सब समय उस आदिपुरुषका अखण्ड भजन करें ॥ ७ ॥

(ज्ञानेश्वरी अ० १८ । १७९४–१८००)

॥ ॐ तत् सत् श्रीकृष्णार्पणमस्तु ॥